अमर-वाणी



श्री श्री आनन्दमयी माँ

अमर-वाणी

श्री श्री माँ आनन्दमयी के उपदेश



व्याख्याकार

म. म. डॉ. गोपीनाथ कविराज

एम्. ए., डी. लिट्.



प्रकाशक

श्री श्री आनन्दमयी संघ

कनखल, हरिद्वार

प्रकाशक
श्री श्री आनन्दमयी संघ
कनखल, हरिद्वार

प्रथम संस्करण, जून, १९६८
द्वितीय संस्करण, १९८२
तृतीय संस्करण, २०१४

मूल्य : **एक सौ पचास रुपये मात्र**

मुद्रक :
दि महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी

Dedicated at the feet
of
Shree Shree Ma Anandamayee
in memory of a very staunch devotee
and renowned philanthropist
Lokumal Kishinchand Chellaram
by
Lokumal Kishinchand Charity Trust

प्रकाशक
श्री श्री आनन्दमयी संघ
कनखल, हरिद्वार

भूमिका

प्रायः पन्द्रह वर्ष पहले अर्थात् सन् १९५३ ई० में परमाराध्यतमा श्री श्री माता आनन्दमयी के जन्मोत्सव के समय श्री श्री माताजी के विभिन्न भक्तों के निकट विभिन्न स्थान और समय में दिए हुए उपदेशों के प्रकाशन का प्रस्ताव हुआ था। इस प्रकार के बहुसंख्यक उपदेश ब्रह्मचारी श्रीविरजानन्दजी के निकट यत्न पूर्वक संरक्षित थे। जिज्ञासु भक्तों के विभिन्न प्रकार के संशयों के समाधान के लिए विभिन्न स्थान और समय में ये सब उपदेश दिए गए थे। यह वाणी वास्तव में मातृभक्तों के निकट महावाक्य के सदृश गुरुत्वसम्पन्न है। यद्यपि माँ ने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है, फिर भी उनके श्रीमुख का उपदेश वस्तुतः शास्त्र का ही निगूढ़ सिद्धान्त है। इसलिए ये सब वाणियाँ महावाक्यों के सदृश परम आप्तवचन हैं। इन वाणियों का संकलन यथाप्राप्त रूप में ही हुआ था। माँ की अपनी भाषा यथा-सम्भव अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया गया है। ब्र० श्रीविरजानन्दजी ने अधिकांश समय माताजी के सान्निध्य में रहने का सौभाग्य पाया है। १९४५ ई० से उन्होंने ऐसा क्रम रखा था कि जब भी अवसर मिले तब अन्यान्य कर्मों से अपने को मुक्त करके माँ के उपदेशों का संकलन करते थे। उपदेश के समय यदि वे उपस्थित रहते तो कभी इस काम में चूकते नहीं थे। उनका नियम यह था कि माँ की वाणी जैसे-जैसे माँ के मुख से निकलती थी, ठीक उसी प्रकार यथासम्भव परि-वर्तनहीन अवस्था में वे उसे लिपिबद्ध करते थे। श्री श्री माँ के सब उपदेशों का संग्रह करना तो असम्भव है, फिर भी कुछ अंश का संग्रह ब्रह्मचारीजी ने अवश्य किया है। इस प्रशस्य उद्यम के लिए वे सभी मातृभक्तों के धन्यवाद के पात्र हैं।

यद्यपि माँ के श्रीमुख की वाणी स्वभावतः अत्यन्त सरल और सहज भाषा में निबद्ध है, फिर भी कोई-कोई स्थान उसमें अत्यन्त दुरवगाह प्रतीत होता है। इन सब स्थलों पर साधारण पाठकों की बुद्धि स्तम्भित हो जाती है। माँ का उत्तर सर्वत्र ही शास्त्रानुयायी होता है, परन्तु माँ का कोई व्यक्तिगत दृष्टिकोण न रहने के कारण जो कुछ नित्य सत्य है उसी का व्याख्यान उनके मुख से निकलता है। परन्तु श्रोता के अधिकारानुसार उपदेश में विशेष दृष्टिकोण का प्रश्न उठता है।

प्राचीन समय में बुद्धदेव अथवा उनके समकक्ष जगद्गुरुओं की उपदेशवाणी श्रोता के अधिकार के अनुसार रहती थी। 'बोधिचित विवरण' नामक महायान-सम्प्रदाय के ग्रन्थ में लिखा गया है—

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा

अर्थात् जगद्गुरु महापुरुषों का उपदेश श्रोताओं की योग्यता तथा अधिकार के अनुसार रहता है। साधारण दृष्टि से उपदेशदान दो प्रकार से हो सकता है—एक तो उपदेष्टा महात्मा के अपने अनुभव अथवा दृष्टि के अनुसार और दूसरा उपदेष्टा का अपना कोई दृष्टिकोण न रहने के कारण श्रोताओं के दृष्टिकोण के अनुसार। जहाँ पूर्ण प्रकाश अखण्ड रूप से देदीप्यमान है वहाँ अपने दृष्टिकोण का प्रश्न उठ ही नहीं सकता, क्योंकि वहाँ व्यक्तित्व न रहने के कारण अपनी पृथक् दृष्टि रहती नहीं। जिज्ञासु भक्त की जो दृष्टि है वही उपदेश-कर्म में उपदेष्टा की दृष्टि हो जाती है। इसलिए द्वैत दृष्टि के सम्मुख उनका समाधान द्वैतभावापन्न एवं अद्वैत-दृष्टि के सम्मुख अद्वैतभावापन्न प्रतीत होगा। वास्तव में दोनों ही सत्य हैं, क्योंकि श्रोता के संस्कार और आध्यात्मिक स्थिति उपदेष्टा को प्रभावित करती है। उपदेष्टा उसी का अनुसरण करते हुए उपदेश-दान करते हैं। वस्तुतः व्यक्तिगत दृष्टिकोणहीन महापुरुषों की यही रीति है। और एक बात है, शास्त्र में विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों का उल्लेख तथा विवरण मिलता है। इन विवरणों में कहीं-कहीं आपात दृष्टि से विरोध भी प्रतीत होता है। तदनुसार किसी प्रश्न का समाधान दृष्टिकोण के भेद से भिन्न होना स्वाभाविक है। माताजी का वैयक्तिक दृष्टिकोण न रहने के कारण उनके लिए सभी दृष्टिकोण उपादेय हैं। यह वैशिष्ट्य उपदेश आलोचना करने के समय स्मरण रखना चाहिए।

श्री विरजानन्दजी के अध्यवसाय से माँ की जिस वाणी का संग्रह हुआ है उसमें से कुछ अंश, माँ के आश्रम से प्रकाशित 'आनन्दवार्ता' नामक पत्रिका में मई १९५३ से लेकर नवम्बर १९५९ तक धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। पहले ही कहा गया है कि माँ की भाषा में यथासम्भव परिवर्तन नहीं किया गया है। साथ ही यह भी सत्य है कि विषय के गाम्भीर्य के कारण किसी-किसी स्थल में श्रोता की दृष्टि से क्लिष्ट भाव का उदय हो गया है। मैंने ब्रह्मचारी जी के अनुरोध से मातृभक्त जिज्ञासु लोगों के लिए इस उपदेश-वाणी के प्रथमांश की व्याख्या करने का भार ग्रहण किया था और यही अंश व्याख्या सहित 'आनन्द-वार्ता' में प्रकाशित हुआ था।

'आनन्दवार्ता' में अमर-वाणी (मूल और व्याख्या) बंगला में प्रकाशित हुई थी, साथ ही उसका हिन्दी अनुवाद भी 'आनन्दवार्ता' के हिन्दी-अंग्रेजी संस्करण में निकलता रहा था। हिन्दी अनुवाद श्रीकृष्ण पन्तजी साहित्याचार्य ने किया था। अमरवाणी को पुस्तकाकार में प्रकाशित करने का विचार कुछ समय से चल रहा था। इसके सम्पादन का कार्य स्नेहभाजन आयुष्मती प्रेमलता शर्मा को

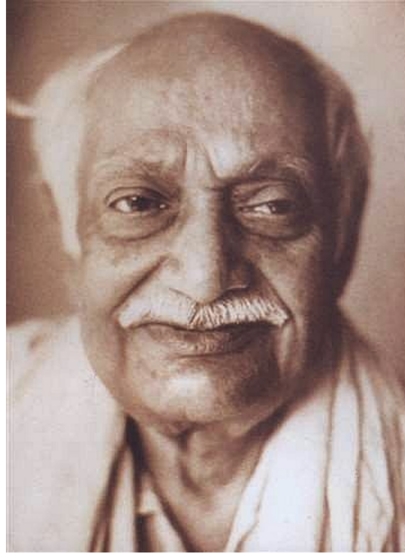
सौंपने की इच्छा मैंने व्यक्त की और उन्होंने सहर्ष, अपनी अनुजा आयुष्मती ऊर्मिला शर्मा के सहयोग से, इस कार्य-भार को वहन किया। इस श्रम के लिए ये दोनों मेरे आशीर्वाद की पात्री हैं।

माताजी की दृष्टि सर्वतोमुखी है। जिनका जितना अधिकार है उतना ही उसका महत्त्व अनुभव कर सकते हैं। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में माँ के अन्यान्य उपदेश भी 'अमर-वाणी' के रूप में व्याख्या-सहित प्रकाशित होंगे। इस व्याख्या में माँ का अभिप्राय यथासम्भव संक्षेप में देने का यत्न किया है। यदि कहीं भ्रान्ति हो गई हो तो उसके लिए क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

शुद्ध और सुन्दर मुद्रण के लिए महावीर प्रेस के संचालक श्री बाबूलाल जैन धन्यवाद-भाजन हैं।

२. ए, सिगरा, वाराणसी
९ जून १९६८

श्री गोपीनाथ कविराज



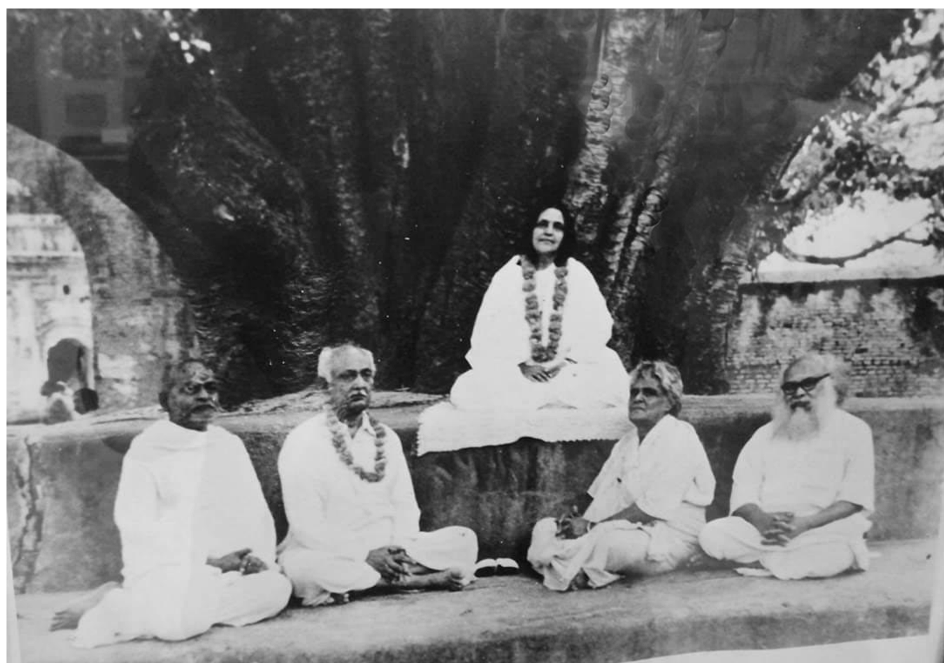
महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज (7 सितम्बर 1887 - 12 जून 1976) संस्कृ त के विद्वान और महान दाशर्निक थे। 1994 में पुस्तकालयाध्यक्ष से आरम्भ करते हुए वे 1923 से 1937 तक वाराणसी के शासकीय संस्कृ त महाविद्यालय के प्राचायर् रहे। इस कालावधि में वे सरस्वती भवन ग्रन्थमाला के सम्पादक भी रहे।

गोपीनाथ कविराज बंगाली थे और इनके पिताजी का नाम वैकु ण्ठनाथ बागची था। आपका जन्म ब्रिटिश भारत के ग्राम धमरई जिला ढाका (अब बांग्लादेश) मे हुआ था। उनका जन्म प्रतिष्ठित बागची घराने मे हुआ था और "**कविराज**" उनको सम्मान में कहा जाता था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा श्री मधुसूदन ओझा एवं शशिधर "**तक चूड़ामणि**" के निर्देशन में जयपुर मे प्रारंभ हुई।

महामहोपाध्याय पं॰ गोपीनाथ कविराज वतमानर् युग के विश्वविख्यात भारतीय प्राच्यविद् तथा मनीषी रहे हैं। इनकी ज् न-साधना का क्रम वतमानर् शताब्दी के प्रथम दशक से आरम्भ हुआ और प्रयाण-काल तक अबाधरूप से चलता रहा। इस दीघकालर् में उन्होंने प्राच्य तथा पाश्चात्य ज् न-विज् न की विशिष्ट चिन्तन पद्धतियों का गहन अनुशीलन कर, दशनर् और इतिहास के क्षेत्र में जो अंशदान किया है उससे मानव-संस्कृ ति तथा साधना की अंतर्धाराओं पर नवीन प्रकाश पड़ा है; नयी दृष्टि मिली है।

उन्नीसवीं शती के धार्मि क पुनर्जागरण और बीसवीं शती के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन से अनुप्राणित उनकी जीवन-गाथा में युगचेतना साकार हो उठी है। प्राचीनता के सम्पोषक एवं नवीनता के पुरस्कर्ता के रूप में कविराज महोदय का विराट् व्यक्तित्व संधिकाल की उन सम्पूणर् विशेषताओं से समन्वित है, जिनसे जातीय-जीवन प्रगति-पथ पर अग्रसर होने का सम्बल प्राप्त करता रहा है।

तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि के लिए उन्हें सन् १९६४ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार (संस्कृत) से सम्मानित किया गया। उसी वर्ष उन्हें भारत सरकार द्वारा दिया जाने वाला दूसरा सर्वोच्च नागरिक सम्मान **पद्म-विभूषण** से सम्मानित किया गया। 1971 में उन्हें भारत के राष्ट्रीय साहित्य अकादेमी द्वारा सर्वोच्च साहित्य सम्मान से सम्मानित किया गया था।



प. गोपीनाथ कविराज जी, श्री श्री माँ आनंदमयी जी के साथ, 1960, हरिद्वार



प्रणति-कुसुमाञ्जलि

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् १९५० से हूँ। पूज्यपाद "बाबू जी" (म. म. श्री गोपीनाथजी कविराज) के दर्शन का सौभाग्य सन् १९५१ में हुआ। तब से उनके कक्ष में श्री श्री माँ का चित्र बराबर दृष्टि-पथ में पड़ता रहा। उनका नाम काशी आने से पूर्व ही मथुरा में सुन चुकी थी। वृन्दावन में निर्मित उनका आश्रम ही नाम-श्रवण का उपलक्ष्य बना था। सन् १९५२ में गंगा के तीरवर्ती स्याद्वाद विद्यालय में संस्कृत वाद-विवाद-प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए अपनी सखी सुश्री तिलोत्तमा देसाई (अधुना सौभाग्यवती तिलोत्तमा जानी) के साथ गई थी। तब उस विद्यालय के मार्ग में श्री श्री माँ के आश्रम का 'दर्शन' अनायास हुआ था। सन् १९५३ में शिवरात्रि के पर्व पर मेरे माता-पिता, छोटी बहिन चि० ऊर्मिला को लेकर, मथुरा से काशी आए थे। तब उन लोगों के साथ माँ के आश्रम में प्रथम 'प्रवेश' हुआ। किन्तु अपार जन-समूह में माँ के दर्शन को तो असम्भव ही मान लिया था। सन् १९५६ में, श्री श्री माँ की षष्टि-पूर्ति के अवसर पर, माँ के अनन्य भक्त स्व० डा० श्री गोपाल प्रसाद दासगुप्त के अनुरोध से, हमारे संगीत-गुरु स्व० पं० ओंकारनाथजी ठाकुर के गायन का आश्रम में आयोजन हुआ था। उनके साथ छात्र-छात्राओं का जो समूह उस समय गया था, उसमें मैं भी सम्मिलित थी। प्राय: दो घण्टे तक माँ हम लोगों के सम्मुख बैठ कर संगीत सुनती रहीं। 'दर्शन' तो भरपूर हुआ, किन्तु प्राणों का आप्यायन नहीं हुआ। माँ से एक भी शब्द कहने-सुनने का अवसर कहाँ मिला ? संगीत-कार्य-क्रम समाप्त होने पर मन मार कर सबके साथ लौट आना पड़ा।

अगस्त, १९६७ में पूज्यपाद बाबूजी की प्रेरणा से आश्रम के श्री पानूदा डॉ० सुश्री पद्मा मिश्र के साथ मेरे विभाग में मिलने आये। उन्होंने बतलाया कि माँ की 'अमर वाणी' (मूल और व्याख्या) का जो हिन्दी अनुवाद 'आनन्द-वार्ता' में प्रकाशित हुआ था, उसे पुस्तकाकार में छापने की योजना है और उसके सम्पादन का कार्य मुझे सौंपने की इच्छा श्री कविराजजी ने प्रकट की है। उनकी इच्छा मेरे लिए आदेश थी। इसलिए अपने समस्त जगज्जंजालों की उपेक्षा करके तत्काल श्री पानूदा से कह दिया कि प्रकाशित सामग्री मेरे पास भिजवा दें। अगले ही दिन माँ अपनी वाणी के रूप में मेरे कमरे में पधार गईं। मन में हुआ—'यह भी खूब रही। जिनके 'दर्शन' 'श्रवण' के लिए आज तक ठीक-ठीक अवसर

नहीं मिला। वे 'अक्षर'—देह में स्वयं ही मेरे पास आकर विराजमान हैं। सम्भवतः भगवान् की यही इच्छा है कि 'दर्शन' से पूर्व उनकी वाणी का 'श्रवण-मनन' हो।" कभी-कभी पू० बाबूजी के कक्ष में 'आनन्द-वार्ता' के अंक उलटने-पलटने का अवसर मिला करता था। अब तो सात वर्षों की 'फ़ाइल' का ढेर मेरे कमरे में था। 'अघटनघटनापटीयसी' इसी को तो कहते हैं।

अक्तूबर, १९६८ के अन्त में मेरी परम आत्मीया सुश्री विमल बहन (ठकार) जब चार-पाँच दिन के लिए मेरे पास आईं तब उन्होंने अपना पुराना प्रश्न फिर एक बार दोहराया—"काशी में रहती हो। कभी माँ के दर्शन के लिए नहीं गईं? क्या इच्छा नहीं होती?" इस प्रश्न का समाधानकारक उत्तर मेरे पास कभी भी नहीं रहा। इस बार भी नहीं था। किन्तु इस बार जरा उत्साह में भर कर मैंने कहा—"ताई! (मराठी में बड़ी बहन के लिए सम्बोधन) अब तो माँ वाणी के रूप में मेरे पास आ गई हैं। समय आने पर दर्शन भी हो ही जाएगा।" इस पर विमल बहन ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की।

सम्पादन का काम बहुत मन्थर गति से चलने लगा। कुछ महीने बाद एक दिन अचानक पू० पा० बाबूजी पूछ बैठे—"तुमने माँ का दर्शन कभी किया है या नहीं?" अब तक जो 'दर्शन' हुआ था, उसे दर्शन के रूप में स्वीकार करने को हृदय प्रस्तुत नहीं था। इसलिए मैं झट से बोल उठी—"जी नहीं।" उन्होंने कहा—"दर्शन तो तुम्हें करना चाहिए।" दीर्घकाल से सञ्चित सुप्त-गुप्त आकांक्षा को मुखर होने के लिए अच्छा अवसर मिल गया। तत्काल बोल उठी—"आप जब कभी माँ के आश्रम जाएँ, तब यदि मुझे पता चल जाये तो—।" हृदय की बात समझ कर वे बोले—"हाँ, ठीक है, अब मार्च में जब माँ यहाँ आएँगी तब किसी दिन तुम्हें साथ ले चलेंगे।" २३ मार्च, ६८, को प्रातःकाल परीक्षा का काम पूरा करके, कानपुर से लौटी और उसी दिन रात को कलकत्ता जाने वाली थी। सोचा कहीं ऐसा न हो कि कलकत्ता से लौटने तक माँ काशी से चली जाएँ। एक दिन में कई काम निपटाना आवश्यक था। इसलिए स्वयं कहीं निकल भी नहीं सकती थी। आदमी के हाथ पू० बाबूजी के पास पत्र भेजा कि उसी दिन यदि सम्भव हो तो दर्शन के लिए चला जाए। उत्तर मिला कि इतनी दौड़धूप में सम्भव नहीं होगा, एप्रिल में जब माँ यहाँ आएँगी, तब बहुत दिन रहेंगी। उस समय शान्ति से दर्शन हो सकेगा। १५ एप्रिल के आसपास माँ का शुभागमन होगा, ऐसा अनुमान था, इसलिए १९ एप्रिल को पुनः आदमी के हाथ पू० बाबू-जी के पास पत्र भेजा। कब दर्शन के लिए ले चलेंगे, इस उत्कण्ठा की अभिव्यक्ति के साथ ही यह भी लिख दिया था कि रविवार, २१ ता० को अपराह्न में पू०

बाबूजी के पास जाऊँगी। उत्तर मिला—"परसों जब आओगी तब तिथि और समय निश्चित किया जाएगा।" रविवार का दिन आया, किन्तु कुछ ऐसे अप्रत्याशित काम भी साथ ले आया कि थक कर चूर हो कर उस कड़ी धूप में बाहर निकलने का साहस नहीं हुआ। सोचा—आज न सही, कल चली जाऊँगी, अभी तो समय ही निश्चित करना है। किन्तु यह क्या पता था कि शुभ अवसर तो आज ही उपस्थित है, कल तक वह मेरी प्रतीक्षा काहे को करेगा।

शाम को प्रायः ५।। बजे भाई श्री सीतारामजी (बाबूजी के अखण्ड स्नेह-पात्र परिजन) तेजी से मेरे बाहर के कमरे में अचानक घुसे और बोले—'बाबूजी आए हैं।' बाबूजी का घर में पदार्पण हो इसकी साध कई वर्षों से थी, किन्तु वह इस प्रकार अप्रत्याशित रूप से पूरी होगी, यह कौन जानता था? छोटी बहन ऊर्मिला और मैं दौड़कर बाहर फाटक के पास गईं। पीछे-पीछे माता-पिता भी पहुँच गये। देखा, बाबूजी मोटर में बैठे हैं। वे तुरन्त बोले—"चलो, झटपट तैयार हो जाओ, माँ के आश्रम में चलना है न।" हर्ष का विषय एक हो तो कोई किसी प्रकार सँभले भी। किन्तु एक-साथ दो-दो प्रबल प्रसंग उपस्थित हो जाएँ तो कैसे सँभला जाए? किसी प्रकार काँपते हुए कण्ठ से मैंने कहा—"तैयार तो अभी हो जाती हूँ, किन्तु आप एक मिनट भीतर चलिए न।" वे बोले—"देर हो जाएगी।" किन्तु फिर भी मेरे 'दुराग्रह' को टाल नहीं सके और कुछ क्षणों के लिए भीतर पधारे। हम दोदों बहिनें झटपट तैयार होकर पू० बाबूजी एवं उनके अन्य साथियों के साथ मोटर में बैठकर चल दीं। रास्ते में श्रीसीतारामजी ने बताया कि परसों मेरे पत्र का उत्तर भिजवाने के बाद ही आज रविवार सायंकाल का समय निश्चित हो गया था और तब यह सोचा गया था कि आज जब मैं पू० बाबूजी के पास जाऊँगी तब वे मुझे अपने साथ आश्रम ले जाएँगे। किन्तु मेरा तो उस दिन दोहरा सौभाग्य उदित होने वाला था। इसलिए स्वयं घर से निकलती कैसे? जब सब लोग ५ बजे तक मेरी प्रतीक्षा कर चुके तब श्रीसीतारामजी ने यह सुझाव दिया कि क्यों न घर से ही मुझे ले लिया जाए? कुछ मास पूर्व वे मुझे वचन दे चुके थे कि जब कभी पू० बाबूजी माँ के आश्रम में जाने के लिए घर से निकलेंगे तब वे कुछ समय के लिए उन्हें मेरे यहाँ लिवा लाएँगे। अपना वचन पूरा करने के लिए आज उन्हें (श्रीसीतारामजी को) अच्छा अवसर हाथ लगा। रास्ते भर ये लोग सड़क के दोनों ओर ताकते हुए आए ताकि कहीं ऐसा न हो कि मैं पू० बाबूजी के निवास-स्थान की ओर जा रही होऊँ। इधर मैं तो घर पर आराम कर रही थी, आसन्न सद्भाग्य-उदय से बिल्कुल बेखबर।

एक अवर्णनीय उत्कण्ठा, उत्साह, उमंग लेकर आश्रम के निकट पहुँची। बाहर बहुत से लोग पू० बाबूजी की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके पहुँचने में इतने अधिक विलम्ब पर सब लोग आश्चर्य प्रकट कर रहे थे। विलम्ब का कारण उन लोगों के सम्मुख 'सशरीर' उपस्थित था। अस्तु! पू० पा० बाबूजी के पीछे-पीछे 'माँ' के कक्ष में प्रवेश किया। प्रणाम, पू० बाबूजी द्वारा परिचय-प्रदान आदि के अतिरिक्त केवल-एक ही बात की सुधि रही है—श्रीश्रीमाँ की परम स्निग्ध, मधुर, वात्सल्य-पूरित दृष्टि। ऐसा लगता था मानो वात्सल्य, करुणा का प्रवाह मेरी ओर उमड़ा पड़ रहा हो। 'माता' तो वही है न जो सन्तान को 'माप' कर, उसकी समस्त दीनता, हीनता, त्रुटि, विच्युति, अबोधता, जड़ता, दुर्बलता आदि को क्षमा करते हुए उसे अपनाये रहे। ऐसी दिव्य 'माता' के सम्मुख अपने को पाकर कैसे पुलक का अनुभव कर रही थी, उसका वर्णन करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। ऐसा लगता था कि सारी कुण्ठाएँ, सब संकोच समग्र जड़ता क्रमशः विगलित हो रही थीं। पू० बाबूजी के साथ माँ प्रायः आध घण्टे तक विविध विषयों पर बातचीत करती रहीं। बीच-बीच में हम दोनों बहिनों का परिचय-प्रदान, 'अमर-वाणी' का सम्पादन भी बातचीत का विषय बनते रहे। विदा देने के पूर्व श्रीश्रीमाँ ने एक बार पुनः मेरा नाम पूछ लिया और कहा—"अब तो परिचय हो गया। अब जब भी आना चाहो आ सकती हो।" उस कक्ष में जो दो-चार अनुगता बहनें खड़ी थीं उनसे भी माँ ने कृपा-पूर्वक कहा—"इसका नाम याद रखना। जब कभी यह आए तब मेरे पास बुला देना।" मेरे दीर्घकालीन संकोच को श्रीश्रीमाँ ने एक वाक्य में ही बहा दिया। इतने में कोई लोग पुष्पमाला लेकर पहुँचे। तुरन्त बोलीं—"लो तुम्हारे लिए माला भी आ गई" और एक माला मेरे गले में डाल दी।

इस अद्भुत 'दर्शन' की बात विमल बहन को मैंने तत्काल उनके हालैण्ड के पते पर लिख भेजी। उन्होंने मेरे 'भाग्य' की भरपूर सराहना करते हुए, अध्यात्म-जीवन में नवीन प्रवेश के लिए बधाई देते हुए उत्तर भेजा। मेरा 'भाग्य' क्या है? यह पूरा प्रसंग अहैतुकी कृपा के अतिरिक्त कुछ नहीं।

इस प्रथम दर्शन के बाद परीक्षा सम्बन्धी व्यस्तता, दिल्ली-यात्रा आदि में कई दिनों योंही बीत गये। इस बीच श्रीश्रीमाँ का जन्मोत्सव-पक्ष आनन्द-ज्योति-मन्दिर की प्रतिष्ठा आदि की धूमधाम चलती रही। १५ मई को प्रातः अपने सहयोगियों (मुख्यतः सुहृद्वर पं० श्रीबलवन्तराय भट्ट) और संगीत महाविद्यालय के कुछ छात्र-छात्राओं द्वारा श्रीश्रीमाँ की सेवा में भजन-गायन का कार्यक्रम

प्रस्तुत करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। माँ डेढ़ घण्टे के पूरे कार्यक्रम में 'स्टेज' पर ही विराजमान रहीं। और उनकी वही स्नेह—वात्सल्य-करुणा पूरित दृष्टि पूरे समय मुझे आप्लावित करती रही। अन्त में उन्होंने हम सभी को माला, फूल, फल, मिष्ठान्न आदि का प्रसाद दिया और अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की। मुझे पूछ लिया—"तुम श्रीगोपी बाबू (कविराजजी) के साथ आई थीं न।" मैंने कहा—"हाँ, माँ।" फिर तो दो दिन बाद श्रीश्रीमाँ का काशी से प्रस्थान हो गया और उस धूमधाम में पुनः दर्शन की सुविधा मिलना असम्भव था।

पू० पा० बाबूजी की इच्छा थी कि 'अमर-वाणी' के इस संस्करण की प्रस्तावना में मैं भीकुछ लिखूँ। लिखने बैठी तो और कुछ नहीं, श्रीश्रीमाँ के नाम-श्रवण से लेकर दर्शन तक की सभी घटनाएँ स्मृति-पटल पर उद्घाटित होती चली गईं। और क्या लिख भी सकती थी? श्रीश्रीमाँ का तत्त्व मैं अबोध क्या जानूँ? यही बार-बार लगता है कि अमर-वाणी का समागम, श्रीश्रीमाँ का दर्शन—यह सब कुछ कल्पनातीत है। इसमें मेरी अपनी योजना कुछ भी नहीं। इस अवसर पर श्रीश्रीमाँ के चरणों में अनन्त प्रणति-निवेदन के साथ-साथ पू० पा० बाबूजी के श्रीचरणों में भी प्रणामाञ्जलि अर्पित करना चाहती हूँ,—जिनका अखण्ड अबाधित स्नेह गत सत्रह वर्षों में सदा-सर्वदा मुझ पर बरसता रहा है। दोनों ही जानते हैं कि मैं अध्यात्म-सम्पद् से हीन, अत्यन्त अकिञ्चन हूँ। दोनों की कृपा-दृष्टि सदा हृदय में 'अमृत' का सञ्चार करती रहे। अबोध सन्तान, जिसे कौड़ी और रत्न के मूल्य-भेद की प्रतीति नहीं है, जो रत्न को छोड़कर कौड़ी की ओर लपकती है, उसी पर तो माँ का सर्वाधिक स्नेह होता है। यह अबोधता ही मेरी एकमात्र अधिकार-सम्पत् है।

अन्त में सहृदय पाठकों से, सम्पादन की समस्त त्रुटियों के लिए एवं इस निवेदन में यदि कोई अनौचित्य हुआ हो तो उसके लिए भी, क्षमा माँगती हूँ। सभी 'मातृ' भक्तों की कृपा मेरे लिए परम काम्य है।

शुक्रवार,
निर्जला एकादशी,
७ जून, १९६८

प्रेमलता शर्मा
अध्यक्षा, संगीत शास्त्र विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

विषय-क्रम

: मूल वाणी :

व्याख्या




मुल वाणी



अ म र वा णी

१

प्रश्न : आपने उस दिन कहा था कि ध्यान में जो दर्शनादि होते हैं, वास्तव में वे दर्शन नहीं, स्पर्श मात्र हैं।

माँ : हाँ, स्पर्श की दृष्टि से ऐसा ही है। अर्थात् (दर्शक में) परिवर्तन नहीं हुआ, पर उसे भला लगता है एवं उसे दूसरे को समझा कर वह बतला सकता है अर्थात् विषय में रस है। इस कारण वह स्पर्शमात्र है। स्थिति प्राप्त हो जाने पर वह विषय-रस का इस प्रकार ग्रहण नहीं कर सकता। वास्तविक स्थिति में रस कहाँ ?

प्रश्न : आत्मा और ब्रह्म में उपाधिमात्र का भेद है। मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। इस प्रकार ध्यान करते-करते जो उपलब्धि होती है, वह आत्मदर्शन है। ब्रह्म का तो दर्शन नहीं होता—इस कारण यह दर्शन ब्रह्म का आंशिक अर्थात् उपाधिगत दर्शन है, क्या यह कहना ठीक है ?

माँ : यदि अंश मानो तो अंश कह सकते हो। परन्तु ब्रह्म में क्या अंश है ? तुम्हारा भाव आंशिक है, इसी कारण स्पर्श है, परन्तु वे पूर्ण हैं, जो हैं सो हैं।

प्रश्न : क्या ज्ञान में क्रम है ?

माँ : नहीं। स्वरूपज्ञान जहाँ है, वहाँ नाना ज्ञान या क्रम कहाँ ? वहाँ तो एकमात्र ज्ञानस्वरूप है। क्रम का अर्थ है विषयों की ओर से हट कर बिल्कुल भगवदुन्मुख होना। भगवत्प्राप्ति नहीं हुई, परन्तु इस पथ का पथिक होना भला प्रतीत हो रहा है। जिस धारा में चल रहे हो—वह है ध्यान, धारणा, समाधि। इस प्रत्येक स्थिति के अनुभव भी अनन्त हैं। यहाँ मन है, इस कारण अनुभव होते हैं। हर एक स्थिति में अनुभव की, ज्ञान की इच्छा होती है। पहले के विषयासक्त मन में, 'भगवान् है या नहीं' इस विचार से भगवान् की सत्ता मिटा

दी गयी है। अब मोड़ बदल जाने से जो जहाँ का है उसी का प्रकाश होना तो स्वाभाविक है। यही स्थिति की महिमा है। ध्यान में जो प्रकाश होता है उसका नाश कब हो सकता है? जब कि वह स्वयंप्रकाश है।

प्रश्न : मन का नाश होने पर क्या शरीर रह सकता है?

माँ : प्रश्न उठता है कि जगद्‌गुरु आचार्य उपदेश किस प्रकार देते हैं? क्या अज्ञान से देते हैं? तब तो मन का नाश नहीं हुआ। त्रिपुटी का लय नहीं हुआ। तब वह तुमको देंगे ही क्या? कहाँ पहुँचाएँगे? परन्तु कोई एक स्थिति है, जहाँ यह प्रश्न नहीं उठता। शरीर क्या ज्ञान का बाधक है? शरीर है या नहीं, यह प्रश्न कहाँ हैं? कोई स्थिति है जहाँ यह प्रश्न ठहरता ही नहीं। जिस स्थिति से प्रश्न होता है उसी स्थिति में खड़े हुए बिना ऐसा प्रतीत होगा कि प्रश्न हो रहा है और उसका उत्तर भी मिल रहा है। उत्तर जहाँ है (वहाँ) प्रश्नोत्तर का प्रश्न ही नहीं है।

वहाँ उससे अतिरिक्त दूसरा कहाँ है? और ऐसा न होने से जगद्‌गुरु से उपदेश मिल ही नहीं सकता और शास्त्रादि का उपदेश भी व्यर्थ हो जाता। यह भी तो एक दृष्टिकोण है।

यह जो एम० ए० की पढ़ाई के उदाहरण से क्रम कहा जाता है—वह साधना के दृष्टिकोण से है। जहाँ स्वयं-प्रकाश है वहाँ प्रश्न ही नहीं है। परन्तु जो कर्म किया जाता है, जैसे ध्यान, धारणा, उसका फल तो प्राप्त होगा ही, परन्तु उस स्थिति में फलाफल का कोई प्रश्न नहीं। रहते हुए भी नहीं है और न रहते हुए भी है—इस प्रकार कह सकते हो, और क्या?

कुछ लोग कहते हैं कि मन का आंश (संस्कार) शेष रह जाता है। किस स्थिति में आंश (संस्कार) रहता है। पर ऐसी भी कोई स्थिति है जहाँ आंश (संस्कार) के रहने का प्रश्न ही नहीं। जो स्थिति सब कुछ भस्म कर सकती है वह क्या आंश (संस्कार) भस्म नहीं कर सकती? वहाँ 'नहीं', 'हाँ' का प्रश्न ही नहीं है। जो है, वही है।

अंगीकार करने और न करने का दृष्टिकोण है, इस कारण ध्यान, धारणा है। उनका उद्देश्य मानने, न मानने के ऊपर जाना है। कोई अवलम्बन चाहिए

न ? जिसके सहारे पार उतरा जा सके वही । आश्रय और अनाश्रय का प्रश्न ही नहीं उठता । वह आश्रयहीन आश्रय है । जो वाक्यों द्वारा समझाया जाता है, वह तो प्राप्त हो ही सकता है परन्तु वह तो वाक्यातीत है ।

प्रश्न : मैंने पुस्तकों में पढ़ा है कि कुछ लोग कहते हैं कि मुझे नीचे उतर कर (साधारण) आचरण करना पड़ता है । इससे यह प्रतीत होता है कि आत्म-स्थिति में रहते हुए भी मन की सहायता लेनी पड़ती है । जैसे राजा को भी मेहतर का 'पार्ट' खेलते समय तत्काल के लिए मेहतर के भाव से भावान्वित होना पड़ता है ।

माँ : यदि अभिनय करना हो तब तो उतरने-चढ़ने का प्रश्न आता ही नहीं । स्वरूप में स्थिति लाभ कर वे अपने साथ अपने-आप खेल रहे हैं । परन्तु यदि उतरना चढ़ना कहो तो वह स्थिति कहाँ ? यदि उसे स्थिति कहो तो द्वितीय का अस्तित्व कहाँ ? 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' । हाँ, तुम जिस स्थिति में हो, वहाँ से ऐसा ही लगता है, यह मैं मानती हूँ ।

प्रश्न : यह तो आप अज्ञानी की कोटि में उतर कर स्वीकार कर रही हैं । ज्ञानी की कोटि से कहिए ।

माँ ने हँस कर कहा : तुम्हारी यह बात भी मैं मानती हूँ—यहाँ तो कोई भी बात छूटेगी नहीं, इस कारण ज्ञानी की कोटि अज्ञानी की कोटि सब ही ठीक है । बात यह है कि तुमको सन्देह है । यहाँ तो सन्देह का कोई प्रश्न ही नहीं । एकदम निःसन्देह । तुम जिस स्थिति से जो कह रहे हो, वह वही है, वही है, वही है ।

प्रश्न : ऐसी परिस्थिति में आपसे जिज्ञासा करने से क्या लाभ ?

माँ : जो है वही है । संशय होना स्वाभाविक है । परन्तु चमत्कार यह है कि वहाँ अलग खड़े होने की जगह तक नहीं है । सन्देहावस्था में आलोचना, निःसन्देह होने के लिए ही है न ? इस कारण आलोचना करना अच्छा है । कौन जाने किस समय तुम्हारे सामने से पर्दा हट जाए । आलोचना माने इस लोचन को दूर करना । यह दृष्टि तो दृष्टि नहीं है, यह तो नाश होने के लिए ही है । वही दृष्टि है जहाँ दृष्टि, सृष्टि का प्रश्न नहीं उठता । वहीं अ + लोचन है, वह

लोचन नहीं, अर्थात् ज्ञानचक्षु, दृष्टिहीन दृष्टि, पृथक् दृष्टि के लिए स्थान कहाँ ? यहाँ (अपने को दिखा कर) देने या लेने का प्रश्न नहीं है। सेवा भी नहीं बनती। तुमलोग जहाँ हो, वहाँ—वहीं से ये सब बातें हैं।

आज रात्रि में प्रसंगतः किसी ने कहा, 'मौन के द्वारा ज्ञानलाभ होता है।'

माँ ने पूछा : यह कैसे होता है ? यहाँ 'द्वारा' शब्द क्यों आया ?

मुक्तिबाबा : मौन ही ज्ञान है, जो साधन है, वही साध्य है।

एक व्यक्ति : मौन से पंचेन्द्रियका मौन समझना चाहिए।

माँ : हां; पर 'द्वारा' शब्द क्यों कहा ?

द्वितीय : केवल आत्मचिन्तन, यही 'द्वारा' का अर्थ है।

माँ : वाक्संयम में मन की क्रिया रहती है। परन्तु फिर भी यह संयम सहायता करता है। मन की गम्भीरता जितनी बढ़ती जाती है, यह क्रिया भी शिथिल होती जाती है। तदनन्तर ऐसा विचार आता है कि जिन्होंने व्यवस्था की है, वे ही मीमांसा कर देंगे।

मन यदि विषय-चिन्तनों से घिरा रहे तो उस अवस्था में मौन से जो मिलेगा, वह प्राप्त नहीं हो सकेगा। जैसे क्रोध के समय यदि चुप रहो तो किसी समय वह बर्स्ट करेगा ही। यदि मन को भगवान् की ओर लगाया जाए तो वह धीरे-धीरे अग्रसर होता रहता है और साथ ही साथ देह और मन की शुद्धता को जाग्रत करता रहता है। विषयों के चिन्तन से शक्ति का ह्रास होता है। ऐसी अवस्था में मौन न रह कर बातचीत करने से मन का 'रिलीज़' होता है। नहीं तो, ऐसे मौन से इन्द्रियों पर चोट पहुँचती है, और उसके कारण बीमारी की आशंका रहती है, परन्तु अन्तर्गत होने पर बीमारी तो होती ही नहीं—भगवत्-चिन्तन से ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। इससे जो प्राप्य है वह प्राप्त हो जाता है।

मौन माने भगवान् में मन लगाये रखना। पहले पहल मौन के समय बोलने की आवश्यकता प्रतीत होती है। बाद में आवश्यकता, अनावश्यकता कुछ नहीं रहती। ऐसा भी होता है कि जैसे भौंरा शहद लेता फिरता है, वैसे ही अपनी

आवश्यकता अपने आप हो सिद्ध हो जाती है । जो प्रयोजन है वह आप से आप अनुकूल हो जाता है, अपने आप ही मिल जाता है । उनके साथ सम्बन्ध बन जाता है न ?

काष्ठ मौन रहने से शरीर की रक्षा कैसे होती है ?—अपने आप सब योगायोग हो जाते हैं । वह साक्षी की तरह सब देखता रहता है । जितना युक्त होते जाओगे उतना देखोगे कि विघ्न हटता जा रहा है और जो प्रयोजन है वह अपने आप ही सिद्ध होता जा रहा है । एक होता है अपने आप हो जाना और एक होता है चेष्टा से संग्रह करना । मौन माने जिसके मन को दूसरी ओर लगाने का अवकाश ही नहीं है । अन्त में मन है या नहीं, बातें करना या न करना, सब समान । मौन के द्वारा ज्ञानप्राप्ति होती है यह कहना ठीक नहीं है । कारण किसी उपाय के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती । ज्ञान स्वप्रकाश है । आवरण नष्ट होने के लिए ही अनुकूल क्रियादि हैं ।

मुक्तिबाबा : नवद्वीप के मौनी साधु कैसे थे ?

माँ : अभ्यास से शरीर को स्थिर कर रखा था, परन्तु मन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था, यह देह का अभ्यास मात्र है । मन की स्थिति हो जाने से उस प्रकार जागतिक आचरण नहीं हो सकता । । हाँ, इस प्रकार का अभ्यास भी एकदम व्यर्थ नहीं जाता, उससे कुछ तो होता ही है । परन्तु जिसकी आवश्यकता है, वह नहीं हो पाता ।



२

प्रश्न : हठयोग की उपयोगिता-अनुपयोगिता क्या है ?

माँ : हठ माने क्या ? जोर ज़बरदस्ती से कुछ करना। एक होता है होना और एक होता है करना। होने में प्राण की गति के जहाँ रहने से जिसका प्रकाश होने को होगा वह प्रकाशित हो जाएगा। किन्तु वह यदि केवल शारीरिक व्यायाम ही हो तो मन में कुछ भी परिवर्तन नहीं होगा। बाह्य व्यायाम से शारीरिक गति में स्फूर्ति आती है। बहुधा सुनने में आता है कि आसन आदि बन्द कर देने से शरीर दुखने लगता है। जैसे, शरीर के लिए उपयोगी खाद्य न मिलने पर शरीर दुर्बल हो जाता है, वैसे ही मन को भी खाद्य की आवश्यकता है। मन को खाद्य मिलने पर भगवदभिमुखी गति होती है और शरीर के खाद्य से जगत् की ओर गति होती है। केवल व्यायाम शरीर का खाद्य है।

(अपने प्रयत्न से) करने की दृष्टि से करते-करते होना। अर्थात् अभ्यास की गति से जो हो रहा था उसके पार होना। उस समय एक गति प्राप्त होती है, जिसके प्राप्त न होने तक हठयोग की उपकारिता ज्ञात नहीं होती। हठयोग से जो शरीर की पुष्टि होती है, वह यदि भगवान् की ओर लगा दी जाय तो उसका क्षय नहीं होता। अन्यथा वह योग न होकर भोग हो जाता है।

होने में ही परम गति है। भगवदभिमुख न होने पर हठयोग केवल मात्र व्यायाम ही है। स्वाभाविक गति से उनका स्पर्श प्राप्त न होने पर उसका फल हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सुनने में आता है—नेती, धौती आदि अनेक यौगिक क्रियाएँ करने पर विकट व्याधियाँ होती हैं। नैनीताल में एक बार मैंने देखा कि हठयोग के कारण एक लड़के का स्वास्थ्य नष्ट हो गया। निरन्तर दस्त होने लगे, बन्द ही नहीं हुए। उसने तथा उसके अनेक संगी साथियों ने मिलकर यह निश्चय किया था कि इस योग में निपुणता प्राप्त कर कॉलेज खोलेंगे एवं इसकी शिक्षा द्वारा सबको भगवान् से युक्त करेंगे। किन्तु सबके सब अस्वस्थ हो गये।

यदि उपयुक्त शिक्षक हों तो वे शिष्य के प्राण की गति को क्रमशः समझ कर कभी उससे आगे बढ़ा देते हैं और कभी पीछे हटा देते हैं, मानो सर्वदा नाव की पतवार पकड़े खड़े रहते हैं। ऐसा न होने पर योगक्रिया लाभप्रद नहीं होती। जो चलावें उन्हें प्रत्येक स्थान और प्रत्येक व्यापार की प्रत्यक्ष जानकारी रहनी चाहिए—सर्वथा ज्वलन्त प्रत्यक्ष। क्योंकि वे परम पद के डॉक्टर हैं। यदि उन डॉक्टर महाशय की सहायता न मिले तो हानि की आशंका है।

अनुकूल तभी होता है जब कि उनके स्वभाव का स्पर्श प्राप्त हो जाए। जैसे नदी में उतर कर जितना हो सका अपनी शक्ति के अनुसार तुम तैरे। उसके बाद यदि प्रवाह में पड़ जाओ तो कर सकने न कर सकने का प्रश्न ही नहीं उठता, वह अपनी ओर अपने आप ही खींच ले जाएगा, उस स्पर्श के न मिलने पर क्षति होती है। स्वभाव की गति में पड़ना चाहिए। स्वभाव की गति जहाँ पर प्रकट हो, वहाँ स्पर्श होते ही (वह) बिजली के समान खट से खींच लेती है। ऐसी एक जगह है जहाँ कर्म की आवश्यकता नहीं है। जब तक वह स्पर्श न हो तुम्हारी जो इच्छा और अनिच्छा है, उसे भगवान् की सेवा की ओर लगाओ—सेवा, ध्यान-धारणा करो।

साधारणतः स्वाभाविक भाव से सन्ध्या आदि दैनिक कृत्य करो; इच्छा होती है कि कुछ और जप, ध्यान आदि अधिक करें। यह स्पर्शमात्र है। क्रमशः स्वभाव की गति खुल जाएगी, ऐसी आशा है। इस क्षेत्र में भी 'अहम्' तो है ही। किन्तु यहाँ का 'अहम्' उनकी ओर युक्त होने की दिशा है। प्रतिष्ठा आदि की जो दिशा है, वह अहंकार की क्रिया है—विघ्न-बाधा है।

हठयोग, राजयोग जो भी करो, शुद्ध भगवद्भाव का अभाव होने पर क्षति होती है। आसन, आदि कर रहे हो; स्वाभाविक गति प्राप्त होने पर देखोगे, मानो अपने आप होते जा रहे हैं। इसका लक्षण क्या है ? जैसे एक योग, एक रस और तत्स्मृति। जागतिक कर्मादि का अभ्यास करते-करते जो होता है वह नहीं। अपने आप ही स्वभावतः प्रकाश हो भी सकता है। उसी की यह बात है। इसीलिए तत्स्मृति की बात उठी। स्वभाव की गति केवल भगवदभिमुखी होती है।

फिर माना कि कभी ध्यान करने बैठे, देखा कि किसी समय रेचक, पूरक,

कुम्भक तुम्हारे किसी प्रकार के प्रयत्न के बिना ही हो रहे हैं। स्वभावतः जो गति है, उस समय भगवदभिमुखी प्रकाश से ग्रन्थि खुल जाती है। यह जो ध्यान में बैठे, देखा कि आसन यथायोग्य सुन्दर रीति से हो गये, मेरुदण्ड सीधा हो गया। उस समय समझना चाहिए कि तुम्हारे प्राण की गति उनकी ओर हो गयी। नहीं तो जप करने बैठने पर गति ठीक तरह से नहीं होती, कमर में दर्द होने लगता है। उस तरह के जप में भी कुछ क्रिया होती है, किन्तु विशेष क्रिया नहीं होती अर्थात् मन तो चाहता है, किन्तु शरीर अनुकूल नहीं होता। फलतः भगवद्-रस की स्फूर्ति नहीं होती।

विषय-चिन्तन से विषय-भोगों का और भी विस्तार हो जाता है। परमार्थ की ओर स्फूर्ति के जागने पर भगवत्-कामना में, भगवत्तत्त्व में और सम्पूर्ण दृश्य में भगवत्स्मृति इन सब का विस्तार होता है; उस ओर नस-नस की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। वे कैसे मिलें, इस तरह का आलोड़न (मन्थन) मन के अन्दर होने लगता है। फलतः समग्र शरीर और मन की गति स्थिर, धीर, गम्भीर हो जाती है।

अपने अभ्यास के लिए स्वभावतः किसी किसी को आसन करने आदि की इच्छा होती है। उसमें यदि प्रतिष्ठा का भाव न रहे तो उसका स्वभाव की गति में जाना सरल होता है। अन्यथा मन यदि शरीर में बँधा रह जाये तो वह व्यायाम मात्र है।

जिस किसी को जिसी ओर जाना पड़ता है उसे उसी ओर वे ठेल कर ले जाते हैं। परन्तु उस समय पहले तो उसे मालूम ही नहीं होता अथवा मालूम हो भी जाये तो वह अपने को छुड़ा नहीं सकता। पाँच आदमी समुद्र में स्नान करने गये। उन्होंने संकल्प किया कि सबसे आगे तैर कर जायेंगे। इसमें पीछे की दृष्टि रह जाती है। जिसका एक मात्र समुद्र ही लक्ष्य है उसके लिए देखने या जानने को कुछ शेष नहीं। उस समय जो होने वाला होता है वही हो जाता है। समुद्र की लहर में अपने को छोड़ दो तो प्रवाह में पड़ जाओगे—नहाने गये फिर लौटे नहीं। वे तो लहर में प्रवाहित करने के लिये किनारे तक आ गये। जो अपने को उस लक्ष्य पर छोड़ दे सकेगा उसी को ग्रहण करेंगे। पार की ओर यदि लक्ष्य रहेगा तो फिर जाना नहीं होगा—स्नान कर घर लौटना। लक्ष्य यदि परम और चरम की ओर रहेगा तो स्वभाव की गति में ले जायेंगे। ले जाने की लहरें हैं और

लौटाने की भी लहरें हैं। ले जाने की लहरों में अपने को छोड़ सकने पर वे ले जाते हैं। लहर के रूप में हाथ बढ़ा कर वे पुकारते हैं "आओ, आओ, आओ।"

प्रश्न : कर्म द्वारा कैसे लाभ होता है।

माँ : निष्काम कर्मयोग से। यदि प्रतिष्ठा का भाग रहे तो होता है। कर्म-भोग—कर्म कर रहे हो और प्रतिष्ठा रूप फल भोग रहे हो। फल का त्याग कर देने पर योग होता है।

प्रश्न : आकांक्षा यदि न रहे तो काम कैसे होगा ?

माँ : तत्-ज्ञानपूर्वक सेवा से। भगवत्प्राप्ति की वासना तो यह वासना नहीं है। आपका यन्त्र है, इस यन्त्र द्वारा कर्म करा लीजिए। तत्-ज्ञान रहने के कारण युक्त हुआ जाता है मुक्ति की ओर; जो भी काम हो वह पूर्ण रूप से हो और शोक, ताप, दुःख का कोई अवसर न रहे, केवल यही भावना रहे कि आप जो करा रहे हैं यही भाव रहे।

दूसरी एक बात है मेरी त्रुटि के कारण काम ठीक नहीं हुआ। मैं और भली-भाँति सेवा कर सकता था—यदि यह भावना न रहे तो उपेक्षा का कर्म होगा। इस कारण अपनी शक्ति के अनुसार कोई त्रुटि न रहे। उसके पश्चात् जो कुछ होता है, वह तुम्हारे हाथ है अर्थात् मैं भी तो आपके हाथ का यन्त्र हूँ। इसलिए देह, मन, प्राण से सेवा करो। तदनन्तर जो कुछ हो—"तुम इसी रूप में प्रकट हुए हो यही होना था इस कारण यह हुआ है।"

प्रश्न : जिस समय स्वाभाविक क्रिया हो रही हो उस समय भी तो क्रिया ही काम करती है। अन्य किसी गुरु के न रहने के कारण सन्देह का समाधान कैसे होगा ?

माँ : क्रिया दो प्रकार की है। दो ही प्रकार की क्या, अनन्त प्रकार की है। फिर भी उसमें कुछ बात रहती है। आसन करना आरम्भ करने पर आसन ही बात बोलता है, जैसे हम तुम बोलते हैं। कैसे ? जिनके लिए आसन किया गया, उनका जब प्रकाश हो जाता है। इस आसन से क्या पाओगे ? उनका प्रकाश, यही बात बोलना है।

अस्वस्थ रोगी को हिलने-डुलने से परिश्रम होता है। श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगता है। साधारणतः सभी के बैठने चलने के ढंग के अनुसार साँस की गति बदलती जाती है, पर समझ में नहीं आता। 'कन्ट्रोल' (वश में) रहने पर सम्भवतः किसी की इच्छा हुई कि गति को इस 'लेवल' पर (स्तर पर) रखूँगा। तुम सब जो आसन करते हो—आसन प्रारम्भ करने पर यह ज्ञात नहीं रहता है कि किस पैर को आगे और किसे पीछे उठाने में श्वास लेना या छोड़ना चाहिये। इससे इधर-उधर उलटा हो जाता है। क्यों? जैसे ज्ञात न होने पर किसी वस्तु को खोलते समय इधर-उधर गड़बड़ हो जाती है। जिस समय आसन हो जाता है उस समय प्रतीत होता है कि अपने आप निश्वास-श्वास के साथ-साथ पैर का ऊपर उठना और नीचे गिरना ठीक ठीक होता जा रहा है। गुरु शक्ति की क्रिया तभी प्रतीत होती है जब श्वास के साथ आसन युक्त हो जाए। पहले ज्ञात नहीं था। अब अपने निकट प्रकट हो पड़ा।

मन की ओर विचार किया जाय तो अपना स्वरूप साक्षी के तुल्य दिखाई देता है—जैसे कि शिशु (नन्हा बच्चा) देखता है। मानो कोई सब कुछ कर रहे हैं और तुम्हारे मन की गति स्थिर हो रही है।

तुम्हारे शरीर की गति, प्राण की गति के जिस केन्द्र में पहुँचने पर मेरा स्वर निकल रहा है, परमार्थ विषय के सुकौशल (से) उस मार्ग की क्रिया का स्फुरण होता है, जिससे भगवद्विषयक वाणी अपने आप ही निकलती है। जिन्हें मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हो, उस स्थान में स्थिति प्राप्त होने पर अर्थात् तुम्हारे शरीर की गति और प्राण की गति के उस केन्द्र में स्थित होने पर उनके समान वाणी निकलती है।

एक स्थिति है जिसे शायद तुम नहीं जानते हो, नहीं समझते हो—जैसे आसन तुम नहीं जानते हो, पर अनजाने बनता जा रहा है। कौन करा रहे हैं? अन्तर्गुरु। उसी प्रकार यह सब मन्त्रस्फुरण, उनका उत्तर, उनका तत्त्व, तत्त्व के साथ प्रत्यक्ष मूर्ति खड़ी है, तत्त्व के साथ मूर्ति का प्रकाश होता है। जब ऐसा होता है तब अन्तर्गुरु का परिचय प्राप्त होता है जो कि अन्दर रह कर कार्य कर रहे हैं। केवल उत्तर ही नहीं, उस तत्त्व का प्राप्त होना—वही दर्शन है। ऐसे ही अनजान भाव की उत्तर-प्राप्ति होती है।

और एक दूसरी तरफ की बात है—वह अनजान यन्त्र क्या है? उनका

प्रकाश। उस समय मन्त्र, तत्त्व, गुरु, इष्ट—सबका प्रकाश हो जाता है। यह ज्ञात-भाव से प्राप्ति का दृष्टान्त है। जप कर रहा हूँ, ध्यान कर रहा हूँ—झटपट बता दिया कि यह वस्तु क्या है? गुरु ने ही मुझे बता दिया। जो हो रहा है, गुरु मुझे बताते जा रहे हैं।

एक क्रिया की तरफ़ की बात है और एक मन की। अर्थात् क्रिया प्रधान या मन प्रधान? यद्यपि मन के संयोग से ही सब कुछ होता है, दोनों एक साथ काम करते हैं, पर एक प्रधान रहता है। आसन आदि में क्रिया प्रधान है और मंत्र आदि की स्फूर्ति में मन प्रधाम है। फिर शंका होती है कि बाहर से जो करा रहे हैं वे कौन हैं? वे भी वहीं हैं—दूसरा तो है ही नहीं।

ये सब बातें कुछ यहाँ से कुछ वहाँ से तोड़-मरोड़ कर कही गयी हैं। इस लिए कही गयी हैं कि जिसके लिए जो अनुकूल पड़े और जो जितना ग्रहण कर सके।



३

माँ : बाबा, निष्काम कर्म किसे कहते हैं ?

एक भक्त : हम तो समझते हैं कि निष्काम कर्म होना सम्भव नहीं है। कर्म अथवा उसके फल में आसक्ति न रहना, केवल कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करना निष्काम कर्म है। शास्त्र कहते हैं एक मात्र आप्तकाम व्यक्ति ही निष्काम कर्म कर सकते हैं। जब तक विषयेन्द्रिय-संयोग रहता है तब तक निष्काम कर्म नहीं हो सकता। पर भगवदर्पण बुद्धि से किये गये कर्मों की परिणाम में निष्काम कर्म के रूप में परिणति होने की सम्भावना रहती है।

माँ : सकाम निष्काम जो भी कहो वह कर्म ही तो है। जब तक वह स्थिति प्राप्त नहीं होती तब तक कर्मरहित हो कर रहा नहीं जाता, इसलिए यह भी नहीं मान सकते। जब गुरु के ऊपर अपने को छोड़ दोगे तब जो गुरु कहें उसी का पालन करना (चाहिए)। यहाँ पर गुरु की इच्छा पूर्ण करना ही तुम्हारी वासना (होनी चाहिए)। इसीलिए उस इच्छा को पूर्ण करने के लिए उद्यत हो कर जो भलीभाँति काम करने की तुम्हें बुद्धि प्राप्त होती है वह भी क्या इसी तरह की वासना है, कहो तो ? यह जो भली-भाँति करना है, यह गुरु की इच्छा को लक्ष्य में रख कर ही होता है, इसलिए यह वासना अच्छी है।

कहीं पर थोड़ा-सा भी यदि अपना लगे तो वह कर्म निष्काम कर्म की श्रेणी में नहीं आ सकता। मान लो किसी काम को अधिकांश तुम कर चुके, दूसरे ने आकर उसके शेषांश की पूर्ति की। समस्त काम करने का श्रेय मिला इस शेष काम करने वाले व्यक्ति को। इससे थोड़ा-सा भी यदि मन पर आघात हो जाए तो निष्काम कर्म कहाँ ? प्रतिष्ठाहीन कर्म की दिशा और क्या है ? जब तुमने अपने को गुरु के ऊपर निर्भर कर दिया तब वे चाहे जो करें जहाँ फेंकना हो फेंकें। तुमने अपने को उनके हाथ का यन्त्रवत् मान लिया। यदि कोई धक्का भी लग जाए तो भी उस समय उनका आदेश-जनित काम धैर्यपूर्वक होता रहना

(चाहिए) । ऐसा होने पर ही सहिष्णुता, धैर्य और तितिक्षा की स्थिति की दिशा में शक्ति की वृद्धि होती है, यह निश्चय रखो । क्रिया में द्वन्द्व रहता है । निर्द्वन्द्व कब होता है—जब कि आघात लगने न लगने का प्रश्न नहीं रहता । कर्म में जिस अवस्था में जो आदेश होता है उसी का पालन करने को प्रस्तुत (रहना चाहिए) । कल्पना करो कि क्षुधार्त होकर तुमने भात का कौर मुँह के समीप उठाया है, उसी क्षण अन्यत्र जाने का आदेश हुआ । आनन्दपूर्वक हाथ का कौर फेंक कर उसी समय उसका पालन (करना चाहिए) । समझना चाहिए कि इस अवस्था में अब इस दिशा के आनन्द में स्थित होने का संकेत है । जब साधक 'होने' की ओर अग्रसर होता है उस समय कर्म में त्रुटि होने से तिरस्कार किया जाए चाहे न किया जाए वह अन्तःकरण पर आघात नहीं करता । उसके बाद उसके हाथ का यन्त्र बन जाता है । शरीर यन्त्र के सदृश चलता है, मानो कि साक्षी के तुल्य देखता जाता है । उस समय साधक देखता है कि इस शरीर से ही नाना कर्म होते जा रहे हैं, और वे सुन्दर रीति से हो रहे हैं । निष्काम कर्म बड़ा सुन्दर है, क्योंकि वह अपनी भोग-वासना की दिशा नहीं है । जब तक गाँठ नहीं खुलती निष्काम कर्म किया जा रहा है ऐसा सोचने पर भी आघात होगा जिससे आँख-मुख की रूप-रेखा, हाव-भाव सब में परिवर्तन दिखाई देगा । मुझे फल की इच्छा न रहे, यह भी एक फलेच्छा है । किन्तु इस निष्काम कर्म की चेष्टा रहने पर आशा रहती है कि निष्काम कर्म हो जाएगा । इसके हो जाने के बीच, भीतर बहुत से परिवर्तन हो जाते हैं । ग्रंथि का अर्थ है विरुद्ध भाव अर्थात् अहंकार जब तक रहेगा तब तक निष्काम कर्म करने पर भी कभी न कभी आघात होगा ही । क्योंकि बंधा हुआ है न, बंधन में आकर्षण होना ही है ।

भक्त : तब तो आप्तकाम होने के पूर्व निष्काम कर्म होना संभव नहीं है ।

माँ : जिस समय निष्काम कर्म होता है और साक्षी के तुल्य देखता जाता है, उस समय भीतर एक आनन्द का स्फुरण होता है । शरीर में यदि कुछ चोट लगती है तो उससे भी उस समय आनन्द होता है । स्फुरण और आत्मदर्शन एक ही वस्तु नहीं है । निष्काम कर्म से आनन्द का स्फुरण होता है—उनकी तृप्ति में ही अपनी तृप्ति, उनके आनन्द से ही अपना आनन्द होता है । उस एक जगह पहुँच कर आनन्द निबद्ध हो गया । जागतिक कामना की दिशा शिथिल होने से इस अवस्था में बहुत से कर्म सांगोपांग होते हैं । किन्तु किसी समय जहाँ

पर देखा गया कि अपनी पूर्ण चेष्टा से भी काम सांगोपांग नहीं हुआ, उससे भी दुःख नहीं होता। क्योंकि सभी को तो रहना चाहिए—यहाँ भी उन्हीं की इच्छा है। देखो, कैसी सुन्दर 'लाइन' पर गति हो रही है। किन्तु निजस्व बोध के कर्म में त्रुटि न होने के समय की यह बात है। इस अवस्था में भी आत्म-दर्शन नहीं होता। क्यों नहीं होता? निष्काम सकाम तो कर्म की ही बात है। निष्काम कर्म हो रहा है, यहाँ पर कर्म अलग रहा। जहाँ पर एक मात्र आत्मा ही रहे, वहाँ गुरु, आदेश, कर्म पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते। जहाँ आदेश कर्म यों पार्थक्य की बात रहेगी वहाँ आत्म-दर्शन की बात हो नहीं सकती। आप्तकाम की क्रीड़ा अलग है और निष्काम कर्म की चेष्टा से जो निष्काम कर्म का हो जाना है इस प्रश्न पर यह बात हुई।

समाधि के स्थान में जाकर भी कोई साधक समाहित होता है, वह भी तो एक स्थान है। जहाँ पर इस आन्तर क्रिया की गति से निरावरण होता है वहाँ की बात है। वासनानाश को चेष्टा से बाह्य कर्मों में आत्म-दर्शन की बात तो आ ही नहीं सकती।

बाबा, एक कथा है—एक समय था जब कि भोलानाथ जी जो भी आदेश देते यह शरीर उसका अक्षरशः पालन किये जाता। किन्तु जिस समय वे देखते कि शरीर अशक्त होकर पड़ा है, सांसारिक जिस प्रकार के काम शरीर कर नहीं सका, शरीर में सहन नहीं हुआ, उस समय स्वयं ही वे अपना आदेश आनन्द के साथ वापस ले लेते। देखो, यहाँ पर कर्म न कर सकने पर भी उनके आदेश का एक प्रहार से अक्षरशः पालन हुआ।

अस्तु, एक बार भोलानाथ जी के बहनोई कुशारी जी आये। वे प्रत्येक कार्य में इस शरीर को भोलानाथजी के आदेश पर चलता देख असन्तुष्ट होकर बोले—"क्यों, आपकी अपनी बात कुछ नहीं है? रमणी को सब कुछ पूछ ही लेना होगा, ऐसी क्या बात है? यदि वे अनुचित करने को कहें तो क्या आप वही कर डालेंगी?" इसका उत्तर दिया गया, "काम यदि उपस्थित हो तो उस आदेश से कर्म करने के लिए उद्यत होने पर जो हो जाए।" इस उत्तर को सुन कर वे अवाक् रह गये। उसके बाद से ही उनका भाव परमार्थ की ओर स्थायी रूप से बदल गया।

पारमार्थिक किसी स्थिति में स्वाधीन रूप से स्वक्रिया सम्भव है, बन्धन नहीं

है न, इसलिये। और जहाँ बन्धन नहीं है, वहाँ विपत्ति या विपथ कुछ नहीं है। उसका विपथ में पैर नहीं पड़ता।

प्रश्न : उसकी यह अवस्था तो आत्मदर्शन के बाद ही आई है न ?

माँ : इस शरीर की बात छोड़ दो। आत्मदर्शन के बाद यह अवस्था हो सकती है, ऐसा यदि कहो, तो सब कुछ लेकर ही किसी भी जगह में क्रीडा की जा सकती है, यह जान लो अर्थात् अपने को लेकर आप ही। वह बात और यह बात एक नहीं है। क्योंकि उस समय वह अभिन्न है, भिन्न रह कर भी अभिन्न, अभिन्न रह कर भी भिन्न के तुल्य एवं तत् स्व है। आदेश का पालन करना और न करना सभी वह है। आत्मदर्शन के पहले जो यन्त्रवत् कार्य किया जाता है—उसका लक्षण है। पहली अवस्था में कर्म की गति अभावपूर्ति की ओर रहती है, फिर स्थिति होने पर सब अलग अलग, करना न करना, वही जो कुछ कहो। इस राज्य में सब कुछ सम्भव है—खाने पर भी न खाना, न खाने पर भी खाना। पैर नहीं हैं चलता है, आँखें नहीं हैं देखता है, इस प्रकार कितनी ही बातें जैसे तुम लोग कहते हो। जहाँ पर आत्मस्थिति है वहाँ पर कौन किसके आदेश का पालन करेगा। वह संगहीन है—उससे भिन्न और कोई तो दूसरा है नहीं। वह तो फिर किसी के साथ बातें करता नहीं,। भिन्न व्यवहार फिर कहाँ ? निष्काम कर्म का स्थान भिन्न है, आत्मदर्शन दूसरी बात है। गुरु, प्रीति, कर्म, मैं—ये चार जिस समय विद्यमान हों उस समय आत्मदर्शन का प्रश्न नहीं उठता। पर एक बात है; भगवत्कर्म तो फिर इस तरह की वासना का कर्म नहीं है। एक कर्म योग में है—जिस कर्म से प्रकाश होता है, दूसरा कर्म भोग में है—जिससे विषय-भोग होता है। जिस कर्म से भगवान् के साथ जो नित्य योग है, उसका प्रकाश होता है वही कर्म है और सब अकर्म है। योग नूतन रूप से होता है यह बात नहीं है, किन्तु वह नित्य है और विद्यमान है, उसका केवल प्रकाश होता है।

अच्छा, दूसरी एक बात सुनो। कहीं-कहीं कर्म करके बड़ा रसास्वाद होता है, काम करके खूब आनन्द आता है। यहाँ पर कर्म करके क्या होगा या नहीं होगा उस ओर ध्यान नहीं रहता। यह कर्म के लिए ही कर्म करना हुआ, कर्म की प्रीति के लिए कर्म—यहाँ प्रकट रूप में गुरु भी नहीं रहते और उनकी प्रीति भी नहीं रहती। इस तरह की भी एक स्थिति है। कर्म में तारतम्य रहता है।

विषय-वासना को तृप्त करके अच्छा लगता है। यह आपेक्षिक सुख है। वह किसके लिए है—स्त्री, पुत्र, परिवार आदि के लिए। इसलिए जहाँ उसका फल है वह देता चलेगा। यह भोग है, योग नहीं है। सुख रहता है और उसके साथ-साथ दुःख भी।

पूर्वोक्त कर्म में जो अच्छा लगता है यह कहा गया है, वह तभी सम्भव है जब कि कर्म किसी के लिए न हो। उदाहरणार्थ मान लो किसी समय राह में चलते-चलते भी कितने ही काम करते जाते हो, वे किसी के लिए भी नहीं, कर्म के लिए ही कर्म है, कर्म ही उसका एकमात्र भगवान् है। इसका भी एक स्थान है। किन्तु उस कर्म को करते-करते कभी एक दिन उसका कर्म छूट जाता है। एक होता है लोकहित के लिए कर्म, वहाँ पर यह लक्ष्य भी नहीं रहता। इस प्रकार की कामना वासना की दिशा नहीं है। विवश पुरुष की तरह कर्म किये जाता है। अच्छा, करता क्यों है? वहाँ पर एकमात्र कर्म में ही रति रहती है। भगवान् जिस समय कर्म के रूप में आकर्षण के द्वारा प्रकट होते हैं, ऐसे कर्म को करते-करते कर्म छूट जाता है।

प्रश्न : कर्म से तो कर्म बढ़ता ही जाता है। वह छूटेगा क्यों?

माँ : यह नहीं जानते हो क्या? किसी एक स्थान पर एकाग्र हो सकने पर पुरुष कर्म को ही विवश के तुल्य करता रहता है। उस कर्म में अकर्म नहीं कर सकता। इसलिए उसका कर्म हट जाने की दिशा में है।

कितने ही प्रकार के स्थान हैं, उनमें यह एक स्थान है। वहाँ सो फिर ज्ञानी नहीं है, पर फिर भी अकर्म नहीं कर सकता। यह शास्त्रीय या अशास्त्रीय कर्म करेंगे या नहीं इस बात के विचार का भी अवसर नहीं रहता। वह एकाग्रता की दिशा है, इसलिए उसमें अशास्त्रीय अपकर्म नहीं होता। यह जो देह है, यह जिसका आश्रय लेकर कर्म करता है उसकी गति किसी एक शुद्ध प्रवाह में पड़ जाती है। उसके फलस्वरूप वह सत्कर्म किये जाता है।

जहाँ पर व्यक्ति है वहीं न सुख-दुःख की बात होती है। स्त्री, पति, पुत्र, कन्या आदि संसार अपने ऊपर लेकर जो आसक्ति में डूबा है, वह जिस समय कठिन रोग ग्रस्त होता है, उस समय भीषण दुःख-ज्वाला से छटपटाता है, स्त्री, पति, पुत्र, कन्या की ओर ध्यान देने का अवसर कहाँ रहता है? वह अपने को ही ले कर स्वयं 'हाहाकार' नहीं है क्या? उस समय का उसका यह मोह का

बन्धन प्रधान नहीं है। देह के ऊपर जो मोह होता है वही प्रधान होता है। स्वयं है इसी कारण सब कुछ है। इस तरफ से इसी को लेकर जीव के आने जाने की—आवागमन की—बात उठती है।

अब समझो जो भगवान् में अनुरक्त हैं वहाँ देहाभिमान के नाश होने की दिशा है। देहाभिमान का नाश होने पर यह मोह, यह बन्धन नष्ट हो जाता है अर्थात् वासना-नाश (हो जाता है) यही स्व है न! जहाँ पर निवास करते हो वह 'स्व नहीं है' इस रूप में प्रकट (होता है)। उसका नाश ही होता है अर्थात् नाश का ही नाश होता है। और जिसे जागतिक कामना कहते हो उसका मतलब भी यही है कि 'स्व' प्रकाश का कर्म न होने से जो कर्म है। वह नहीं है, यही तो हुई असल बात, जो कुछ भी कहो? यह शरीर और भी एक ओर की बात कहता है, वह क्या है जानते हो? इष्ट जैसे स्वयं है, नाश भी वह स्वयं है, नष्ट भी वह स्वयं है। जहाँ पर एकमात्र स्वयं शब्द रह जाता है, वहाँ पर फिर किसका संग? इसीलिए निःसंग असंग यह बात कही जाती है। छद्मवेशी जिसे कहा जाता है, छद्मवेश क्या है? वही तो।

जिसे जगत् कहते हो जगत् माने है गति, और जो बद्ध है वही जीव है। कहते हो न, 'यत्र जीवस्तत्र शिवः', 'यत्र नारी तत्र गौरी', जहाँ गतागति का प्रश्न नहीं रहता, बन्धन का प्रश्न नहीं रहता, उसी को तो नित्य कहते हो। अब समझो, जहाँ गति है, अतएव उसका वहीं पर भी बन्धन कहाँ है? एक जगह में क्या वह रहता है? जैसे एक जगह नहीं रहता है कहते हो, वैसे मनोनाश होने पर भी उसे खोज नहीं पाते हो। चूँकि वह एक जगह बन्धन में नहीं रहता इसलिए उसे मुक्त कह सकते हो क्या? अच्छा, जाता क्या है और आता क्या है? गति देखो न समुद्र की ओर है। स्वयं स्वमुद्रा के रूप में। ये जो तरंग हैं, ये जल की ही तो लहरें हैं। जल में ही तो उनका विलय होता है। फिर जल ही तो लहर के रूप में हैं, उन्हीं का स्व अंग तो है। यह जल ही अंग है। जल के बरफ और लहर होने का मूल कारण क्या है? यह भी तो एक स्थान की बात है। विचार कर देखो तो। वास्तविक क्या प्राप्ति हुई। देखो।

अच्छा, एक जगह में रहता नहीं है, इसलिए उसे 'नित्य नहीं है' यह कहा जाता है। क्या नहीं रहता है? कौन नहीं रहता? कौन आता है? कौन जाता है? परिवर्तन (बदलाव) क्या है? कौन है? मूल को पकड़ो। सभी कुछ तो

छोड़ जाता है। सब तो छोड़ जाता है। अर्थात् मृत्यु छोड़ जाती है, मृत्यु मृत्यु हो जाती है। कौन जाता है, कहाँ जाता है, अथवा कौन आता है, कहाँ आता है? या आना जाना ही क्या वस्तु है? और फिर किसी भी क्रिया का कोई प्रश्न नहीं उठता, आने जाने का प्रश्न नहीं, कहाँ जन्म है, कहाँ मृत्यु है? विचार करो।

देखो यह जो विश्व ब्रह्माण्ड है, तुम कहोगे एक आत्मा है। फिर वे साकार रूप में भी 'स्व'-आकार है। 'स्व' अर्थात् जो नित्य वर्तमान हैं वे आकार रूप में हैं, उनमें क्या है? अक्रिया। कौन सी अक्रिया? भगवत्कर्म ही कर्म है। और सब अकर्म है, तुम लोग जगत् के दृष्टिकोण से कहते हो न। क्रिया का वहाँ प्रश्न नहीं उठता। वहाँ क्या है? 'स्व' क्रिया, यानी स्वयं ही क्रिया के रूप में है, स्वयं आकार में है, इसीलिए साकार कहते हैं। स्वयं गुणरूप में है, इसीलिए सगुण कहते हैं। ईश्वर, ईश्वरीय जहाँ पर प्रकाश स्वयं क्रियमाण अकर्ता होकर भी। वही वे सत्य स्वरूप हैं।

अक्रिया फिर भी आकार। आकार माने मूर्ति, उसमें अक्रिया अकर्ता। किसके प्रति कर्ता होंगे? कौन, कौन भी कहा है? यह जो क्रिया का बन्धन देखते हो यह इस रूप में ही नहीं है। स्व किया स्वयं नित्य जो नष्ट नहीं होता, नष्ट अर्थात् जो इष्ट नहीं है, वह जो अनिष्ट नहीं होता, केवल मात्र इष्ट ही है। ऐसी स्थिति में समझो, यह जो निराकार निर्गुण है वही साकार सगुण है। जल और बरफ में भेद क्या है, मूल की दृष्टि से बतलाओ? ऐसी स्थिति में एकमात्र वही तो है। यह जो चिन्मय चैतन्यमय है उन्हीं के नानारूप हैं, वही जो अरूप है। इस कारण सारांश यह कि सांसारिक कर्म कहो चाहे साधक के कर्म कहो, सब 'तत्' है, सभी कर्म मुक्त है। अर्थात् कर्म का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसीलिए बात क्या होती है जानते हो? एक नित्य वस्तु ही है, और तुम लोग नाना प्रकार को देखने में रत रहते हो, इसलिए अनित्य समझ कर कहते हो, 'कोई भी कर्म तो रहता नहीं, परिवर्तन ही उसका स्वभाव है।' यह जो परिवर्तनशील जगत् है, इसका परिवर्तन होने से क्या होता है? जिस कर्म में बन्धन का कोई प्रश्न ही नहीं रहता वही तो होना चाहिये। जगत् उसी का नाम है जिस गति में मृत्यु का मार्ग है अर्थात् सदा परिवर्तत रूप ही उसका स्वभाव है। जहाँ पर व्यक्ति अर्थात् बद्धता है, वह केवल इस गति का ही परिवर्तन है। उसकी ओर अग्रसर होने वाले अनेकों लोग विविध द्वारों से चेष्टाएँ करते हैं—

चेष्टा करना तो सभी का कर्तव्य है। इस दिशा को बदलने के लिए ही साधारण लोगों का तत्कर्म के विषय में निरत रहना है। किन्तु इस समय तुम विचार करके देखो कि तुम नित्य मुक्त हो, क्योंकि कर्म सदा ही मुक्त है, वह बाँध नहीं सकता। संसार में भी रस्सी से किसी को यदि बाँधते हो तो देखो न सड़ कर खिसक जाता है। लोहे की जंजीर अथवा सोने की जंजीर से बाँधो, वह भी एक न एक दिन टूट जाती है, नष्ट हो जाती है। ऐसा कौन सा जागतिक बन्धन है, जिससे तुम बाँधोगे वह कभी टूटेगा नहीं, नष्ट नहीं होगा? सामयिक बन्धन में केवल हाहाकार होता है, मन का बन्धन इसी तरह का होता है। क्योंकि मन एक जगह बँधा रहने वाला नहीं है। वह चंचल बालक के समान है— उसमें कोई भले-बुरे का विचार नहीं है, केवल आनन्द ही उसका लक्ष्य है। क्षणिक आनन्द से वह तृप्त नहीं होता, इसलिए वह चंचल है। किन्तु जब तक वह उस परम तत्व का पता नहीं पाएगा तब तक उसे चैन कहाँ? समाहित आत्मस्थ है। अपने में ही आप है। मुक्त होने के कारण ही तुम ऐसा समझते हो, मुक्ति चाहना ही तुम्हारा स्वभाव है। अतएव कर्मरूप में यदि किसी के भाग्य से वे प्रकट होते हैं, तब कर्म-त्याग हो जाता है। गति का रुकना मृत्यु का पथ है। केवल उसके त्याग के लिए ही मनुष्य नाना उपायों का अवलम्बन करता रहता है। जो त्याग हो जाता है, वही तो त्याग करना है।

अरे! मनोनाश मनोनाश जो कहते हो, मन तो महायोगी है। महायोगी! तुम्हीं तो उसे कहते हो बालक के तुल्य, पिशाच के तुल्य, पागल के समान और जड़वत्। यह जो जड़वत् है उसी को तो तुम महान् समझते हो। फिर कहते हो जो इस भाण्ड में अर्थात् शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है। अवतार प्रकाश जहाँ गोपाल के रूप में क्रीडा करते हैं। कितना मधुर कितना रस है। जिस समय साधारण लोग बालगोपाल की बाललीला पढ़ते हैं, देखते हैं अथवा सुनते हैं उस समय उन्हें अपने घर के बालक का ही स्मरण हो आता है। क्योंकि जिसके साथ परिचय है (उसी का तो स्मरण होगा)। उस तत्त्व के ग्रहण का अधिकार कहाँ? जिस समय राधाकृष्ण का प्रेमविलास, रासलीला, रामलीला देखते हो, ये जो सब चिन्मय अप्राकृत लीलाएँ हैं उनका दर्शन कहाँ (होता है)? जहाँ अनुभव होता है वहाँ चिन्मय को लक्ष्य करके ही ग्रहण होता है।

प्रश्न : जहाँ पर चिन्मय का अनुभव होता है वहाँ पर जागतिक ग्रहण कैसे?

माँ : क्योंकि बन्धन से मुक्त है न, जो नष्ट होने वाला है नष्ट होता है। केवल इष्ट का प्रकाश। इसलिए इस समय क्या देखते हो कहो ? बन्धन जो कट जाता है, जो कटने योग्य है वही कटता है। परन्तु भगवत्-प्रेम का बन्धन ऐसा बन्धन नहीं है, वह अबन्धन है फिर जहाँ ब्रह्मज्ञान कहते हो, जो समझते हो, यह तो समझने-बूझने का व्यापार नहीं है। जानना माने एक बोझ को उतारना और दूसरे बोझ को लेना। मन वाणी का अगोचर जो है। साधारण लोग रासलीला, रामलीला देख कर सांसारिक भाव के सम्बन्ध के बिना कैसे उसे ग्रहण करेंगे ? अधिकार ही कहाँ है ? किन्तु भगवान् की क्रीड़ा हो रही है, इस स्मरण से यथार्थ दर्शन और श्रवण के अधिकार की प्राप्ति की आशा (हो सकती है)।

यह जो मन है इसका स्वभाव ही नानात्व मानना है। उसके भीतर जिसको मानने पर मानने न मानने का प्रश्न नहीं उठता है, रूप में हो चाहे अरूप में हो, वही मानना किसी एक स्थान पर एक लक्ष्य होने पर ही हो सकता है। यह एक माने जहाँ पर दो का प्रश्न नहीं आता है। इसी कारण एकाग्र है। मन बहु-अग्र है। जो नानात्व मानने वाले मन का गमनागमन है वहाँ एक लक्ष्य होकर स्थिर होना (चाहिए)। समझो एक वृक्ष के सर्वांग में ही शाखा-प्रशाखाएँ फैल कर जिस बीज से पेड़ प्रकट हुआ था उस बीज को दे सकती हैं। ऐसी अवस्था में एक बीज में ही अनन्त प्रकार के पेड़, अनन्त प्रकार की शाखा-प्रशाखाएँ, पत्ते आदि हैं। अनन्त गति, अनन्त स्थिति, अनन्त प्रकाश, अनन्त अप्रकाश है। बीज में पेड़ और पेड़ में बीज। ऐसी स्थिति में जिस किसी स्थान पर एक लक्ष्य होने पर ही उस एक का प्रकाश क्यों न होगा ? एक में अनन्त, अनन्त में अन्त, एक (अकेला) अन-अन्त। जहाँ पर अन्त-अनन्त का प्रश्न नहीं है, वही चाहिए—जो है वही तुम लोग जो अन्त देखते हो वह अन्त वस्तुतः नहीं है। क्योंकि वे अन-अन्त हैं न ! सब रूपों में, अरूप में स्वयं ही है।

यह हुई कर्मासवित ! दूसरी होती है भावासवित। भाव भी तो कर्म ही है; फिर भी कभी कर्म में, कभी भाव में प्राधान्य रहता है। यह सब समझना बड़ा कठिन है। किसी ने प्रश्न किया भावासवित क्या है ? पहले [तो उत्तर दिया]— जैसे आसन, प्राणायाम, पूजा; जप, ध्यान, धारणा इत्यादि जो किसी को निमित्त बनाकर भाव के आश्रय में ही विशेष रहना अच्छा लगता है। जितने समय तक वह है अर्थात् भाव को प्रधान रूप से आश्रय कर भाव में आनन्द से गद्गद हो

कर रहता है। यहाँ पर तो फिर ज्ञानी नहीं है, मार्ग में चल रहा है। यह शुद्ध आसक्ति है। इसलिए इससे आगे जा सकते हैं। इस भाव का 'लेवल' में ही रहना अच्छा लगता है। सम्भवतः इस आसक्ति में ही दिन पर दिन अथवा एक पूरा जन्म ही बीत गया। किन्तु वहाँ दीर्घ काल तक रहने के कारण कुछ बदल गया है, इस कारण विशेष रूप में आगे नहीं बढ़ सका। किन्तु ऐसे किसी स्पर्श से जिस समय पूर्णता प्राप्त होगी उस समय आगे बढ़ सकेगा। किसी-किसी स्थान में चढ़ना उतरना पड़ता है, फिर जहाँ पर उतरने चढ़ने का प्रश्न ही नहीं, वही स्थिति चाहिए तो? कर्म और भाव दोनों में भी पूर्ण अंग के प्राप्त न होने पर आगे बढ़ नहीं सकते।



४

प्रश्न : प्रारब्धजनित शरीर जब तक रहता है तब तक अज्ञान का लेश रहता है या नहीं ?

माँ : सब कुछ जला सकता है, क्या लेश को [अविद्या लेश को] नहीं जला सकता ? हाँ, किसी स्थान में लेश रहता है, मगर एक स्थान है, जहाँ लेश का प्रश्न ही नहीं रहता।

प्रश्न : कहा जाता है कि ज्ञानी का शरीर दूसरे के प्रारब्ध को लेकर दूसरे की इच्छा से वर्तमान रहता है।

माँ : स्व-इच्छा, पर इच्छा, अनिच्छा यह इच्छा का बन्धन नाना प्रकार से अलग बात है ही। जहाँ पर स्वरूप में स्थिति है वहाँ इच्छा, अनिच्छा का स्पर्श रहने पर समझना होगा कि किसी न किसी प्रकार की अधीनता रह गयी है। सोचो न, जहाँ विदेह है वहाँ देही देह देखता है। यदि कहो कि शरीर रहेगा नहीं, शरीर क्या ज्ञान का बाधक है ? जहाँ स्वरूप का प्रकाश है, वहाँ तो देह का प्रश्न नहीं है। वहाँ कौन या किसी कुछ की बात नहीं उठती।

प्रश्न : ज्ञान से यदि सब कुछ जल सकता है तो शरीर का जलना भी उचित है—किसी का यह मत है।

माँ : अवश्य, शरीर को जलाता है इसमें क्या सन्देह ? शरीर में जो परिवर्तन हो जाता है समझो वही जल जाता है। तुमने जो कहा है, यदि मत की बात कहो तो, मत जहाँ पर है वहाँ पर पद देगा, पद पर खड़ा करायेगा। किन्तु जहाँ स्वरूप-प्रकाश है वहाँ शरीर के रहने न रहने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

प्रश्न : नित्य-लीला क्या है ?

माँ : नित्य कहने से क्या समझते हो ?

एक व्यक्ति : जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इनमें से किसी भी अवस्था में जिसका बाध नहीं होता है, वही नित्य है ऐसा हमने सुना है।

गंगा दीदी : द्वैत, अद्वैत सभी नित्य हैं, केवल दृष्टिकोण का भेद है। यदि दृष्टिभेद माना जाए तब तो भेद में अनित्य आ पड़ेगा।

माँ : इस दृष्टि का त्याग कर देने पर जहाँ पर पूर्णता की पराकाष्ठा, उत्कर्ष की चरम सीमा है, वहाँ द्वैत अद्वैत यों भेद क्यों करते हो ? जो जिज्ञासा कर रहे हैं वे दो देखते हैं और जो साधन कर रहे हैं वहाँ दो तो है ही, मगर लक्ष्य एक में है। समझो न, जो द्वैत हैं वे ही अद्वैत हैं—जैसे जल और बरफ।

प्रश्न : बरफ जलमात्र ही नहीं है, अर्थात् बरफ में और कुछ मिलाने की जरूरत पड़ती है।

माँ : उपमा सर्वांश में एक नहीं होती। इसलिए कहा जाता है कि गल कर जो जल हुआ है केवल उतने मात्र में दृष्टि है। एक स्थान है जहाँ द्वैत अद्वैत के प्रश्न के लिए अवकाश नहीं है जिसकी दृष्टिभंगी है वह जिस समय जो दृष्टि रहती है उस दृष्टि से कहता है। परन्तु जहाँ पर 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' है, वहाँ पर दूसरा कुछ भी नहीं ठहरता। द्वैत और अद्वैत का विभाग तुम अपनी दृष्टि से कहते हो। देह माने जहाँ पर देओ, देओ है।

दूसरी एक बात और है, इन उन पाँचों की दृष्टि में से किसी की भी दृष्टि में 'तत्' के सिवा और कुछ प्रतिभासित होता है तो समझना चाहिए कि वहाँ पर अविद्या है। यदि कहो एक विष्णु हैं, पर सर्वत्र विष्णु का दर्शन नहीं होता, तब हुआ क्या ? और यदि कहो शब्दब्रह्म, तो उस दशा में ब्रह्म कहो, विष्णु कहो, शिव कहो, वही तो है स्थान-स्थान पर, जहाँ पर जिस प्रकार से प्रकाश की आवश्यता है, विद्यमान है। सब नाम उनके नाम हैं, सब रूप उनके रूप हैं, सब गुण उनके गुण हैं। अनामी और अरूपी भी वे ही हैं।

एक स्थिति है जिसमें वे रूप धारण करें या न करें—जो सो ही है। वहाँ पर वाक्य के द्वारा किसका प्रकाश किया जायेगा ? और किसी स्थान में प्रकाश भी हो सकता है अपना अपने से। फिर कभी उनका प्रकाश नहीं होता है—किसके निकट होगा। रूप नहीं, गुण नहीं, वाक्य से क्या वर्णन करेगा ? जहाँ पर इसका कुछ भी छूटता नही, वहाँ पर अद्वैत को अटकायेंगे कहाँ ? उस स्थिति

में उनसे भिन्न और कुछ भी नहीं है, जो है वही, वहाँ पर क्या कहेंगे क्या नहीं कहेंगे—वाक्य से अप्रकाश जिस-जिस स्थिति में है वहीं से बात करते हैं न। जो कुछ भी कहे उन्हीं की कथा है, उन्हीं का गान है और उन्हीं के निकट है। वहाँ पर कोई कुछ भी अटकता नहीं है। यदि अटक जाए तो अज्ञान रह गया। वास्तव में तो वही वही वही। समझो न, मक्खन का खिलौना बनाया है, जहाँ पर उसे पकड़ो सभी जगह मक्खन है—आकार, प्रकार, प्रकाश जो भी है सब मक्खन। जरा सा मक्खन हटाने पर दरार पड़ जायेगी—अतएव जहाँ पर विभाग बँटवारे का प्रश्न नहीं है। प्रश्न जो नित्य लीला की बात कही गई है वह भगवान् अपने साथ स्वयं क्रीड़ा करते हैं। भगवान् जहाँ कहा गया है उनकी जो लीला है वह भी अनित्य नहीं हो सकती। ये जो सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् हैं, उनकी अनन्त लीलायें हैं और अनन्त क्रीड़ायें हैं। अनन्त में अन्त, अन्त में अनन्त। वे स्वयं हैं, वही जो स्वयं, अपने साथ अपने में खेल कर रहे हैं, वह नित्य लीला है। उसी स्थान में जहाँ जिसमें प्रकाश है। सब चिन्मय राज्य का व्यापार है न। वहाँ का विभाग भी चिन्मय है; क्योंकि अप्राकृत है। अद्वैत जो कहते हो वह तो द्वैत रख कर ही है। वहाँ यदि माया है कहो तो, 'हाँ माया है', यदि कहो माया नहीं है, तो 'हाँ माया नहीं है।' कुछ भी छोड़ा नहीं जाएगा। सब कुछ खप जाएगा। अद्वैत की धारणा नहीं होती है वह भी सत्य है, जो धारण होने योग्य होता है वह भी सत्य है, यही तो हैं। यह जो द्वितीय या द्विधा है यह द्विधा ही वहाँ नहीं रहनी (चाहिए)। मिथ्या को मिथ्या हो जाना (चाहिये)। यह जो जीव-जगत् लेकर अद्वैत कहा है, यदि अद्वैत है तो जीव-जगत् क्या है ? इस दिशा में यह बात कहाँ है ? जहाँ पर शुद्ध अद्वैत है, वहाँ पर दो के लिए फिर अवकाश कहाँ है ? फिर इस तरह की बात नहीं होती क्या ? "यत्र जीवस्तत्र शिवः, यत्र नारी तत्र गौरी"। उस दृष्टि से यहाँ पर भावना करके देखो। हाँ, किन्तु जहाँ से जो कुछ कहो—'सब कुछ ठीक है। कोई भी उसे अटकायेगा नहीं। माया भासती है कहो, चाहे न कहो—कहने का स्थान नहीं है। जहाँ पर कथन होता है नहीं भी होता, देखते हो नहीं भी देखते हो, यहाँ पर दृष्टि भंगी है। परन्तु जहाँ पर 'तत्' है वहाँ दृष्टि का प्रश्न ही नहीं उठता। अनजान से आवरण के कारण जिज्ञासा होती है। जब तक स्वरूप में स्थिति न हो तब तक जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

भासता है कहने पर ऊँच-नीच सभी बातें आती हैं। वहाँ क्या है क्या नहीं

है। जहाँ उतरने-चढ़ने की बात रहती है उस स्थिति को क्या कहोगे ? दिशा रही कहोगे न ? पर उतरना-चढ़ना कहने पर ऐसा स्थान है—कहाँ उतरता है ? अपने निकट ही वे उतरते हैं। जो चढ़ना है, वही उतरना भी है। जो उतरते हैं, वे ही चढ़ते हैं। उतरने चढ़ने की क्रिया भी वे ही हैं। उतरना यदि कहो तो वे तो खण्डित होते नहीं। अग्नि को इधर-उधर देखते हो, किन्तु वह जो है वही है, अग्नित्व नित्य है, चाहे जिस प्रकार से समझो। उपमा तो सर्वांश में नहीं होती। जो उतरते हैं, जहाँ से उतरते हैं और जहाँ उतरते हैं—ये सभी एक हैं। इनके सिवा और कुछ भी नहीं है।

प्रश्न : यदि वस्तु जैसी है वैसी ही रही तो ऐसी स्थिति में उतरना-चढ़ना क्या है ?

माँ : तुम लोगों की जगत् की ओर एक दिशा की दृष्टि है; अतएव यह बात उठती है। वह जो चरम-परम है, वहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता है। किसी स्थान में उतरना या चढ़ना होता है—भगवान् तो अवतीर्ण होते हैं ऐसा तुम कहते हो। लेकिन अवतरण का प्रश्न ही नहीं है—जिस स्थान में है उसी स्थान में है। वहाँ सब कुछ सम्भव है। समझ को लेकर तो उसे पकड़ा नहीं जाता।

प्राप्त फिर किसे करेगा, विद्यमान ही तो है। जिसे पाता है वही तो फिर जाता है। जो नित्य है उसके प्रकाश के लिए ही विधान है, विभिन्न मार्ग हैं। लेकिन देखो, मार्ग भी खतम हो जाते हैं। अर्थात् जिस कल्पना द्वारा तुम्हारी कल्पना दूर होगी उसे ग्रहण करो। अर्थात् कल्पनातीत होने पर तुम वास्तव में जो हो उसी का प्रकाश होगा।

फिर चमत्कार यह है कि चाहना ही स्वभाव है, वास्तव में जो स्वरूप ज्ञान आनन्द है, उसी को चाहना। क्रीड़ा करने के बाद घर लौट जाना ही स्वभाव है। क्रीड़ा का मैदान भी उन्हीं का है, खेल भी उन्हीं का है, बन्धु बान्धव भी उन्हीं के हैं, सब कुछ वे ही हैं। अज्ञान तो चाहते नहीं हो, अमृत चाहने का स्वभाव है—मृत्यु की क्या फिर चाहना होती है ? जगत् की गति अज्ञान का ज्ञान है। यहाँ पर भी देखा जाता है, घर बनाता है मजबूत, जिससे दीर्घकाल तक रहे—स्थिति चाहता है, वह भी सत्य है। यद्यपि मिथ्या कभी कह भी डाला है; किन्तु अच्छा नहीं लगता है।

अभाव न रहे यह चाहना ही मानव-स्वभाव है। किसी एक नूतन पदार्थ पर दृष्टि पड़ने पर 'यह क्या है', खोज करना तुम्हारा स्वभाव है।

एक कपड़ा लाने पर यह अधिक दिन तक टिके, जल्दी नष्ट न हो—अनन्त चाहना स्वभाव है। तुम वास्तव में जो हो उसका प्रकाश होने के लिए तुम्हारा चाहने का स्वभाव है। वहाँ नित्य, सत्य, अनन्त ज्ञान है। उसके लिए तुम्हारे मन को अनित्य में, असत्य में, अज्ञान में, अन्त में अच्छा नहीं लगता है। तुम जो हो, उसका प्रकाश चाहना ही तुम्हारा स्वभाव है।



५

प्रश्न : शास्त्रों में दो प्रकार की बातें पाई जाती हैं। तत्त्वज्ञान होने के बाद संसार करना और तत्त्वज्ञान होने के बाद साक्षीरूप से स्थित रहना—इनमें से कौन ग्राह्य है ?

माँ : चूड़ाला-शिखिध्वज के उपाख्यान का वर्णन करो मैं सुनूँ। ज्ञान के बाद घर-गृहस्थी करने की बात कहते हो क्या ?

एक व्यक्ति—नहीं यहाँ पर भी अज्ञानाभास है। यह एक अवस्थामात्र है, अभी तक चूड़ाला ज्ञानी नहीं हुई है।

माँ : ज्ञान होने पर फिर सन्देह संसार नहीं रहता, शरीर भी नहीं रहता। जहाँ संसार नहीं रहता वहाँ पर शरीर भी नहीं रहता।

प्रश्न : शरीर तो रहता है ?

माँ : कौन कहता है कि शरीर रहता है ? नाम-रूप का ही कोई प्रश्न नहीं उठता। उनकी दृष्टि है या नहीं इसका भी प्रश्न नहीं है। 'दो, दो', उसकी रट फिर किसके निकट है ? 'दो, दो' यह अभाव ही तो देह है। चूँकि संसार नहीं है, देह नहीं है, इसलिए वह कर्म भी नहीं है। अर्थात् देह, संसार और कर्म का प्रश्न ही नहीं है।—एकदम धोया-पोंछा—'नहीं है' यह भी नहीं है। बोलना जो है न बोलना भी वही है, चुप रह कर जहाँ स्थिति है, चुप न रहने पर भी वहीं स्थिति है, जो है वही है। बोलने न बोलने का प्रश्न ही नहीं है। अब समझ लो। घर-गृहस्थी करने के अनुरूप जो देखते हो वह क्या है ? हाँ, गीता में तो सब सच्ची बात है। यहाँ पर तो ऐसी ही बात है। इस शरीर से जहाँ से जिस धारा में बात पूछोगे वहाँ पर वह उसी भाव में है। इसलिए इस शरीर की क्या बात है और क्या बात नहीं है। किसी धारा (पद्धति) के रहने पर धरा (गम्य स्थान अर्थात् जहाँ तक उस मार्ग से पहुँचा जाय यानी जहाँ पर उस मार्ग की समाप्ति है) भी रहता है। जहाँ धरा (गम्य स्थान) है वहाँ उसके अतीत अधरा

(अगम्य स्थान) भी है । यहाँ पर धरा और अधरा का प्रश्न नहीं है, वही। जहाँ से जो बना लो, वही सुन पड़ेगा। इस शरीर के निकट यह मत, वह मत, इसका प्रश्न ही नहीं है।

प्रश्न : तब माँ भी बजती है क्या ? (हँसी)

माँ : जहाँ कान है; व्यर्थ काम में बजती है या ठीक काम में बजती है, यह तुम जानो। यहाँ बजने न बजने का कोई प्रश्न नहीं है। तुम्हारी माँ व्यर्थ ही है या काम की है यह तुम जानो। क्योंकि माँ तुम्हारी है, पुत्री भी तुम्हारी है। व्यर्थ है या काम की है यह बाप जानता है। (हँसी)

प्रश्न : यदि पिता जान जाए तो क्या फिर कुशल रहेगी ?

माँ : यह बात की बात है अर्थात् आनुषंगिक बात है—यह भी बात ठीक नहीं है। 'नहीं भी' नहीं है—अब कहाँ जाओगे ? 'कहाँ' भी कहाँ है ?



६

प्रश्न : एकांश ध्यान से सर्वांश कैसे होगा? ध्यान तो केवल एकांश में ही हो सकता है। कहा जाता है कि ध्यान से मन क्रमशः बृहत्तर वस्तु को धारण करता है, बाद में जब अधिक धारण करना मन की शक्ति के बाहर हो जाता है तब मन का अपने आप ही लय हो जाता है। तब फिर ध्यान नहीं रहता है, तब वह ज्ञान है। ऐसा किसी-किसी का मत है। किस प्रकार मन का यह सर्व-व्यापित्व हो सकता है इसे समझने में मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ।

माँ : ध्यान प्राप्त होने पर ध्यान होता है। ध्यान तो होना चाहिए। अच्छा, मन का जो लय हो जाता है कहते हो, मन उत्पन्न कहाँ से होता है?

प्रश्नकर्ता : आत्मा से। श्रुति में कहा है, वह छाया के तुल्य आत्मा से उत्पन्न हुआ है।

माँ : जहाँ उत्पन्न होता है वहाँ नष्ट भी—यह कैसी बात है? तब तो पुनः उत्पन्न भी होगा? यह जो कहते हो कि मन सर्वव्यापी है, यह बात समझ नहीं पा रहे हो। समझने की वस्तु ही नहीं है, इसीलिए समझ नहीं सक रहे हो। वह समझने योग्य नहीं है, वस्तु भी नहीं है। संसार के विषय भोगों का अनुभव करते हो, और जब इस ध्यान में क्षणिक एक सुख का या आनन्द का अनुभव करते हो, वह भी तो अनुभव ही है? किन्तु पूर्वोक्त अनुभव से उसमें कुछ अन्तर है।

यह जो तुमने कहा—समाधि से उतर कर कहना, यहाँ उतरना चढ़ना रहता है, यदि न रहता तो कहते क्यों? फिर जहाँ उतरने चढ़ने का प्रश्न नहीं है, ऐसी भी तो एक स्थिति है। यदि कहो कि समाधि में मन रहता है, यदि न रहे तो व्युत्थान-दशा में समाधि के अनुभवों को, थोड़े बहुत जितने भी हों, साधक कह सकता है, कहेगा कैसे? वह चाहे जो मन हो, जैसे शुद्ध मन। मैं तुम्हारी जगह से ही कह रही हूँ। अनुभव तो रास्ते की बात है। यद्यपि पूर्वोक्त दो

प्रकार के अनुभवों में तारतम्य है, फिर भी मन के विभिन्न स्थानों की बात ही तो है। समाधि भी तो कहते हो। अच्छा एक ऐसे दूसरे स्थान की भी बात है जहाँ उतरने-चढ़ने का प्रश्न ही नहीं है। इसी कारण उस स्थान पर शरीर का भी प्रश्न नहीं है। यह शरीर, कर्म और प्रश्न का उत्थापन यदि हो तो वह स्थिति नहीं है। मन का जो लय होता है कहते हो, तब लय कहाँ होता है ?

प्रश्नकर्ता : आत्मा में ही लय होता है।

माँ : जैसे नमक का गलकर लय होता है, वैसे ही मन का आत्मा में लय होता है; यही न। कहते हैं किसी दृष्टि में ऐसा भी तो है। वहाँ पर लय की बात है, वैसे यदि कोई सिद्ध योगी हों तो वे अलग करके निकाल कर ला सकते हैं।

प्रश्नकर्ता : आत्यन्तिक नाश की बात हो रही है।

माँ : क्या नाश लय है ? ना—स, अर्थात् वह नहीं, जहाँ स्व नहीं, उसी को तो नाश कहते हो ? जहाँ पर नाश हो जाता है। मनोनाश को क्या लय कहते हो ?

प्रश्न : हम कैसे इसे समझें ?

माँ : ....लाइन तो गुरु बतलाते हैं। कैसे धारण करना चाहिए इसकी लाइन गुरु बतलाते हैं। गुरु ही साधना देते हैं, करते-करते फल की प्राप्ति अपने-आप सामने आती है। 'अधर' (अग्राह्य) को 'धरने' [पकड़ने] की शक्ति गुरुकृपा से ही प्राप्त होती है। जहाँ पर क्या करें यह प्रश्न होता है, ऐसा कहते हो, वहाँ पर तो फिर परिपुष्टि प्राप्त हुई नहीं। इसीलिए जब तक प्रकाश न हो, निरन्तर किये जाओ। व्यवधान नहीं पड़ना चाहिए। व्यवधान पड़ने से गाँठ पड़ जाती है। जैसे कहते हो तैलधारावत्।

तुम्हारा ऐसा प्रयत्न रहना चाहिए कि निरन्तर अखण्ड धारा से किये जाना। आहार-निद्रा तुम्हारे हाथ में नहीं हैं, न रहें। तुम्हारा लक्ष्य रहना चाहिए अखण्ड की ओर। देखो, आहार, निद्रा प्रत्येक को ही, जिस समय का जो है, अखण्डरूप से तुम चाहते हो न, ठीक वैसे ही इधर भी अखण्डभाव से

ही प्रयत्न रहना चाहिए। उस समय मन की गति के साथ उस अखण्ड का स्पर्श हो जाएगा, यदि उस क्षण को एक बार पा जाओ। क्षण के भीतर सब क्षण पड़े हुए हैं। उस क्षण का स्पर्श होने पर तुम सब क्षणों को पा जाओगे। जैसे मान लो न सन्धि-क्षण—प्रातःकाल, मध्याह्न और सन्ध्या। जाने आने की सन्धि में जो शक्ति है उसका प्रकाश हो जाता है। यही जो तुम लोग 'इलैक्ट्रिक लाइट' इत्यादि कहते हो, अर्थात् युक्त स्थिति का क्षण, और क्या है ? जो स्थायित्व है वही सत्ता का प्रकाश होता है। सभी क्षणों में वह है तो, पर तुम उसे पाते नहीं हो, उसी को पाना चाहिए। अगर तुम उस सन्धिक्षण को पा जाओ। किन्तु वह क्षण कब किसके लिए प्रकाश में आवेगा, कहा नहीं जा सकता। लगे रहना चाहिए। किसका कौन क्षण है, जिस 'लाइन' को जो ग्रहण करता है, उसी के अनुसार और क्या ? जो व्यक्ति जिस क्षण में पैदा हुआ है, उसका सारा जीवन उसी रूप से नियन्त्रित रहता है न ! उसी प्रकार तुम्हारे लिए वह क्षण चाहिए, जिससे तुम इस धारा में पड़ सको। इस धारा का अर्थ है स्वभाव की धारा, महागति अर्थात् महायात्रा। उसके प्राप्त हुए बिना पूर्णता नहीं आ सकती। इसलिए गुरु पूर्ण जन्म-लाभ के लिए किसी-किसी को समय बतला देते हैं, जैसे प्रातः, सन्ध्या, दोपहर अथवा अर्धरात्रि। चार ही तो समय कहे जाते हैं। गुरु के निर्देश के अनुसार जिस-जिसका जो कर्तव्य हो, उसका उसे पालन करना चाहिए। गुरु का उपदेश जिसके लिए जैसा रहे। सबका एक मार्ग तो नहीं है। संयोगवश किस को किस दिशा से किस प्रकार पूर्ण करके आना पड़ेगा यह साधारण मनुष्य को ज्ञात नहीं है। इसलिए गुरु का आदेश ही पालनीय है।

यदि तुम्हारे भाव में और कर्म में उस क्षण का ठीक-ठीक योग हो जाए तो उसका प्रकाश हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिए गुरु की पद्धति पकड़े रहने की चेष्टा करनी चाहिए। उसके बाद दिखाई देगा कि हो रहा है। २४ घंटों में कोई एक समय निश्चित कर उनके अर्पण करना चाहिए। निश्चय करना चाहिए कि यदि सुविधा हुई तो अमुक आसन से बैठूँगा और अमुक जप करूँगा। क्रमशः समय अथवा संख्या बढ़ाओ। हर रोज बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। नियम कर लो कि अमुक तिथि या बार को बढ़ाऊँगा अर्थात् इतना अधिक करूँगा। ऐसा करके अपने को वहाँ पर बाँध रखने की चेष्टा करनी चाहिए। जहाँ पर भी रहना वहाँ ही उनका आश्रय लेकर लक्ष्य पकड़ कर पड़े रहना चाहिए। इस

चेष्टा के फलस्वरूप यह जो धारा है इसमें यदि तुम्हें गम्भीरता प्राप्त हो, बहुत समय बिता कर वह प्रारम्भ हो जाए, तुम्हें परिवर्तित कर दे रही है। तो तुम्हें दिखाई देगा कि वह तुम्हारी भोग की वृद्धि की दिशा को घटा रही है, संचित को लेकर ही काम किये जा रहो है। ऐसी भी कदाचित् तुम्हारे मन में प्रतीति हो सकती है कि चाहे जिस क्षण में शरीर चला जाएगा, मृत्यु चाहे जिस क्षण में आ जाएगी।

जगत् में जैसे नित्य नूतन सृष्टि होती है, मन उसे नित्य नूतन रूप में ग्रहण करता है। तो इस प्रकार छलने के फलस्वरूप तुम्हें प्रतीत हो सकेगा कि बाह्य बातें कम होती जा रही हैं और तुम अन्तर्मुख होते जा रहे हो। जितना ही यह प्रयत्न बढ़ता जाएगा, उतनी ही तुम्हारी यह दिशा खुलती जाएगी। इस प्रकार जितना बढ़ाओगे उतने ही दुर्भोग कम होंगे; फिर बढ़ेंगे नहीं। कर्म से कर्मक्षय होता है; यह भी तो कहा जाता है। हाँ, भाग्यानुसार थोड़े समय में भी होता है। देखो, शरीर को यदि खाना न दिया जाए, तो उसका खाद्यग्रहण बन्द नहीं होता। कहते हैं कि शरीर उस समय अपना मांस खाना शुरू कर देता है। इसलिए बाहरी भाव में जैसे पुष्ट रहते हो वैसे ही इस भाव को ले कर यदि आध्यात्मिक भाव ग्रहण करो तो तब जा कर तुम्हारी वह दिशा पुष्ट होगी। उसके अनन्तर कब किस क्षण में अग्नि प्रज्वलित हो उठेगी यह कौन जाने। इस-लिए वही बात है, उसी भाव को ले कर रहने की चेष्टा (करनी चाहिए)। उसके फलस्वरूप तुम्हारे ध्यान की पुष्टि होगी—सदा वही। क्योंकि मन तो उसी को चाहता है जिसे देने से वह पुष्ट होगा। एकमात्र परम वस्तु के सिवा और किसी से मन पुष्ट नहीं होता। तब तुम उस धारा में पड़ जाओगे।

तुम देखोगे कि जितना ही तुम्हारे भीतर की गति में रस का संचय हो रहा है, उतनी ही बाहर की गति में फिर रुचि नहीं हो रही है। उस समय मन इतना परिपुष्ट हो जायगा कि उसमें न जाने कब वह अभिन्नत्व प्रकट हो जाए। लय की बात जो तुम कहते हो, लक्ष्य-अर्थ में यदि 'तत्' कहते हो तो लय की बात जो कहते हो वह ठीक है। जड़ समाधि नहीं चाहिए, मन का जिससे लय न हो। मन क्या है, कौन है, इसका पता लगाना चाहिए।

मन लीन हो कर तदाकार,—यही कहते हो क्या? एक तो ऐसा है कि स्थान नहीं मिल रहा है अर्थात् मार्ग नहीं मिल रहा है इसलिए मन लीन हो

गया है और दूसरी ओर जो 'तत्' है वह स्वयंप्रकाश है, इसलिए मन के पृथक् अस्तित्वका प्रश्न ही नहीं उठता। वही स्वयंप्रकाश, उस समय मन का लय हुआ या नहीं, इस प्रश्न के उठने का अवसर कहाँ है? तुमने जिस दृष्टिकोण से जिज्ञासा की, (तदनुसार यह कहा)। एकांश को ले कर जो ध्यान आरम्भ की बात कही है एकांश के भीतर ही तो सर्वांश रहता है, उसका प्रकाश करने के लिए ही तो गुरुशक्ति-युक्त आदेश का पालन (करना पड़ता है)। यह सब एक दिशा की बात की। साधारण केवल एक आभास मात्र कहा है।

और देखो, किसी समय दिखाई देता है कि ध्यान में बैठने पर होश नहीं रहता है। किसी-किसी को एक प्रकार के नशे का-सा आनन्द प्रतीत होता है, जिससे विवश हो जाता है, लम्बा समय उसी भाव में बीत जाता है। उठ कर कहता है क्या अपूर्व आनन्द था, मैं आनन्द में था। किन्तु यह तो ज्ञान नहीं है। अतएव ध्यान का भी एक स्थान है, जिसमें आनन्द की प्रतीति होती है, मानो आनन्द में डूबा था। कौन था? मन ही न। किन्तु यह किसी जगह स्थलविशेष में विघ्न डालता है। बार-बार उसी जगह जा कर भी यदि लौट-लौट कर खड़ा रहे तो मूल का स्वाद नहीं पाएगा। वास्तविक ध्यान तब होगा जब कि सांसारिक रस का ज्ञान नहीं रहेगा। जिस समय वास्तविक ब्रह्मभाव या आत्म-साक्षात्कार की दिशा प्राप्त होगी, वहाँ कहाँ था अथवा इतनी देर तो कुछ भी नहीं जान सका। अनजाने ही तो? यह भी नहीं रहेगा। मुख से जिस समय कहा जा सकता है कि क्या आनन्द था, यह रसास्वाद है, यह विघ्न है। सचेतन रहना चाहिए, जाग्रत रहना चाहिए। जड़ या योगनिन्द्रा होने पर चलेगा नहीं।

ध्यान के बाद सांसारिक आनन्द फीका-फीका लगेगा, अलूना और क्या? वैराग्य किसे कहते हैं? सांसारिक प्रत्येक वस्तु में मानो वैराग्य की आग जला दी हो, मानो 'शॉक' (धक्का) लग रहा हो। उस समय अन्तर-बाहर जागरित हो उठता है। किन्तु वैराग्य से सांसारिक पदार्थों में वैराग्य या उपेक्षा नहीं होगी, ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि शरीर लेता नहीं है। विरक्ति या क्रोध नहीं होगा। जब वैराग्य धड़धड़ करके जल उठेगा, तब क्रमशः क्या होगा? यह (जगत्) क्या है? यह प्रश्न विचार में आएगा। जगत् का मिथ्यात्वबोध प्रत्यक्ष प्रज्वलित हो उठेगा। जगत् की प्रत्येक वस्तु मानो आग सी प्रतीत होगी, छुई नहीं जाती। किसी समय यह अवस्था भी जागती है।

इस समय जो भोग भोगते हो वे अनित्य प्रतीत नहीं होते, उनमें सुख की प्रतीति होती है। जितना वैराग्य बढ़ेगा उतना ही भोग का रस मर जाएगा, मृत्यु की मृत्यु ही हो जाएगी, काल की वस्तु है न ? सम्प्रति जो काल के अतीत की ओर जा रहे हो, वही तुम्हारे संसारी सुखबोध को जला रहा है। उसके फलस्वरूप जगत् क्या है, यह प्रश्न उठेगा। जब तक सुखबोध रहेगा तब तक तो वह प्रकट होगा नहीं। कालातीत की ओर जाते हो इसलिए काल की वस्तु अपने को पकड़ा देगी।

यदि नीचे उतर कर जैसा-तैसा (विपरीत आचरण) कर सकते हो तो समझना चाहिए कि तुम में परिवर्तन नहीं हुआ। जब ध्यान होगा और वैराग्य पैदा होगा तब उधर हाहाकार लगेगा, क्षुधा को जगा देगा। फिर तुम देखोगे कि सांसारिक किसी वस्तु से भी तुम्हारी भूख निवृत्त नहीं हो रही है, तुम्हारी तृप्ति नहीं हो रही है।

क्या कहूँ बाबा, (इस) शरीर के निकट आकर (लोग) कहते हैं, मेरी लड़कियाँ और लड़के इस प्रकार के हैं। आँखों के सामने मोटर में बैठ कर चले गये, पर बाप माँ का क्या रोना है, एक बार आँख उठा कर देखा भी नहीं। इनका रोना उस समय उससे छू भी नहीं गया। देखो बाबा, इस मार्ग में भी ठीक ऐसे ही विषयभोग छूते नहीं हैं, ऐसा स्थान है। जिन जिनको अपना समझा था ये तो केवल रक्त या मांस के पिण्ड हैं, इनसे क्या करूँ ? ऐसी प्रतीति होती है। जैसे कोई जान-सुन कर अग्नि में हाथ नहीं डाल सकता है, साँप की गर्दन पर पैर नहीं रख सकता है, ठीक वैसे ही इधर केवल देख कर चले जाओगे। तब तुम्हारी उस ओर गति होगी। तदुपरान्त जब वैराग्य के ऊपर भी वैराग्य होगा तब वैराग्य-अवैराग्य का प्रश्न ही नहीं रहेगा, जो है वही। देखो, ऐसा भी तो कहते हैं कि किसी को करते-करते ज्ञान होता है। करते-करते क्या ज्ञान होता है ? ज्ञान क्या क्रिया के अधीन है ? आवरण का नाश होता है। आवरण का नाश होने पर जो प्रकाश है उसका प्रकाश होता है। कर्म का जो फल है, जिस ओर की क्रिया करता है उस दिशा का प्रकाश होता है। निरावरण प्रकाश ठहरा स्वयं जो नित्य है। किसकी कौन धारा है, यह गुरु जानते हैं।

प्रश्न : कभी प्रतीत होता है विषयमात्र है और कभी ज्ञानमात्र है। एक ही वस्तु की दो समयों में दो प्रकार की प्रतीति कैसे होती है ?

माँ : क्योंकि तुम समय के अधीन हो कर कहते हो। स्व-मय तो फिर हुए नहीं हो, वहीं पर मीमांसा है। परमार्थ दिशा का मन में होना अच्छा है। कारण कि व्यर्थ तो कुछ भी नहीं जाता। जिसका ग्रहण करो वह किसी न किसी समय काम देगा। असली बात है, जैसे जलतत्त्व, वायुतत्त्व, आकाशतत्त्व इत्यादि—ये सब क्या हैं? फलतः सृष्टि क्या है? तब क्रम-क्रम से अब एक-एक तत्त्व का प्रकाश ज्ञान में प्रस्फुटित होगा, फूल खिलने के समान और क्या? पेड़ में फूल फल हैं, इसीलिए न वे प्रकट होते हैं। इस कारण जिस तत्त्व का प्रकाश होने पर सब तत्त्वों की मीमांसा होती है।

विषय जो कहते हैं, विषय माने जिसमें विष है, जो हानि पहुँचाता है, मृत्यु की ओर खींच ले जाता है। निर्विषय अमृत है, जहाँ विष की गन्ध नहीं है, उसका प्रकाश।

प्रश्नकर्ता : उस वैराग्य का दाह भी तो कुछ र ह गया?

माँ : दाह किससे होता है? कोई घाव होने पर ही तो? तभी तो प्रदाह होता है। यह घाव किसका है? घाव रहे तभी तो दाह होगा? यह भान (होना चाहिए)। घाव तब तक रहेगा जब तक कि वह प्रकाश न होगा। जिस स्थिति में ज्वाला रहने पर अच्छा होता है वह स्थिति तो अच्छी है, विकारग्रस्त होने पर ज्वाला का अनुभव नहीं होता है; देखते हो न सुख, शोक और ताप में डूबे पड़े हैं; यह तो चाहिए नहीं। इस प्रकार, यही तो संसार है, जहाँ पर नित्य संशयरूप में है। कहो तो, ज्वाला क्यों होती है?

प्रश्नकर्ता : भगवान् भी खींचते हैं, विषय भी खींचते हैं, इसकी ज्वाला है।

माँ : मैं छोड़ नहीं सकता हूँ, छुड़ाने की साध है, यह जो बात है। यह साध जागे तो, साध के जागने पर किसी समय छुड़ा सकोगे। पाने पर भी ज्वाला (विषय), और न पाने पर भी ज्वाला। यह जो पाने पर ज्वाला है, यह चाहिए, विषय न पाने पर विषयप्राप्ति की इच्छा की जो ज्वाला है यह मृत्यु की दिशा है, दुःख की दिशा है।

प्रश्नकर्ता : पाने की ज्वाला की तो निवृत्ति नहीं होती है, जितना ही पाता है उतनी ही चाह होती है। (विषयभोग के परिणाम में ज्वाला)।

माँ : यहाँ विषय का अभाव तो मूर्तिमान है, अभाव की ज्वाला तो रहेगी ही। इसीलिए कहा जाता है अभाव की गति और स्वभाव की गति। अभाव की गति का स्वभाव ठहरा कभी पूरण की ओर। सदा अभाव को जागरूक रखना ही उसका स्वभाव है। स्वभाव की गति ठहरी स्वभाव में स्थित करना, स्वभाव के कर्म की पूर्णता की प्राप्ति करना। इसलिए यदि स्वभाव की गति द्वारा पूर्ण करने की चेष्टा करो तो स्वभाव की गति स्वभाव में स्थित होने की ओर ले जाएगी।

प्रश्नकर्ता : और न पाने की ज्वाला ?····(भगवान् की अप्राप्ति की ज्वाला) विषयभोग नहीं चाहिए, किन्तु आ जाता है। भोग किये जाना ही पड़ता है।

माँ : अरे, अप्राप्ति की ज्वाला तो अच्छी है। जो खाया है उसकी डकार तो आएगी ही। साध करके गहना पहनते हो, उसका भार वहन तो करना ही पड़ेगा। परन्तु बात यह है कि यह भार हट जाएगा, क्योंकि हटने की ही चीज है न।

प्रश्नकर्ता : ज्ञानी को क्षणिक अज्ञान होता है या नहीं ?

माँ : ज्ञानी कहोगे और क्षणिक अज्ञान कहोगे, ऐसी बात तो नहीं होती, बाबा। किसी एक स्थिति में क्षणिक स्थिति है उसमें यह बात ला सकते हो। असल में ज्ञान जो है वहाँ यह बात नहीं है। तुम उसे जिस रूप में ही क्यो न देखो, वह जो है वही है। ज्ञान जिसको कहोगे उसमें अज्ञान का प्रश्न कहाँ ? जिस जगह अज्ञान की बात है वहीं पर ज्ञान अज्ञान के सदृश दिखाई देता है। इसलिए यहाँ पर उतरने और चढ़ने की बात उठाते हो। मुक्त होने पर जैसे देह रहने का प्रश्न नहीं होता, उसी प्रकार उतरने चढ़ने का प्रश्न भी नहीं रहता। चढ़ने-उतरने की भी स्थिति है, वास्तव में है।



७

प्रश्न : आप क्षण के अन्दर सब क्षण कहती हैं, यह मेरी समझ में नहीं आता है।

माँ : जिस क्षण में जिसने जन्म लिया है, वह उसे भोग कराये जाता है और साधन करके जो क्षण मिला वह क्षण उसे सब क्रियाओं की पूर्णता की ओर ले जाता है। अर्थात् कर्मों को पूर्ण कर देता है। समझो न, प्राकृत के माने जो इन सबके मध्य में है। गुण माने जो गुणन किया जाए, वह गुण है। क्योंकि यह स्थान तो नित्य नहीं है। काल में प्राकृत जगत् की जो प्रतीति है वह क्षण-स्थायी है। क्योंकि इधर अग्रसर होने पर वह नष्ट हो जाती है। वैराग्य जला सकता है, भाव भक्ति गला देती है, जो जलने के योग्य है और जो गलने के योग्य है उसको। जो क्षण गलता नहीं और जलता नहीं—वह नित्य है। उसे पकड़ने की चेष्टा करनी चाहिए, बस। अरे, यही तो वह है, वह पृथक् कहाँ है? धारा में पड़ जाने के समय की वह बात है। वर्तमान, भविष्यत् और अतीत उसके निकट पृथक् कहाँ है? दीवार के उस पार से हाथ बढ़ा कर वस्तु लाने के सम्बन्ध में (योगी के दृष्टान्त से जो तुमने कहा था)। जहाँ वह प्रकाश है, वहाँ दीवार के रहने पर भी दीवार नहीं है, न रहने पर भी दीवार है। पर्दे के उस पार वस्तु है, सामने पर्दा है। पर्दा पहले नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा और वर्तमान में भी नहीं है। ऐसा भी है। समझो न, जिस योग में पर्दे का व्यवधान उसके काम में बाधा नहीं डाल सकता है, यह देखना भी उसी प्रकार का है। फिर जो देख सकता है, उसके निकट गति और स्थिति भिन्न रहते हुए भी भिन्न नहीं है। वहाँ सब कुछ सम्भव है। और सदा सब बातें कहने का ख्याल नहीं रहता। यह सब चमत्कार-राज्य है। जिस क्षण को तुम पाते हो, वह विकृतक्षण है, महाक्षण में यह स्थिति और अस्थिति जो कुछ है, रहने पर भी नहीं है एवं है भी। फिर उस महाक्षण और खण्डक्षण का कोई प्रश्न उठता ही नहीं।





८

आज रात को फिर क्षण के सम्बन्ध में जिज्ञासा उठने पर माँ ने कहा—

माँ : क्षण का अर्थ है समय, किन्तु वह तुम लोगों का यह समय नहीं है। समय माने 'स्व-मय' जहाँ पर 'स्व' के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

प्रश्न : गति में स्थिति और स्थिति में गति, यह क्या है ?

माँ : बीज मिट्टी के साथ ज्यों ही युक्त हुआ अर्थात् मिला, उस मुहूर्त में जो स्थिति है, वही स्थिति ठहरी। फिर अंकुरित होने की ओर चला, चलना तो गति है। गति माने एक स्थान में न रहना। फिर स्थान में ही तो था। था माने है। पेड़ जितना बड़ा होता जाता है, प्रत्येक स्थान ही में है और सामयिक भी है। फिर पत्तियाँ बड़ी होती हैं, गिरती हैं, एक स्थान में नहीं हैं। हैं और नहीं हैं एक पेड़ में ही तो। पेड़ पर फल हैं इसीलिए देगा। देगा माने देता है। उपमा तो सर्वांगीण होती नहीं।

फिर क्षण के प्रसंग में माँ ने कहा—

माँ : सारा समय ही तो क्षण है। जैसे एक पेड़ में अनन्त पेड़, अनन्त पत्ते, अनन्त गतियाँ और अनन्त स्थितियाँ हैं, वैसे ही एक क्षण में अनन्त क्षण, अनन्त क्षणों में एक क्षण है। देखो अब गति और स्थिति उस क्षण में ही हैं। ऐसी स्थिति में क्षण का प्रकाश यह बात कैसे उठी ? इस कारण उठी, जैसे तुम लोगों का जो भिन्न-भिन्न भाव है, वह भेदज्ञान पर आधारित है न ? इसीलिए तुम्हारे निकट भेद हैं। यह जो तुम्हारे निकट भेद है अर्थात् तुम जो सृष्ट हुए हो उस समय में अर्थात् जिस क्षण में हुए उसी के अनुसार तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारा चाहना, तुम्हारा पाना, तुम्हारी पुष्टि और जिज्ञासा—सब कुछ हैं। इसीलिए तुम्हारे जन्म का क्षण पृथक् है, तुम्हारी माँ का क्षण अलग है तथा तुम्हारे पिता का क्षण अलग है। अलग प्रकृति और स्वभाव है। तुम लोगों को अपनी-अपनी लाइन के अनुसार ऐसा समय, ऐसा क्षण पाना होगा जिस योग से तुम युक्त रहे

हो, उसका प्रकाश होने के लिये अर्थात् महायोग का प्रकाश होने के लिए। महा-योग माने विश्व ब्रह्माण्ड तुम में है, तुम उसमें हो। फिर विश्व ब्रह्माण्ड कहने का भी कोई प्रश्न नहीं है। है, नहीं, नहीं भी नहीं, है भी नहीं, उसके आगे जो कहो वही है। उसका, जिस रूप में हो, प्रकाश होना चाहिए। जो क्षण है, जिस समय को पा लेने पर तुम अपने को जान सकोगे। तुम्हारा अपने को जानने का अर्थ है तुम्हारे पिता-माता का जिस क्षण में प्रकाश हुआ, उसे भी तुम पा जाओगे। केवल माता-पिता ही को नहीं, समग्र विश्व ब्रह्माण्ड को। जिस क्षण का सूत्र पकड़ कर यह होता है। अपने को जानना तो तुम्हारे शरीर को ही जानना नहीं है, जहाँ परम पिता, परम माता, परम बन्धु, परम गति आत्मा, जो नित्य है, उसका परिपूर्ण प्रकाश होना उसका अर्थ है। जैसे किस क्षण में जन्म होता है, उसे तुम जानते नहीं हो, फिर जो क्षण मिला, उसी को 'अच्छा मैं यही हूँ' यों मान लेते हो। जिस मुहूर्त में, जिस क्षण में तुमने 'वाह यही मैं हूँ' यों अपने को पाया, उसी मुहूर्त में, तुम विश्वब्रह्माण्ड पा गये जैसे एक बीज पा लेने पर अनन्त वृक्षों की प्राप्ति हो गयी। इसीलिए उसी क्षण को प्राप्त करना चाहिए जिस क्षण की प्राप्ति होने पर शेष पाने का प्रश्न नहीं रहता है।

अभाव और स्वभाव एक स्थान में ही हैं—एक मात्र उसी में। अभाव स्व-भाव क्या हैं ? वे ही हैं। क्योंकि एक बीज ही तो है; वही बीज है, वही नाना-प्रकार है, वही तो है। अभाव से अभाव की पूर्ति करते हो, इसलिए अभाव निवृत्त नहीं होता है एवं अभावज्ञान भी निवृत्त नहीं होता है। वह अभावज्ञान जब जाग्रत् होता है तभी विशुद्ध जिज्ञासा होती है। उस अभावज्ञान के माने हैं अपने ज्ञान के अभाव का अनुभव होना इसीलिए विशुद्ध जिज्ञासा होती है, यह जाने रहो। दो कहो, एक कहो, अनन्त कहो, जो जो कहो सब ठीक है।



९

माँ : तुमने जीव का प्रसंग छेड़ा, इसीलिए यह बात कही गयी है, यह जानो। यदि किन्हीं की संसार के प्रति ऐसी भावना रहे कि यह अमुक्त है तो वे मुक्त कहाँ हैं ? वहाँ देखना-वेखना कहाँ हैं ? किसी स्तर पर तो देखना-वेखना निश्चय ही रहता है। मुक्त-अमुक्त का प्रश्न कहाँ है ?

जैसे तुम्हारे हाथ, तुम्हारे पैर, तुम्हारी अंगुलियाँ, तुम्हारा सिर यानी सर्वांग लेकर तुम एक जीव हो, यही न तुमने कहा ? फिर यदि तुम अपने में एक जीव न कहकर अनन्त जीव कहो, तो तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर में कितने ही जीव हैं, प्रत्येक रोमकूप में जीव हैं, गिन कर भी उनका अन्त पाना कठिन है। तुम बढ़ रहे हो, चाहे घट रहे हो, इस प्रत्येक भाव में कितने ही जीव हैं। तुम पहले जो नन्हें बच्चे थे, इस वक्त शरीर बढ़ने पर क्या तुम वह नन्हें बच्चे नहीं हो ? यदि तुम वह नन्हें बच्चे न रहो तो तुम्हारा यह शरीर ही कहाँ रहेगा ? यह कोई गप नहीं है। तुम घर गये, जा रहे हो और घर में हो—सब एक ही साथ। सृष्टि, स्थिति और लय सदा हैं। कल्पना करो कि तुमने जिस समय वहाँ जाऊँगा यह सोच कर पैर बढ़ाया, उसी क्षण तुम्हारा स्थान-त्याग और स्थान-ग्रहण हो गया यानी गति और स्थिति हो गयी। एक गति रूप में स्थिति हुई और दूसरी हुई–पैर बढ़ाया। कहाँ ? जहाँ थे वहीं। समझना कठिन है !

सृष्टि, स्थिति और लय होते हैं। ये जो सृष्टि, स्थिति और लय हो रहे हैं तुम्हारे अन्दर ही। अपना अन्तर तो बाहर निकालो। तुम हो, इसलिए सारा ब्रह्माण्ड है, तुम्हारे अन्दर ही सारा ब्रह्माण्ड है। अतीत और अनागत (भविष्यत्) तुम्हारे अन्दर ही है। लोक, परलोक आदि जो कुछ भी है सब तुम्हारे अन्दर ही हैं। वह तुम यदि मुक्त हो अर्थात् तुम मुक्त हो इसका तुम्हें भान हो तो फिर अमुक्त का प्रश्न उठ सकता है क्या ? तुम हो, सारा जगत् है, इसीलिए यह बात हुई न। जैसे उस समय चर्चा चली थी न कि सबके अन्दर ही सब है। तुम्हें 'राम' कह कर पुकारा गया। किसी ने कहा हम तो राम नहीं देख रहे हैं, हम

तो देख रहें हैं, कमल। यह शरीर तो असत्य बात कहता नहीं है, यह बिलकुल सच बात है। जैसे राम सत्य हैं, वैसे ही कमल भी सत्य है। जहाँ मिथ्या न देखने का स्थान है वहाँ वही है; चाहे जो कहो।

एक आदमी का पहले से एक नाम था। उसने कहा मेरा एक नाम और रखो। उस समय क्या उस नाम से वह बड़ा या छोटा कुछ हुआ ? उस नाम से जो प्रीति रही इस नाम से भी वही प्रीति रही। अस्थायी प्रीति घट बढ़ सकती है, किन्तु नाम के कारण तो वह समान ही है। वह नाम जैसे हुआ था, वैसे ही यह नाम भी हो सकता है। तुम जैसे कमल हो, वैसे ही तुम राम भी हो, यह एकदम सत्य है। उसी दृष्टि से वैसे ही सर्वनाम, सर्वरूप और अरूप भी हो, प्रकट और अप्रकट अवस्था-विशेष से विश्व ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह तुम में है। अपने को पाने के माने हैं सब वस्तुओं को निर्द्वन्द्वरूप में पाना। वास्तव में एक मात्र वही तो है, मुक्त वह एक ही है।

यह शरीर कहता है सब में ही सब हैं। यह हमेशा ही तो कहता है जैसे शरीर शिथिल हो जाता है—जाती हूँ एक ओर और शरीर चला गया दूसरी ओर। किन्तु उस समय शरीर इधर-उधर गया इसलिए प्रश्न नहीं उठता है, जैसे तुमको राम कहने पर प्रश्न उठा। सचमुच ही सबके भीतर सब है, इस दृष्टि से बात कही गयी है। फिर कभी-कभी तुम्हारी बाल्यावस्था में अथवा वृद्धावस्था में तुम्हारे साथ जैसे बातें की जानी चाहिए, वैसे बात कही जाती है। ऐसे ही इस समय इस शरीर का कहना अथवा बात करना हो रहा है—किस प्रकार से। तुम्हारी इतनी बड़ी उम्र होने पर भी तुम्हारे शिशु शरीर के साथ बातें होती हैं। परन्तु यहाँ पर मिथ्या अथवा भूल-भ्रान्ति का प्रश्न नहीं है। तुम केवल कहते हो भूल,—मिथ्या,—वह भी वही है। एक मात्र वही है, वही है।

यहाँ पर प्रश्न के उत्तर में माँ फिर कहने लगीं—

माँ : यह जो शिशु, वृद्ध आदि अवस्थाएँ हैं इनका अस्तित्व केवल पृथक्-पृथक् रूप से ही नहीं है, किन्तु एक ही समय, एक ही जगह में है। जो कहता है एक ही समय, एक ही जगह में दो वस्तुएँ नहीं रह सकती हैं, उसने न एक ही पाई और न दो ही पाई। फलतः वह अनन्त ही कहाँ से पाएगा ? किसी जगह में एक, दो और अनन्त का भी प्रश्न नहीं है: जहाँ पर कि पाने और न पाने

का प्रश्न नहीं उठता—जो है वही है। समझाने के लिए ही तो कहना होता है। फिर जिसने एक पाया उसने दो भी पाए और अनन्त भी पाए—एक जगह में और एक हो समय में। यह जो तुम लोगों के पीछे सदा अभाव लगा है, सो क्यों ? उसका कारण यही है कि न पा कर पा चुके हैं ऐसा मान बैठे हो। तुम लोगों की दृष्टि में यह एक ओर की बात है, जहाँ एक में सब हैं और सब में एक है।

यह जो भागवत की कथा है यह समग्र कथा है। कोई भी कथा इस दृष्टि से देखने पर छूटती नहीं है। वैसे नित्य नूतन होती है और होगी, जहाँ जिस भाव का प्रकाश है। कुछ भी वहाँ छूटता नहीं, जहाँ पर कि विशुद्ध सत्य का प्रकाश है।

प्रश्न के उत्तर में पुनः माँ बोलीं—

माँ : तुम लोगों में एकतरफा दृष्टि है, इसीलिए तुम लोग पूछते हो—यह क्या समग्र का अंश है अथवा एक ही जगह सब कुछ है ? इस शरीर का कथन है तुम जैसा करते हो वैसा ही। जहाँ सब में सब है वहाँ चाहे अंश ही कहो, चाहे एक जगह में ही कहो। इसमें किसी के छूटने का प्रश्न नहीं है अर्थात् कोई भी छूटता नहीं है। तुम लोग जिस समय जिस प्रकार की बात जितनी कहलाते हो, उतनी ही बात हो जाती है। जिस तरह जितना बजाते हो (उतना) सुनते हो। ऐसा न समझो कि इसमें इस शरीर का मत है। कोई मत-अमत नहीं है कहो, तो एकदम नहीं है। है कहो, तो जो कहो वही है।



: १० :

आज सांझ के समय हिमाचलप्रदेश के चीफ् कमिश्नर मिस्टर मेहता सपत्नीक माँ के दर्शनों के लिए आए थे। माँ के समीप उनका यह प्रथम बार आना हुआ। माँ ने उपदेश के बहाने उनसे कई बातें कहीं।

माँ : विश्वास नहीं होता है यह कहते हो, किन्तु इसी विश्वास में स्थिति होनी चाहिए। जहाँ 'नहीं' है वहाँ 'हाँ' भी रह जाता है। 'हाँ' और 'ना' इनके अतीत कौन है ? विश्वास करना ही पड़ता है। मनुष्य के भीतर जो विश्वास भाव है उसी से भगवान् के ऊपर विश्वास आ जाता है। इसी से मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। विश्वास किसी को नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। किसी न किसी प्रकार का विश्वास है ही।

मन की होश माने आत्मज्ञान की ओर आना स्वाभाविक है। लिखना पढ़ना सीखने के समय लड़के-बच्चे डाँट-फटकार खाते हैं। भगवान् भी कभी-कभी एक-आध डाँट-फटकार देते हैं, यही उनकी दया है। यह डाँट-फटकार दुनिया की दृष्टि में बड़ा कष्ट है, किन्तु इसी से परिवर्तन हो जाता है। इसी से शान्ति की दिशा खुल जाती है, जो दुनिया का सुख है वही उलट जाता है, फिर जो परम-सुख है उसके प्रति गति होती है।

हाँ, यह तो सांस का घर है, इसी से कष्ट है। यहाँ दो तरह के यात्री हैं। एक घूमने-भटकने वाले यात्री—देश देखने, तमाशा देखने के लिए ही वे मानो हैं। और एक स्वभाव के यात्री हैं, अपना घर पाने के लिए अर्थात् अपने को जानना (उनका उद्देश्य है)। घूमने-भटकने की यात्रा में दुःख होता है। जब तक अपना घर नहीं मिलता तब तक दुःख है। भिन्नरुचि दुःख देती है, दुःख देती है दोष रहने से, दो का अस्तित्व रहने से। इसीलिए कही जाती है 'दुनिया' (दु + 'निया' = दो को लेकर)।

जैसा संग वैसा विश्वास—इसलिए सत्संग है। विश्वास माने अपने को

मानना। अविश्वास माने दूसरे को अपना समझना। कभी भगवत्कृपा में प्राप्त होने की दिशा होती है, कभी देखा जाता है, वे ही मन में व्याकुलता जगाते हैं। कभी अनायास से अथवा कभी डाँट-फटकार से—सभी भगवान् की करुणा है।

सभी समझते हैं, 'मैं करता हूँ।' किन्तु सब वहीं से संचालित होते हैं, वहीं 'कनेक्शन' है, वही 'पावर हाउस' है—लोग समझते हैं मैं करता हूँ। कैसी सुन्दर गाड़ी फेल होती है, सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी। क्या इससे समझ में नहीं आता कि मेरा यह चलन-वलन कहाँ से है? जिसके साथ जब जो व्यास—उसका बन्दो बस्त पक्का है।

नित्य सम्बन्ध। फिर उनके खेल में नित्य सम्बन्ध होता है, टूटता है। देखने से मालूम पड़ता है, टूटता है, किन्तु टूटता नहीं, नित्य ही है। फिर, किसी भी दृष्टिकोण से सम्बन्ध की बात ही नहीं है। एक आदमी के साथ इस शरीर की भेंट होने पर उसने कहा—आपके साथ यह नूतन भेंट है। इस शरीर ने कहा एक तरह से कहो तो नित्य नूतन, नित्य ही पुरातन।

दुनिया की रोशनी आती है, जाती है, और बुझती है। नित्य जो रोशनी है, वह कभी नहीं जाती। जिस रोशनी से इस रोशनी को देखते हो, विश्व ब्रह्माण्ड में जो है सब कुछ देखते हो, वह रोशनी तुम में नित्य रहती है, इसलिए इस रोशनी को देखते हो। इस विश्व ब्रह्माण्ड मे जो कुछ तुम बोध करते हो, तुममें वह महाबोध है, इसलिए न? वह महाज्ञान-स्वरूप ज्ञान नित्य तुम में है तभी न इस ज्ञान का परिचय मिलता है।

इस शरीर के निकट किसी समय यों ही आना हो जाता है, खबर भी नहीं मिलती। (मेहता के, माँ के निकट सहसा आगमन को लक्ष्य में रख कर यह बात है।)

दिमाग तो वृक्ष की जड़ की तरह है। जड़ में जल डालने पर सर्वत्र व्याप्त होता है। कभी कहते हो दिमाग थक जाता है। कब? जब कि बाहर के कामों में घूमते हो। तब घर लौट कर अपने स्वजनों के साथ बातें करते हो। माथा हल्का होता है, आनन्द होता है। इसीलिए कहा जाता है दिमाग का काम अपने लिए है, अपने काम में थकान नहीं आती।

दूसरी बात है—अपना ही तो सब काम है, किन्तु यह तुम समझते कहाँ हो ? सारी दुनिया ही तो अपनी है, स्वयं ही है और निजी है, किन्तु देखता है पराया। अपना है, इस बोध में सुख है और पराया है, इस बोध में दुख है। द्वैत बोध में ही दुख, द्वन्द्व, लड़ाई और मृत्यु है। पिताजी, कुछ तो करो।

मेहता : सब तो उनके हाथ है।

माँ : यही बात सदा मन में रक्खो, सब तो उनके हाथ है। मैं तुम्हारे हाथ का यन्त्र हूँ—जो कराओ। इसी भावना से समझने का यत्न करो, सब उनका है। तब स्वयं हल्के हो जाओगे। उनको समर्पण करने से क्या होगा ? दूसरा कोई नहीं है, सब अपने ही अपने हैं।

भक्ति से गलाओ या ज्ञान से जलाओ—क्या गलेगा और क्या जलेगा ? जो गलने वाला है और जो जलने वाला है। दूसरा भाव या परभाव। तब क्या होगा ? अपने को पाओगे।

गुरुशक्ति से ही सब कुछ होता है। गुरु बनाओ, फिर सब नाम उनके नाम हैं, सब रूप उनके रूप हैं कोई एक चुन लो। फिर उनका नाम नहीं है और उनका रूप नहीं है, वे अनामी और निराकार हैं। 'कुछ नहीं' और 'है भी' यह भगवान् में ही सम्भव है। जब तक गुरु नहीं मिलता है जो रूप और जो नाम अच्छा लगे (करो)। फिर नित्य प्रार्थना करो तुम हमारे सद्‌गुरु के रूप में प्रकट होओ। गुरु भी अन्दर हैं—किन्तु अन्दर के गुरु यदि न मिलें तो कुछ नहीं होता। यदि इच्छा न हो तो 'रोटीन' बाँध लो, जैसा लड़के पढ़ने के समय करते हैं, ड्यूटी बाँध लेते हैं।

जब तक कहना नहीं आता है—विचारो, यह सब मुझे क्यों अच्छा लगता है ? बाहरी दृष्टि से यदि किसी में रुचि हो या किसी के प्रति आकर्षण रहे, तो सोचना चाहिए कि अरे मैं इस स्वाद में पड़ा हूँ। भगवान् कहाँ नहीं हैं। गृहस्थाश्रम वह भी एक दिशा है। आश्रम के हिसाब से ग्रहण करना चाहिए। ऐसा होने पर ही धर्म की दिशा खुलती है। पर यदि कुछ चाहो तो भगवान् कुछ ही देंगे—नाम, यश, प्रतिष्ठा आदि। किन्तु तृप्ति नहीं होती है। भगवान् का पूरा राज है—पूरा राज जब तक न मिले तब तक तृप्ति नहीं होती। वे कुछ दे कर अतृप्त किये रहते हैं। अतृप्त रहे बिना आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। अमृत की

सन्तान मृत्यु से अर्थात् नश्वर पदार्थ से सन्तुष्ट नहीं रहती है। वे भी (नश्वर में) सन्तुष्ट रहने देते नहीं, इसीलिए अभाव जगाना भी उनका स्वभाव है। इसलिए भगवान् कुछ दे कर व्याकुलता पैदा कर देते हैं। यही आगे बढ़ने का रास्ता है। जो चलता है उसे बड़ा कष्ट होता है, किन्तु जो देखना जानते हैं, वे अच्छी तरह से देखते हैं कि अग्रगति हो रही है। यह जो हाहाकार है इससे दुनिया का रस जल जाता है। इसीलिए तपस्या है। जो विघ्न करता है उसके अन्तर ताप रहता है। जैसे बिगड़ने पर जलन होती है; तभी तो होश ठिकाने पर आता है।



११

माँ की किसी बात से सिद्धान्त (निष्कर्ष) का पता नहीं लगता, इसलिए मैंने सोचा माँ की इन सब बातों के लिखने से लाभ क्या है ? मैंने माँ से पूछा, माँ ने कहा—

माँ : वहाँ मीमांसा नहीं होती, यही सिद्धान्त तुम्हें मिला। मीमांसा तो बहुत कुछ कर आये हो। अब मीमांसा की अमीमांसा में जाना होगा न ?—अर्थात् मीमांसा-अमीमांसा के पार जाना होगा। तुम्हारी यह मन की मीमांसा जहाँ है, वहाँ दिशा रह गई न ! इसीलिए विरोध रहता है, क्योंकि यह मीमांसा एक ओर की ही है। फिर मीमांसा किस बात की मिलेगी ? सभी मतों की सर्वांगीण मीमांसा अलग-अलग होनी चाहिए। फिर देखोगे सभी मतों की एक जगह में मीमांसा है, कोई विरोध नहीं है। तब क्या होगा ? मीमांसा में अमीमांसा में प्रश्न उठाओगे—नहीं कहो या हाँ कहो, जो कहो वही ठीक है।



१२

रामेश्वरी नेहरू : जवाहरलाल की बुआ—आज साँझ के समय माँ के साथ भेंट करने गयीं। उन्होंने माँ से पूछा—ध्यान क्या अभ्यास से होता है, या पूर्व संस्कार रहने से होता है।

माँ : दोनों ही तरह से होता है—पूर्वसंस्कार या वर्तमान अभ्यास अथवा दोनों से ही हो सकता है। प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए।

देखो, संसार में है क्या ? यहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है। इसलिए प्रार्थना करनी चाहिए भगवान् से। प्रार्थना करनी चाहिए कि इस पुर्जे से शुद्ध कर्म हों। प्रत्येक काम के आरम्भ में भगवान् का स्मरण करना चाहिए। स्मरण जितना शुद्ध होगा, काम उतना ही सुन्दर होगा। दुनिया में कोई वस्तु आज है तो कल नहीं। इसलिए सेवा का भाव लेकर रहो—'तुम इसी भाव से सेवा ग्रहण कर रहे हो।' शान्ति चाहो तो भगवान् का चिन्तन करो।

प्रश्न : दुनिया की शान्ति कब होगी ?

माँ : इस समय तो ऐसा ही होने का है।

प्रश्न : कब इसका अन्त होगा।

माँ : यह जो तुम लोगों में विचार आया है कि कब अन्त होगा ? यह भी भगवान् की ही एक झलक है।

जगत् का अर्थ है गति। गति में तो स्थिति नहीं है ? आवागमन से शान्ति कहाँ ? शान्ति तो (वहीं है) जहाँ न आना है, न जाना है, न गलना है और न जलना। उनकी ओर मुड़ जाओ, तब शान्ति होगी।

तुम्हारे जप और ध्यान में तुम्हारे संगियों के भी उत्तम संग का प्रभाव पड़ता है।

ध्यान में मन लगाने के लिए, लड़कों को पढ़ने के लिए बैठाने के समान, मारपीट कर (जोर जबर्दस्ती से) अभ्यास करो। दवा से आराम होता है, इंजेक्शन से अच्छा होता है, इच्छा न होने पर भी उसे करो, कष्ट सह कर करो।

जन्म-जन्मान्तर के संस्कार खींच लेते हैं, दुख देते हैं, फिर भी चेष्टा करनी चाहिए। उससे शक्ति प्राप्त होती है, तैयारी होती है। संकल्प करो कि जितना भी कष्ट हो, मुझे करना ही होगा। प्रतिष्ठा प्रशंसा दो दिन की है। संग जाएगी नहीं।

भगवान् की ओर यदि मन न भी जाए तो भी उसे लगाओ। ऐसा धक्का लगेगा कि उलट जाओगे। यह उनकी दया है। बड़ा कष्ट होता है, किन्तु धक्के से ही शिक्षा मिलती है।

मन का जो अहंकार है उसी को जबर्दस्ती--डाँट-फटकार कर बैठाओ। (ठान लो कि) मन लगे चाहे न लगे—इतना तो करूँगा ही, यह तो अपना काम है। इतने दिन तो बन्धन का काम करते आये हो, इसीलिए फिर-फिर कर बन्धन में ही जाना चाहते हो। कुछ दिन प्रयत्न करने पर समझ में आयेगा। "अरे, मैं इसे लेकर पड़ा हूँ," जितना करोगे उतना आगे बढ़ोगे।

अर्पण के सम्बन्ध में—जहाँ नित्य अपने में अर्पण भाव रखते-रखते कभी अर्पित हो जाएगा। आत्मसमर्पण की बात कही जा रही है; यह बात समझना और क्या ? छोटी बच्ची की बात याद रखो।



१३

आज श्रीकान्त भाई मुन्शी अहमदाबाद से यहाँ आये हैं। उन्होंने किसी एक आदमी की बात कही— वह आसन पर बैठता है और उसके हाथ में नाना-प्रकार के पदार्थ—फल, माला, मिठाई इत्यादि अपने-आप आ जाते हैं। इस प्रसंग में माँ ने ढाका की एक माँ की कहानी कही—

माँ : ऐसा तो शरीर में साधारणतः होता नहीं है। इस शरीर के सामने तो ऐसे कितने ही प्रसंग आये हैं। किन्तु इस बार कुछ विलक्षण-सा हो गया। उन माँ के आते ही उनकी गोद में सोऊँ-सोऊँ इस तरह का इस शरीर का भाव हुआ। गोद में सोते ही मालूम हुआ कि माँ के पेट के कपड़े में पोटली के कुछ वस्तु है। सभी लोग उक्त माँ से आग्रह करने लगे दैवप्रेरित वस्तु लाकर दिखलाने के लिए। क्योंकि पहले इस प्रकार अनेकों को वे दिखला चुकी थीं। लोगों ने सुना था कि दक्षिणेश्वर काली मंदिर का प्रसाद भी अपने-आप उनके हाथ में आ जाता है। यह शरीर बोल उठा—"वहाँ से आने के पहले ही मैं निकाल कर दे सकती हूँ, निकालूँ क्या ?" उन माँ ने कहा—"हाँ"। मैंने जितनी बार पूछा उन माँ ने उतनी बार "हाँ" कहा और भक्तों ने भी "हाँ" कहा। तभी तो यह सब काण्ड हुआ। इस शरीर ने तो हाथ से कुछ निकाला नहीं, किन्तु अपने आप ही जो होना था हो गया।

घटना घट जाने के बाद उस माँ के एक भक्त ने इस शरीर से पूछा,—"माँ, तुम तो किसी का भावभंग नहीं करती हो, विशेष करके सबके सामने। तब यहाँ पर ऐसा क्यों किया ?" मैंने कहा—"हाँ, साधारणतः यह शरीर कभी भावभंग तो करता नहीं है, तुम लोग जानते हो। बात यह है कि इस शरीर में आज तक जो-जो हो गया है और हो रहा है, साधारण से साधारण और असाधारण से असाधारण, तुम लोग जो कहो इस शरीर का तो सब कुछ अपने-आप जो होने वाला है हो जाता है। जिस दिन ये माँ आईं, उन्हें इस शरीर ने आदर के साथ अपना आसन दे कर बैठाया, माला पहनाई। सभी को खूब आनन्द हुआ था न ?

सब रूपों में भगवान् ही तो है। उस दिन तो फिर इस शरीर ने कुछ कहा नहीं। उन्होंने अपनी इच्छा से ही कहा, तुम लोगों ने सुना था न, 'मैं फिर कल आऊँगी।' वे ही फिर इस रूप में प्रकट हुईं। इसमें क्या किया जाए कहो, भगवान् जब जिसको जिस रूप में शिक्षा दें—इस शरीर का तो बस जो हो जाए।"

जिस समय सबको प्रणाम किया जाता था—कीड़े, मकोड़े, कुत्ते, बिल्ली से लेकर सभी वस्तुओं में भगवान् हैं इस ज्ञान से प्रणाम किया जाता था।

जो कुछ हो जाए। एक और बात है। वह यह कि जो झूठ का अवलम्बन करता है उसका कल्याण नहीं है। झूठ से झूठ ही मिलता है। कभी झूठ भी सत्य के रूप में बदल जाता है। स्वयं जानते हैं कि मिथ्या कर रहे हैं, किन्तु शिष्य की सत्य-भावना से सत्य प्रकट हो जाता है। उसके फलस्वरूप शिष्य गुरु का अतिक्रमण कर आगे बढ़ जाता है। सत्यसंकल्प से सत्य का प्रकाश स्वाभाविक है। उस माँ के भक्त से कहा—कितनी ही बार तो तुम लोगों से पूछा—"निकालूँ" ? तुम लोगों ने कहा—"हाँ"। इसलिए फिर अब क्या कहा जाए।

कितने ही प्रकार हैं। एक लड़की की कथा सुनो। उसकी जरा जरा सी बात में ही समाधि लग जाती है, ऐसा किसी-किसी का विश्वास था। वह पड़ी रहती थी। हाथ-पैर ठंडे हो जाते थे; इस शरीर के निकट आने पर भी ऐसा हुआ मानो समाधि लग गयी हो। लड़की की माँ गाँव के सम्बन्ध में इस शरीर की नानी लगती थी। उन्होंने मुझसे कहा, "नातिनी, इसका कोई उपाय कर दो।" मैं समझ गयी उसकी अवस्था ऐसी क्यों है ? मैंने उसके कान में कहा, शीघ्र ही तुम्हें तुम्हारे स्वामी का पत्र मिलेगा। इस बात से ही लड़की अच्छी हो गयी। चारों ओर धूम मच गयी, सभी ने समझा कि न मालूम कान में कौन सा मन्त्र कहा गया। अवश्य इस अवस्था में यही उसका मन्त्र था। स्वामी का समाचार न मिलने से ही लड़की की ऐसी अवस्था हुई थी।

यहाँ पर एक लड़के का क्या विचित्र ढंग होता था, कितने प्रकार के भाव होते थे और कितने ही प्रकार के दर्शन होते थे। प्रणाम करने आता, घण्टों पड़ा रहता, सिर उठाता न था, आँखों से आँसुओं की धारा बहती थी। वह कहता था कि साक्षात् श्रीकृष्ण आये हैं, अर्जुन को गीता का उपदेश दे रहे हैं। यह सब कितने ही विविध दर्शन और श्रवण उसे होते थे।

इस शरीर ने उससे कहा—अपना मन यदि साधना के वश में न रहे तो उल्टा-सीधा बहुत कुछ दिखाई या सुनाई पड़ता है। कभी 'स्पिरिट' या किसी शक्ति के अधीन हो पड़ता है। इससे भगवान् के प्रति शुद्ध व्याकुलता तो आती नहीं, बल्कि विशेष विघ्न होता है, और यह भी बात है कि यह जो कोई आता है, कुछ कहता है, उससे भी अपना एक तरह का भोग हो जाता है। विवश होना अच्छा नहीं है। परमार्थ चिन्तन में विवश न हो कर जो प्रकाश है उस ओर चेतन (जागरूक) रहना चाहिए अर्थात् स्ववश रहना चाहिए। बेवश अर्थात् अज्ञान होना ठीक नहीं है।

बुद्धदेव—बोधस्वरूप हैं। जितना-जितना बोध होता है फिर अन्त में बोध स्वरूप हो जाता है। वैसे ही ज्ञानस्वरूप और भावस्वरूप भी होता है। जैसे आत्मज्ञानी की परमार्थ-स्थिति होती है, वैसे ही प्रेम के मार्ग से जा कर भी अन्त में एक पराकाष्ठा प्राप्त होती है—प्रेमामृत अभिन्न प्रकाश। यहाँ भावोन्माद के लिए स्थान नहीं है। अन्यथा महाभाव का प्रकाश नहीं हो सकता। देखो, एक बात है। सब साधनों की लाइन में वह जो पराकाष्ठा है, वह चरम बात यदि प्राप्त न हो तो ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि तुम उस धारा में पड़े नहीं। किन्तु प्रेम की पराकाष्ठा में जो महाभाव है वहाँ यह सब नहीं होता है। ऐसी तुलना मत करो, क्योंकि वह सर्वथा पृथक् है।

ध्यान में शरीर ज्ञान रहे चाहे न रहे, देहात्मबोध विशेष रूप से रहे चाहे न रहे, जाग्रत रहना आवश्यक है। अज्ञान नहीं हो जाना चाहिए। कोई सत्ता-बोध चाहिए, चाहे वह स्वरूप-लक्ष्य हो या मूर्ति-लक्ष्य ही हो। इस ध्यान से क्या होता है ? प्रकाश की दिशा खुलती है—जो नित्य है। सम्भवतः पहले शरीर में कोई व्यथा या दर्द रहा, ध्यान के बाद मालूम पड़ा कि वाह, शरीर ताजा है, किसी प्रकार की ग्लानि नहीं है। कितना समय बीत गया, किन्तु उद्वेग का कोई प्रश्न ही नहीं उठा। यह अच्छा है। किन्तु, इस आनन्द के प्रथम सूत्र को लेकर पीछे उसमें डूब जाना कि कहाँ था कह नहीं सकता, जानता नहीं, यह अच्छा नहीं है। किन्तु ठीक ध्यान की दिशा वह है जहाँ जितना स्पर्श होता है उतना ही बाहर के सब पदार्थों के भीतर भी सब आनन्द ही आनन्द है।

ध्यान में यह जो अपना गायब हो जाना है, मानो जड़वत् हो जाना है, पीछे उठ कर यह अनुभव करना कि बड़े आनन्द में था, यह आनन्द विघ्न है। प्राण-

शक्ति में जड़ता की प्रतीति होना, जैसे कि गाढ़ निद्रा के बाद आनन्द की प्रतीति होती है, इसी जगह अटक जाना है। यह आसक्ति है—यह जो आसक्ति है—यह ध्यान का विघ्न है, यदि बार-बार एक ही जगह रहा जाए। यह बात दूसरी है कि यह दुनिया की दृष्टि से अवश्य पृथक् है। मालूम पड़ता है बहुत आनन्द-दायक है, उन्नति की ओर तो है ही, इसलिए एक जगह में स्थित होना विघ्न है, अटक रहना और क्या है ?

ध्यान में अपने को चिन्मय, आत्मज्योति, आत्माराम समझना और अपने-अपने गुरु के आदेश से इष्टरूप लक्ष्य में मन को स्थित रखने की कोशिश करना (उचित) है। लड़का बुद्धिमान् था, इस तरह की आलोचना उसकी समझ में आ गयी। इसके बाद से उसके इस भाव में परिवर्तन हो गया। अब अधिक शान्त भाव से ध्यान आदि होते हैं।

आज रात को फिर ध्यान, आसन आदि की चर्चा चली। माँ कहने लगीं—देखो, ये जो घण्टे पर घण्टे आसन पर बैठे-बैठे कट गये, आसन पर आनन्द आया। यदि एक के अतिरिक्त अन्य आसन पर बैठने पर ध्यान न हो तो समझना चाहिए कि तुम्हारा आसन में भोग होता है। यह भी विघ्न है। जप ध्यान में बैठने के लिए पहले-पहल एक आसन से दीर्घकाल तक बैठने की चेष्टा तो करनी ही चाहिए। आसन जब सिद्धि की ओर हो, कितनी देर तक आसन पर बैठा रहा यह प्रश्न ही तब उठता नहीं है, चाहे जितनी देर तक जिस आसन से खुशी हो, सोकर, बैठकर, खड़े होकर या करवट होकर—जिसका जो आसन हो—अपने लक्ष्य वा इष्ट से हटने का प्रश्न नहीं उठता।

पहले आरम्भ करते समय, आसन पर बैठे बिना रह ही नहीं सकता। बाहर का कुछ अच्छा नहीं लगता। कब उसी आसन पर बैठकर इष्ट का ध्यान करते हुए भीतर आनन्द में रहूँ यही आकर्षण रहता है। वह तुम्हारा स्थिर होना आरम्भ होता है, शुभ का लक्षण है। किन्तु यहाँ पर आसन की ओर ही विशेष लक्ष्य रहता है। वैसा जो आसन है उस पर जितनी देर तक चाहे जैसे रहो—इष्ट तुम्हारा कभी अनिष्ट नहीं करेगा—उसी में यदि स्थिर रख सको, वही प्रधान है, तब आसनसिद्धि का लक्षण ही है और क्या। उठना, बैठना, चलना अथवा शरीर की प्रत्येक अंगभंगी में रहना—ये सब एक-एक आसन हैं। शरीर और मन की जैसी गति हो, आसन भी वैसा ही होता है। किसी का गुरु के

निर्देश से अथवा आसन लगा कर बैठने का जो नियम है उस नियम से ध्यान लगता है, दूसरे से नहीं लगता। यह ध्यानाभ्यास का उपाय है। ध्यानाभ्यास के आरम्भ में कोई तो सम्भवतः साधारण आसन से ही बैठता है। किन्तु जब भली-भाँति ध्यान या जप चलने लगता है तब जैसे अपने आप उद्गार आ जाता है वैसे ही अपने आप ही ठीक आसन बन जाता है। यह ध्यान जमने पर अपनेआप साथ ही साथ आसन भी जम जाता है। जैसे टायर में पम्प कम करने पर ढीला रहता है, फिर पम्प पूरा होने पर पूर्ण स्वाभाविक स्थिति में तन जाता है, वैसे ही ध्यान जमने पर शरीर की जड़ता चली जाती है, उठते समय शरीर में किसी प्रकार की थकावट या अंगपीड़ा अथवा स्तब्धता नहीं रहती।

ठीक ध्यान में स्पर्श होता है। जैसे अग्नि-स्पर्श होने पर एक दाग रह जाता है वैसे ही यह स्पर्श भी दाग के तुल्य है। इससे क्या होता है। विघ्न हट जाता है। फलतः वैराग्य से जलता है या भक्ति से गलता है। विषय फीके लगेंगे, एकदम शिथिल भाव हो जाएगा। सांसारिक बातें कहने में अच्छी नहीं लगतीं, नीरस मालूम होती हैं—क्रमशः कष्टदायक हो जाती हैं। विषयों की ओर किसी वस्तु के खोने या नष्ट होने पर मन व्याकुल होता है, क्योंकि विषयों ने मन को पकड़ रखा है। यही ग्रन्थि है। ध्यान से या जप से अथवा जिस किसी पार-मार्थिक क्रिया से, जिसकी जो लाइन हो, यह ग्रन्थि ढीली पड़ जाती है। विवेक-विचार प्राप्त होता है, विषय क्या है, यह ज्ञात हो जाता है। पहले विषयों में अटकता था, फँसकर छटपटाता था। अब अलग हुआ, तब क्रमशः प्राप्त हुए प्रकाश के विकास से विविध 'स्टेजों' के बीच से आता है। तब यह अनुभव आ जाता है कि सब में सब कुछ है, एक आत्मा या सभी का स्वामी है, सभी दास हैं या सभी के एक प्रभु है—जिसका जो दृष्टिकोण हो। प्रत्यक्ष बोध होता है कि जैसे मैं हूँ, वैसे ही सब हैं। फिर एकमात्र भगवान् ही हैं—न कुछ आता है, न कुछ जाता है। फिर आता भी है जाता भी है, भाषा से सबका प्रकाश कहाँ हो सकता है? जैसे-जैसे विषय-वासना से पृथक् होगा, वैसे-वैसे भगवान् की ओर गति होगी।

ध्यान जब होता है तब फिर आसन बाधक नहीं होता, भोग नहीं रहता। अर्थात् इस आसन से बैठने पर ध्यान लगेगा और उससे नहीं लगेगा ऐसी बात ही नहीं रहती है। सीधे टेढ़े जैसे भी क्यों न बैठो अपने आप आसन होकर तुम्हारे शरीर को ठीक तरह से बैठा देगा। फिर किसी भी समय किसी भी

आसन की साधक को अपेक्षा नहीं होती। जिस अवस्था में रहे उसी अवस्था में ध्यान लग जाता है। अवश्य किसी जगह ऐसा होता है कि किसी विशेष आसन से—पद्मासन, सिद्धासन आदि से—बैठ जाने पर महायोग में कभी भी उसे विक्षेप नहीं होता है।



१४

यहाँ भागवत-सप्ताह की समाप्ति हो गयी। राजा साहब ने पूछा—"जिसके लिए यह सप्ताह किया उसका कल्याण हुआ क्या ?"

मां : हाँ, अवश्य हुआ। देखो भला या बुरा जो भी काम किया जाता है, उसका इधर सात पीढ़ी और उधर सात पीढ़ी—यों चौदह पीढ़ियों पर असर पड़ता है। लोग कहते हैं न, तुम्हारी चौदह पीढ़ियाँ रसातल में जाएँगी"। फिर कोई एक व्यक्ति यदि विशिष्ट होता है तो चौदह पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है।

आज कल लोग भोग के लिए कितना कितना पैसा उड़ा देते हैं। इस ओर यदि कोई-कोई खर्च करता है तो कहते हैं—अपव्यय। किन्तु यह जो करोड़ों रुपया छोड़ कर पंजाब से आना पड़ा यह क्यों ?

पर यह होने की बात थी। ऐसा ही संयोग था। संयोग रहने पर कहाँ से कौन आ कर किस तरह उपस्थित हो जाता है। देखो न, इस भागवत सप्ताह में जिसका आना निश्चित था वह आ गया अपना भाग ले जाने के लिए। संयोग रह जाता है। भला बुरा सब कुछ संयोग से ही होता है।

प्रश्न : संयोग से कार्य शुरू होता है या पूरा होता है ?

माँ : एक तो योग नित्य है ही। दूसरे जहाँ पर अभाव था, वह संयोग से कुछ पूरा हुआ। फिर किसी का शुरू भी हुआ—सृष्टि, स्थिति और लय होना। किसी-किसी अंश में पूर्ण होना और किसी-किसी अंश में शुरू होना।

एक तो मिलने वाला था, वह पूर्ण हुआ, और जो होने वाला है, उसका आरम्भ हुआ। और एक तो है ही। कहीं-कहीं पर आरम्भ और समाप्ति—दोनों होते हैं। जैसे जन्म पूर्ण करने के लिए जन्म और समाप्ति एक ही जगह में होती है।

जब तक पूर्ण प्रकाश नहीं होता, तब तक सृष्टि, स्थिति और लय—कार्य में संयोग रह ही जाता है। रह जाता क्या, है ही तो। वियोग कभी नहीं होता, न था और न होगा ही।

एक व्यक्ति : ये सब बातें सुनने-कहने में अच्छी लगती हैं, किन्तु अनुभव में तो नहीं आती हैं।

माँ : इन सब बातों को सुनते-सुनते धीरे-धीरे उस ओर का मार्ग खुलता है। समझो, जैसे पत्थर पर निरन्तर जल पड़ते-पड़ते गड्ढा हो जाता है। फिर शायद कभी बाढ़ आ पड़े तो प्रकाश हो जाता है।

ग्रन्थपाठ, सत्कथा, कीर्तन सब भगवान् का ही अवलम्बन लेकर हैं—उनका पाठ, उनकी कथा, उनका कीर्तन।

तीनों ही अभिन्न हैं। अभेद होने पर भी आकार तीन अलग-अलग हैं, क्योंकि ग्रहण अलग-अलग है—जिसको जो रुचे।

असल में भगवान् ही तो हैं। उनकी ओर जाने के लिए अलग-अलग मार्ग हैं, कौन मार्ग किसके लिए है—यह अपने अधिकार के अनुसार रुचि है।

मान लो वेदान्त-ग्रन्थपाठ है। इसमें कोई-कोई बिलकुल डूब जाते हैं, जैसे कोई-कोई कीर्तन में आवेश में आकर मग्न होते हैं, वैसे ही इस वेदान्त पाठ में भी ऐसे मग्न होते हैं कि जो शायद कीर्तन में न हो सकें। वह जिस 'लाइन' में चलता है उसी 'लाइन' का पाठ या जो कुछ भी हो उसी में मग्न होता है।

पहले श्रवण, उसके बाद मनन। अन्त में अपने-अपने कर्म के रूप में उसका प्रकाश। इसलिए पहले सुनो, उसके बाद वेदान्त, कीर्तन, जिसकी जो 'लाइन' होगी उसे लेकर चलेगा।

देखो न कहते हैं—"अरे कीर्तन में क्या धरा है?" पीछे जब सुना, तब कीर्तन ही अच्छा लग गया।

इसलिये श्रवण ही पहले आवश्यक है, तदनन्तर मनन। तदनन्तर कर्म से विशेष प्रकाश होता है। सत्कथा सुनना तो अच्छा है, यदि भगवान् उनमें दोष-दर्शन न कराएँ। दोषदर्शन से सभी को विघ्न होता है। समता रख कर जो

कहते हैं उससे फल होता है। क्योंकि जहाँ पर असत् दृष्टि की बात नहीं है, वहीं सत्संग है।

वैष्णव किसे कहते हैं ? जिसमें सर्वत्र वही विष्णु हैं। शाक्त कौन है ? जो केवल माँ को देखता है। सब भाव एक जगह से ही स्फुरित होते हैं—किसकी निन्दा ? किसकी हिंसा ? समता हो तो है।

तुम माता हो, तुम पिता हो, तुम बन्धु हो, तुम स्वामी हो, तुम्हीं सब कुछ हो। सब नाम तुम्हारे ही नाम हैं, सब गुण तुम्हारे ही गुण हैं, सब रूप तुम्हारे ही रूप हैं। फिर वही अरूप में है, निराकार में है, जिस 'लाइन' में जो चलेगा उसी के अनुसार। ऐसा लोग कहते हैं न शैवों का जो परम शिव है—वही ब्रह्म हैं। फिर आत्म-दृष्टि से एक आत्मा है। विरोध तो है ही नहीं। यदि बिन्दुमात्र भी भेददृष्टि रहे तो वह स्थिति कहाँ ?

इसलिए जिस किसी 'लाइन' को पकड़ो—वहीं है। वेदान्त के माने हैं भेद-अभेद का जहाँ अन्त हो जाए।

साधना में चलते समय एक ओर देखो, पीछे फिर क्या है ? भेद का अन्त है। साधना में ही भेद है, फल में भेद कहाँ है ?



१५

एक पंजाबी माँ आज सन्ध्या समय माँ के पास आई थी। माँ ने उससे पूछा :—

माँ : रोज भगवान् का नाम लेती हो न ?

उत्तर : हाँ माँ, किन्तु मन स्थिर नहीं होता।

माँ : कोशिश करो।

पंजाबी माँ : बच्चे बड़ा उत्पात मचाते हैं। अन्य समय यदि कुछ न भी करें, लेकिन ज्यों ही देखते हैं कि हमारी माँ पूजा में बैठी है, तुरन्त हल्ला-गुल्ला शुरू करेंगे ही।

माँ : अरे, समुद्र में छोटी-बड़ी कितनी ही तरंगें उठती रहती हैं। उन्हीं में डुबकी लगानी चाहिए।

पंजाबी माँ : बहुत क्रोध आता है।

माँ : क्रोध अच्छा नहीं है।

पंजाबी माँ : मैं रोक नहीं सकती।

माँ : एक काम करो, जिस दिन इस तरह क्रोध आए, उस दिन देखना चाहिए कि खाने के पदार्थों में सबसे स्वादिष्ट वस्तु क्या है ? फिर उस दिन उसे खाना नहीं चाहिए। क्योंकि अपराध हुआ है। क्यों, याद रखोगी न ?

पंजाबी माँ : हाँ, माँ।



१६ [क]

सेवाजी : जिसका कर्मानुसार फिर पुनर्जन्म हो चुका उसको भी क्या श्राद्ध का फल मिलता है ?

माँ : हाँ। एक कहानी सुनो—

एक था पण्डित और एक था फ़क़ीर। दोनों में बड़ी मित्रता थी। एक दिन पण्डित को बहुत सुन्दर कटहल की गन्ध का अनुभव होने लगा। वह गन्ध ठीक ऐसी ही थी जैसी की स्वयं कटहल खाने पर एक भरपूर गन्ध का अनुभव होता है। पण्डित ने सोचा कि कहाँ से कटहल की गन्ध आ रही है ? यह तो कटहल का मौसम भी नहीं है। शायद बारहमासी कटहल हो। पण्डित ने सारा बगीचा छान डाला, पर कहीं भी कटहल दिखाई नहीं दिया।

उसने अपने मित्र फ़क़ीर से कहा। फ़क़ीर बोला, "चलो हम लोग नदी के उस पार जावें।" नाव से दोनों नदी के उस पार एक गाँव में जाकर देखते हैं कि एक आदमी श्राद्ध कर रहा है और उस श्राद्ध में एक कटहल रखा है। फ़क़ीर ने कहा, "यह तुम्हारे पूर्वजन्म का पुत्र वृद्धावस्था में तुम्हारा ही श्राद्ध कर रहा है। तुम्हें कटहल अतिप्रिय था, इसलिए तुम्हारे लड़के ने बहुत खोज कर एक बारहमासी कटहल तुम्हारे श्राद्ध में दिया है।"

प्रश्न : जिसका कोई नहीं, अतः श्राद्ध नहीं होता, उसकी क्या गति होती है ?

माँ : अपनी योग्यता के अनुसार यदि परमपद की ओर जाने की चेष्टा करे तो जैसा यत्न करता है, वैसी गति होती है।

पुत्रों का कर्तव्य है पिता का श्राद्ध करना। वह पिता की सद्गति में सहायक होता है। जिसका पुत्र नहीं है, उसके लिए कोई दूसरा करता है, जैसे स्वामी स्त्री के लिए करता है इत्यादि। जिसने विवाह नहीं किया, वह भगवान् के सहारे पड़ा

रहे। वे जो करें। भगवान् ही खींच लेंगे। एक बात का स्मरण रखना चाहिए। वह यह कि एकमात्र भगवान् ही तो हैं—स्त्री, पुत्र, पति इत्यादि के न रहने पर उद्धार नहीं होगा, ऐसी कोई बात नहीं है।

जो सृष्टि कर रहे हैं उनकी व्यवस्था पक्की है। तुम्हीं माता हो, तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं बन्धु हो, ऐसा मन में निश्चय रखना चाहिए। घबड़ाने का कोई कारण नहीं है।

संन्यासी लोग घर बार छोड़कर निकल जाते हैं। उनको फ़िकर रहती है क्या? फ़िकर रहने पर क्या कोई फ़कीर हो सकता है? विषयों के भीतर ये सब बातें हैं। आवागमन से छुट्टी मिलने पर फिर क्या? कोई श्राद्ध करे चाहे न करे।

जो स्वयं साधन नहीं कर सकता है, उसके पुत्र आदि जो करते हैं उससे उसे सहारा मिलता है। पिता ही खुद पुत्र है। फिर अपना श्राद्ध स्वयं करने की चेष्टा करनी चाहिए।

एक कहानी सुनो—

एक व्यक्ति की मृत्यु हुई। तय हुआ कि गंगा जी के किनारे शवदाह कराया जाएगा। गंगाजी बहुत दूर थीं। रात्रि का समय था। शव ले जाने वाले बहुत देर तक शव को ले जाने पर मार्ग में आँधी पानी आ जाने से या अन्य किसी कारण से शव को उतार कर विश्राम करने लगे। उन्हें नींद आ गयी। वहाँ पर एक बुढ़िया थी, उसकी हालत अत्यन्त शोचनीय थी। उसकी भावना थी—अहा, यदि किसी प्रकार गंगा तट पर जाकर मरती।

शव ले जाने वाले सोये थे। वह इस बीच में उठकर किसी प्रकार शव को हटा बढ़ा कर स्वयं ही उस खटिया पर लेट गयी। एक तो रात्रि का समय था, उस पर आँधी वृष्टि हो रही थी। रातों रात श्मशान में जाकर शवदाह करने के निमित्त शव ले जाने वालों ने कुछ ख्याल नहीं किया, वे बुढ़िया को लेकर चल दिये। गंगातट पर पहुँच कर बुढ़िया की मृत्यु हो गयी। सब को जब मालूम पड़ा तब पूर्व शव की खोज हुई। भंगी ने कहीं पर शव को फेंक दिया था। कुछ दिनों के बाद वह कहीं पर सड़ा-गला हुआ दिखाई दिया।

जिसको गंगाजी की प्राप्ति बदी थी उसे इसी तरह गंगा मिलीं और जिसको वह बदी नहीं थीं उसके लिए सभी चेष्टाएँ व्यर्थ गयीं। अतः जिसका जिस जगह जो बदा रहता है भगवान् संयोग बना कर उसे वहाँ रख देते हैं।

विशेष बात यह है कि कर्म स्वयं ही साक्षात् होना चाहिए। देखने का किसी के ऊपर भार न देकर अपने हाथ से करना चाहिए। अन्य से कराने पर कार्य का हिस्सा उसमें भी चला जाता है। इसलिए यदि कुछ करो तो अपने हाथ से करो, देखो तो अपनी आँखों से, सुनो तो अपने कानों से। किसी के ऊपर भार सौंप कर निश्चिन्त होना ठीक नहीं है।

इसका ध्यान रखना चाहिए कि मैंने जो काम लिया है उसे पूर्ण रूप से करूँ। हाँ, माया कब क्या करती है, कहा नहीं जा सकता; फिर भी अपनी चेष्टा रहनी चाहिए!

एक है भूल जाना या असमर्थ होना। यह तो दूसरी बात है। अपनी त्रुटि न रहे, दैवयोग से अन्य प्रकार हो जाने पर अपने मन में शान्ति रहती है, पश्चात्ताप नहीं होता क्योंकि मैंने तो कोई त्रुटि की नहीं। जिससे कर्म की पूर्णता की ओर ध्यान रहता है।

इसलिए साधनमार्ग में जो चले हैं उन्हें सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि मेरी त्रुटि न हो, सब कर्मों में ऐसी चेष्टा रहे। इससे कर्म का क्षय होता है। मन में सोचो कि कर्म के रूप में तुम मेरे पास हो। कर्म को पूरा करना (चाहिये)। मैंने जो काम हाथ में लिया है उसे पूरा करना ही होगा, यह मेरा कर्त्तव्य है। तब भगवान् ही उस कर्म को पूरा कर देते हैं।

इसीलिये नेत्र दिये हैं कि एकमात्र तुम्हीं हो ऐसा देखें। हाथों से उनकी सेवा करनी चाहिये। पैरों से उनकी परिक्रमा। ऐसा होना चाहिये कि मन दिन भर उनकी सेवा करे। उनके सेवक होओ, उनका भजन करो और उन्हीं को आहुति दो।

शैया छोड़ते समय सोचो कि तुम यन्त्र रूप में हो या मैं तुम्हारा यंत्र हूँ। इस यन्त्र से दिन भर शुभ कर्म हों। सब कर्म तुम्हारी सेवा हैं एवं सेवा में लगें। मन में शुभ संकल्प की धारा रहे। भगवान् का नामकीर्तन और प्रणाम करना चाहिये।

रात्रि में सोते समय प्रार्थना करनी चाहिए कि दिन भर आपने जो कराया वह आपके चरणों में अर्पित है। फिर एक-एक करके सारे दिन के कर्मों को देखना चाहिए। यदि भूल-चूक हुई हो तो यह प्रार्थना करनी चाहिए कि क्षमा कीजिये। आगे फिर जिस तरह भूल न हो ऐसी (कृपा कीजिए)। सभी कार्य शुद्ध हों। नामकीर्तन, प्रणाम करना; मन ही मन होने पर भी उनका ध्यान कर उनके चरणों में मस्तक टेकना चाहिये। अन्त में मेरा शरीर, मन सब कुछ आपके ही चरणों में अर्पित है। इस क्रम से चलते हुए सोना चाहिये।

निरन्तर अर्पण भाव रखते-रखते कौन जानता है कि कब अर्पण हो जाये उनकी कृपा से, उनकी दया से। इसलिए सदा अर्पणबुद्धि रखनी ही चाहिये।

१६ [ख]

केशव सेन की पोती माँ के दर्शन करने गयी। उसने कहा, "मैं ध्यान में बैठती हूँ। साकार को तो मैं चाहती नहीं हूँ निराकार आवे कैसे। किन्तु देखती हूँ कि कभी-कभी ध्यान में क्या-क्या रूप लहरा उठते हैं।"

माँ : जो रूप आते हैं उन्हीं का ध्यान करो, देखो भगवान् किस रूप में प्रकट होते हैं। सब के लिये सब रूप नहीं है। किसी के राम, किसी के शिव, किसी के पार्वती और किसी के निराकार। निराकार तो हैं ही, किन्तु स्वयं जिस आकार में हैं वही हमें मार्ग दिखलावें। इसलिये जो आता है जाता है, एक-एक करके उनका ध्यान करना चाहिये।

इस तरह करो—पहले आसन पर बैठ कर मूर्ति का ध्यान, उसके बाद मूर्ति की आसन पर स्थापना करके प्रणाम, तदनन्तर जप। उसके बाद फिर प्रणाम करके उन्हें हृदय में स्थापित कर उठ जाना चाहिये। यदि तुम्हें वह ब्रह्मध्यान न लगता हो, तो संक्षेपतः यही करो न।

भावना यह रहनी चाहिये कि हमारा जो मंगल है उसे वे करेंगे, सर्वदा ही करते हैं।

यह भावना करनी चाहिये कि वे मेरी सहायता के लिए इस तरह प्रकट हुए हैं। वे साकार भी हैं, निराकार भी। उनके भीतर सारा ब्रह्माण्ड है, सारे ब्रह्माण्ड में वे हैं। इसलिये कहा जाता है—"मद्गुरु जगद्गुरु" हैं। "जगद्गुरु मद्गुरु" हैं।

तुम्हारे लिये ही यह बात है। सबके लिए सब बातें नहीं होतीं। जितना ही उनका ध्यान करोगी उतना ही आगे जा सकोगी। आकार के रूप में जो आ जाते हैं वह भी तुम हो, निराकार भी तुम हो—देखो क्या आ जाता है।



१७

मां : क्या अहैतुक कृपा की बात कह रहे हो ? निश्चय ही कृपा तो अहैतुक ही होती है। काम किया फल पाया। पिता की सेवा करने पर सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने तुम्हें कुछ दान दिया, यह कर्म का फल है। करो और पाओ। पर स्वभावत: पिता और पुत्र का जो नित्य सम्बन्ध है, वह किसी कर्म की अपेक्षा नहीं रखता। परम पिता, परम पिता, परम बन्धु—सभी तो वे ही हैं। इसलिए हेतु कहाँ है ? वे चाहे जिस रूप से आकर्षण कर लेंगे, अपने को प्रकाशित करने के लिये। उनको पाने के लिए तुम लोगों के अन्दर जो इच्छा जागी है वह इच्छा तुमको दी किसने ? वह कर्म ही किसने दिया ?

ऐसी स्थिति में विचार कर देखो, उनसे ही सब कुछ आता है। कौन शक्ति तुम में है, कौन पटुता तुम में है अथवा तुम्हीं कहाँ से (आये हो) उनको पाने के लिए, आवरण नष्ट करने के लिए ? जहाँ जो कुछ है सभी तो वहीं से आता है। तभी तुम अपने को पाने की कोशिश करते हो। एक निश्वास भी क्या तुम्हारे अधीन है ? तुममें जितना कर्तृत्वाभिमान उन्होंने रखा है उससे यदि तुमको यह बोध हो जाये कि "इससे मैं भगवान् को पाने की कोशिश करूँगा"—तो तुम्हारा लाभ है। और यह कर्ता, अपनी वासना के अनुसार, भगवान् दूर हैं, दूर-बुद्धि—इस भाव को जितना लगाएगा, वही अकर्म है। सबमें उन्हीं का प्रकाश है, ऐसी भावना रखनी चाहिये। जहाँ 'भगवान् हैं' या ईश्वर का अस्तित्व मान लिया वहाँ दया, कृपा, करुणा, प्रार्थना सभी जिस-जिस रूप में तुम स्थित होओगे उस-उस आकार में वे प्रकट होंगी ही। जैसे दीन होने पर दीनदयालु का प्रकाश हुआ।

यदि यह कहो कि वे करते नहीं, और करते भी हैं, तुम स्वयं कर्तृत्वाभिमान में हो, इसीलिये उन्हें कर्ता बनाते हो। वस्तुत: वे अकर्ता हैं।

हाँ, उन्हें जो ही कहो वही वे हैं। और देखो न जहाँ वे तत् हैं वहाँ किस कर्म से किसके निकट कर्ता होंगे ? वही स्वयं हैं। वे पैर न रहने पर भी चलते हैं,

आँख न रहने पर भी देखते हैं, कान न रहने पर भी सुनते हैं, मुँह न रहने पर भी खाते हैं, यह जो कहते हो न, वही है ।

साधक जब विग्रह-पूजा आरम्भ करता है, तब क्रमिक उन्नति होते-होते एक अवस्था में यह होता है—जहाँ-जहाँ नेत्र पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ भगवत्स्वरूप का स्फुरण होता है । यह भी होता है कि मेरे इष्ट में सब इष्ट हैं । मेरे इष्ट में सब के इष्ट और सब हैं फिर सबके इष्ट में मेरे इष्ट वास करते हैं और सब रहते हैं । मुझमें भी वही इष्ट रहते हैं और सबके अन्दर भी वही इष्ट तो हैं । जल में, स्थल में, पेड़ में, पत्ते में, लता में, सारे ब्रह्माण्ड में मेरे इष्ट हैं । फिर यह जो आकार-प्रकार दिखाई देता है, इस आकार में, इस रूप में है कौन ?—मेरे इष्ट ही तो हैं और तो कोई नहीं है ? छोटे से छोटे, बड़े से बड़े ।

तुम लोगों के विभिन्न संस्कारों के अनुसार एक-एक इष्ट हर एक के पृथक् पृथक् हैं । जिसका जितना भक्तिभाव है उसको उतना लाभ भी होता है । जो जितना उत्कर्ष लाभ करेगा उतना अपनी इष्टमूर्ति का विकास उसकी दृष्टि में अभिव्यक्त होगा । एकदम वह पृथक् नहीं रहेगा, भगवान् उसे अनन्त रूपों में अपने को पकड़ा देंगे । अपने संस्कारों के बल से जब पूर्ण प्रकाश होगा तब फिर सबमें अपना संस्कार दीख पड़ेगा । वह भी एक ओर की बात है । अपने को भी पृथक् नहीं कर पा रहे हो ।

ये जो भाँति-भाँति के पशु, पक्षी, मनुष्य इत्यादि सब हैं, ये सब क्या हैं ? आकार, प्रकार और प्रकाश क्या है ? विविध रूप जो बदल जाते हैं, वे ही क्या हैं ? क्योंकि धीरे-धीरे अपने इष्ट के भाव में विभोर रहता है, वह समझता है कि सब रूपों में मेरे ही इष्ट प्रकाशमान हैं । एक धूलिकण भी छूटता नहीं, जल में, थल में, मनुष्य, पेड़-पौधे, पशु-पक्षियों के रूप में एकमात्र इष्ट ही बने हुए हैं । किसी-किसी की यह दृष्टि भी खुल जाती है । सब को दृष्टि में एक ही से होकर प्रकट नहीं होते । अनन्त हैं न । इसलिए किसका कौन मार्ग ग्रहण करने से पूर्णतम प्रकाश होगा यह बात साधारण लोगों की दृष्टि में नहीं आ सकती ।

भागवत की व्याख्या करते समय पेड़, लता, पत्ते, पहाड़, पर्वत, नदी, समुद्र इत्यादि भगवान् के विराट् शरीर की कथा जो अभी सुनाई, देखो, एक

समय में यह बात आती है। इस सब विराट् शरीर की कथा को भी किसी समय में आना ही पड़ेगा।

भगवान् रूप में अनन्त हैं न, वे अन-अन्त हैं न। कोई भी उनके रूपों की गणना नहीं कर सकता। इसलिए उनके अनन्त रूप हैं, जितने रूपों की यह सृष्टि हो रही है, लय हो रहा है, सब मेरे उन भगवान् के ही रूप हैं। इन भाव से विशेष रूप से जितना विस्तार होगा उतने ही अनन्तरूपों में स्थिति होगी। असंख्य में नाना आकार, प्रकार, नानारूपों के प्रकाश में जैसा अन्तहीन और संख्याहीन है वैसा ही अन्त और संख्या भी है। उस स्थिति में साधक का जब प्रवेश होता है तब रूप का जो परिवर्तन होता है, भाव का जो परिवर्तन होता है, उसमें दृष्टि पड़ती है। विचार-जागृति आती है अर्थात् विचाररूप में जो वे हैं, उनका प्राकट्य होता है। 'सुकौशल' नाम का जो शब्द है न, सबकी जो विचारधारा जगत् के अभिमुख है, वह विचारधारा मुड़ जाती है सुकौशल से अर्थात् उन्होंने स्वयं कौशल के रूप में जो कहा है उसका आविर्भाव होता है। तभी अच्छा, यह जो परिवर्तनशील जगत् नित्य ही बदलता जा रहा है, 'नहीं' होता जा रहा है, उस 'नहीं' रूप में कौन है? 'नहीं' जैसे है, इसी प्रकार जब जिस रूप का प्रकाश होने का प्रश्न उठता है वह यदि नहीं हो तो प्राप्ति कैसे हो सकती है? अन्तहीन राज्य है, जहाँ तुम 'नहीं' इस आकार में देख रहे हो, वहाँ यह जो नहीं रूप है वह भी सत्य है, उन्हीं का एक रूप है। जहाँ चिन्मय राज्य है—जब जो रूप है, वह नित्य वर्तमान है। इसीलिए एक स्थान है जहाँ 'नहीं' भी और 'है' भी एक साथ हैं, 'नहीं' भी नहीं है और 'है' भी नहीं है, आगे और भी चलो।

अच्छा, ऐसी स्थिति में मेरे इष्ट जल और बरफ़ जैसे हैं। मेरे इष्ट का कोई रूप नहीं है, गुण नहीं है, प्रकाश का कोई प्रश्न नहीं है। ऐसी स्थिति में जब अपने को पाया। इष्ट को पाना अपने को पाना है माने भगवान् ही तो अपने हैं; यह मेरे निज का निजस्व है। फिर आत्मा ही तो एकमात्र है। तब इसमें समयानुसार ऋषियों का जैसा मंत्र-दर्शन होता था, उसी प्रकार स्थानोपयोगी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का जैसे आविर्भाव, मन्त्रों का स्फुरण और वेद का पूर्णांगोण प्रकाश जहाँ जो होने का है, वहाँ वह प्रकाश स्थान-स्थान पर तत्-तत् व्यक्तियों के कर्म और भाव के अनुसार प्रकट होने को बाध्य होता है। जब रूप-अरूप का

आकार साधकों के निकट हुआ, वह सर्वाङ्गीणता में ही तो प्रकट हुआ। उनमें भाव का जो रूप है, शब्दब्रह्म का जो योग है—विविध प्रकार की भाषा, अन्तहीन भाषा, शब्दब्रह्म के रूप में भी है। अनन्त शब्दों का आकार, प्रकार और प्रकाश की दिशाएँ उनके निकट मूर्त होकर प्रकट हुई न। सब में आकारसादृश्य होकर जहाँ प्रकाश होता है। हाँ, आकारशून्य, आकार जो शून्य है ऐसा—जगतशून्य-रूप प्रकाश का लाभ कर तब महाशून्य में जाता है, क्योंकि यह जो जगत् में शून्य देखते हो यह प्राकृतिक स्वरूप है। इसलिए यह शून्य भी (जागतिक शून्य भी) रूप के ही अन्तर्गत है। इसी शून्य से होकर महाशून्य में जाना होगा।

तब बोध प्राप्त होगा—जिस बोध ने तुम्हारे जगत्-बोध में देह और मन को आच्छन्न करके इतने समय तक उसमें डुबा कर बाँध रखा था, वे ही बोध विश्व-बोध में परिणत होकर बोधदेव (दिव्यबोध) के रूप में प्रकट हुए हैं। बोधस्वरूप सर्वबोध 'स्वरूप' जहाँ आ गयां, स्वरूप में क्या हुआ, विचार करो। रूप-अरूप का ज्ञान असंख्य रूपों में जहाँ प्रकट होता है, जब सब कुछ निर्मूल है। आकार, प्रकार प्रकाश रूप के स्थान से च्युत होकर अरूप की स्थिति में गये, तब क्या कहोगे ? परमात्मा ही न। जीवात्मा जहाँ क्रमशः समग्र बन्धन के रूप में उस आवरण रूप से मुक्त अर्थात् परमात्म-स्वरूप है। जहाँ स्वरूप स्थित है।

देखो, एक और बात है। जो जिस 'लाइन' को पकड़ कर चलता है न। किसी-किसी को वेदान्त 'लाइन' में चलते-चलते भी ऋषिमार्ग स्फुरित होता है। फिर किसी-किसी के विग्रह आदि में भजन, पूजन, योग आदि की ओर लक्ष्य रख कर चलने पर भी ऋषिमार्ग प्रस्फुरित हो सकता है। आकाशवाणी इत्यादि जो कहते हो न, वे सव वाणियाँ शब्दरूप में सम्पूर्ण भाषा-भाव-योजित होकर प्रकट होते-होते उस वाणी में अपनी अभिन्नता की दिशा है—स्वयं वे इस रूप में प्रकट होते हैं। जो जिस 'लाइन' में क्यों न चले ऋषिमार्ग इत्यादि सब कब किस आकार में, किस प्रकार और प्रकाश में किसके निकट स्फुरित होंगे, यह बात सर्वसाधारण के लिये हृदयंगम करना कठिन है।

अच्छा, इस स्थान में जो, जिस लाइन से चला—यह जो कहा गया था, मूर्तिरूप में, क्या उस मूर्तिरूप में (वे हैं) या अमूर्त आत्मरूप में भी वे ही हैं ? अच्छा ऐसी स्थिति में अमूर्त आत्मरूप में भी वे हैं। मूर्तरूप में भी वे हैं। जब

कोई स्वाभाविक रूप से वेदान्त 'लाइन' में आत्मस्थ होता है। जल ही बरफ है वह भी जा सकता है विग्रह की ओर। तब देखता है समस्त विग्रह चिन्मय रूपमें वे हैं जैसे कि जल बरफ के रूप में है। बरफ में क्या है? जल ही है। अतएव 'सर्व' यह जो आवरण रूप में है, पर्दे के रूप में है, उस बरफ का ही 'स्टेज बाई स्टेज' है न, हल्का बरफ, कठिन बरफ इत्यादि। फिर जहाँ विशुद्ध है वहाँ 'स्टेज बाई स्टेज' इसका कोई प्रश्न नहीं उठता। बरफ यद्यपि गलने की स्थिति है, बरफ रह कर भी है तो और भी हो सकता है तो। अतएव बरफ के रूप में जो है, इसलिए स्वयं है; नित्य अनित्य का प्रश्न कहाँ?

ऐसी स्थिति में तुम लोग जो कहते हो न द्वैताद्वैत, यहाँ द्वैत भी है अद्वैत भी है। जैसे तुम पिता, पुत्र, पति हो। पति हुए बिना पुत्र कहाँ? पुत्र हुए बिना पिता कहाँ? ऐसी स्थिति में किसी भाव की कमी नहीं होती। उच्चस्तर और निम्नस्तर का कोई प्रश्न नहीं उठता, सब समान। जहाँ पर उच्चस्तर और निम्न स्तर की बात है वहाँ है ही। जो कहोगे सम्पूर्ण है, ऐसा समझना चाहिए। उपमा तो सर्वांगीण होती नहीं। थोड़ा बहुत अंश समझ लेना चाहिए। अतएव जल और बरफ की नित्यता भी ऐसे ही समझनी चाहिये। इसीलिए वे साकार भी हैं; निराकार भी हैं। जहाँ साकार अर्थात् बरफ दिशा है—नाना आकार, प्रकार और प्रकाश चिन्मय विग्रह के रूप में है। हर-एक दिशा से एक-एक विशेष रूप दिखाई देता है।

जहाँ सम्प्रदाय है—स्वयं भगवान् अपने को अपने से प्रदान करते हैं, जीव का जीवत्व पहिचानने की दिशा है वही जल बरफ है। बरफ में क्या है?—जल ही तो है। जहाँ द्वैताद्वैत है, द्वैत भी ठीक है, अद्वैत भी ठीक है अर्थात् रूप है, रूप नहीं है, इस दृष्टिकोण से बात कही गई।

फिर यही द्वैत भी है, अद्वैत भी है, यह भाषा में कहाँ भासता है? ऐसा स्थान तो है। भेद भी है, अभेद भी है। फिर, सच बात तो यह है कि वे भेदरूप में भी हैं, अभेदरूप में भी हैं। इस ओर भी जगत् दृष्टि से देखो न, भेद तो मानते ही हो। अपने को पाने के लिए जहाँ प्रयत्न करते हो भेददृष्टि तो है ही, अपने को पृथक् मानते हो जगद्दृष्टि में। इस ओर भेद तो पाते ही हो। हाँ, जगत् तो नाश की दिशा है, सत्य बात है 'स्व' नहीं—'वह' नहीं। नित्य नहीं रहता

है। यह रूप भी क्या है, जरा विचारो। अच्छा, जाता क्या है, आता क्या है ? गति देखो न, समुद्र की ओर स्वयं 'स्व' मुद्रा के रूप में। यह जो तरंग है, जल की ही तो लहर है, जल में लीन होती है। फिर जल ही तो लहर में है। उसी के सब अंग तो वह जल में तरंग है। जल के बरफ, लहर होने के मूल में क्या है ? यह भी तो एक स्थान की बात है, विचार करके देखो। उपमा सर्वांगीण नहीं होती। फिर जगत् दृष्टि से भी देखा तो आया क्या पाया क्या, देखो। जहाँ तुमने साकार रूप में पाया, निराकार रूप में भी पाया। फिर उसे ही इस ध्यान से पाया नहीं जाता, यह भी तुम जानोगे ही।

इसके भीतर सकाम सगुण रूप में प्रकाशित नित्य है। फिर निराकार निर्गुणरूप में भी वही है, गुण अगुण का कोई प्रश्न नहीं है, तब शुद्ध अद्वैत है। तुम लोग 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहते हो न, शुद्धाद्वैत जहाँ है वहाँ किसी रूप, गुण, भाव, अभाव का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। यदि कहो ये ही वे हैं, यह भी वे हैं तब 'भी' के मध्य में रहने से 'वह' को पृथक् मान लिया गया। वह, और इत्यादि का फिर कोई प्रश्न नहीं रहता। उस स्थिति में एकमात्र है। जहाँ निर्गुण ब्रह्म है, वहाँ गुणागुण का कोई प्रश्न नहीं है, एकमात्र आत्मा है। देखो, जहाँ सगुण, साकार रूप में मानते हैं। एकाग्र उस आकार रूप में, यहाँ फिर अरूप की बात रहेगी नहीं—यह एक स्थिति है। वहाँ पर अखण्ड भी है, निर्गुण भी है, वहाँ भी एक स्थिति है। चिन्तन करके बाहर प्रकट नहीं किया जाता—वह अचिन्त्यभेदाभेद है, वह भी एक स्थिति है। फिर वैदिक कर्मकाण्ड इत्यादि की दिशा से आया यह जो कहा गया है सब उस स्थिति में पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण जाने पर भी पूर्ण हो रहता है। घटता नहीं बिलकुल नहीं। घटाना बढ़ाना उन्हीं में है। जिस लाइन में जो चले केवल नाना प्रकार के भेद हैं। सभी में मन्त्र हैं, भाव है, त्याग है, ग्रहण है, पावेगा क्या ?—उस निज को अपने को ही तो। निज कौन है ? प्रभु, दास, पूर्ण-अंश—आत्मा जो जिस 'लाइन' में चलो स्वयं उसी को पाना है, अपने को ही पाना है।

देखो, स्वयं भगवान् को जहाँ मान लिया वहाँ भगवत्-शक्ति है। भगवती-भगवान् स्त्रीलिंग-पुलिंग के हिसाब से देखते हो न। (जहाँ) स्त्रीलिंग पुंलिंग का प्रश्न तो नहीं रहता, वह स्थान भी तो है, फिर जहाँ अलग-अलग रूप से प्रतीति होती है वह स्थान भी है। कुमारी किसी के अधीन नहीं है—वह स्वयं

वही वह शक्तिरूपिणी है । शक्ति ही जहाँ मान ली वहाँ क्या, सत्तारूप में नहीं है । स्वरूपा और अरूपा, केवल शक्ति ही उनका एक रूप है, यह भी है । जहाँ भाव और क्रिया का प्रकाश है वहीं रूप का प्रकाश है—यह भी है। फिर शक्ति-रूप में यदि कहूँ तो स्वयं भगवती है, उनकी अनन्त शक्तियों का प्रकाश होता है । फिर महाशक्ति जो मूल है; सृष्टि, स्थिति और लयरूपा है । वृक्ष के तुल्य, शाखा, प्रशाखा, मूल वैसी शाखा प्रशाखाएँ—कितने देवता देवियाँ उस शक्ति के नाना प्रकाश हैं । शिव का शिवत्व, निर्विकार सब, माने मृत्यु की मृत्यु जहाँ है वहाँ अमृत नामक शिव है । सृष्टि, स्थिति, लय जहाँ से प्राप्त करते हो, सृष्टिरूप में वही स्वयं हो रहे हैं, स्थिति रूप में वही स्वयं हैं महाविष्णु का रूप जिसे कहते हो । पृथक्-पृथक् स्थानों के हिसाब से स्वयं वह-वह रूप धारण किये हैं, प्रकाश नाना रूपों में और अरूप में भी है । एक में अन्य सभी हैं, विभिन्नता में उसी एक को देखो । जैसे एक रूप देखते समय अन्य रूप देख सकते हो । किन्तु एक रूप में ही सब है, सभी रूपों में वह एक है । शून्यता में पूर्ण, पूर्णता में वह शून्य है । विभिन्न प्रकार की दृष्टियों का मूल, वही तो प्रकाश स्थल है । अन् + अन्त—एक-एक दिशा से यदि कहा जाए तो भी अन्त कहाँ होगा । जितनी अनन्त की दिशा है उसके अनुरूप अन्त की भी दिशा समझनी चाहिए । सत्तारूप में क्या है ?—वही आत्मा परमात्मा जो कहो । भगवान् को जहाँ पर मान लिया भगवत्-शक्ति को मान लिया, ईश्वर-ईश्वरीय, ऐश्वर्य इत्यादि तो वे ही हैं ? अच्छा, ऐसी स्थिति में भगवान् अकर्ता है । क्योंकि वह तो कोई क्रिया करते नहीं हैं । कार्य करते हैं तभी उनका कर्ता नाम होता है । सब कार्य-कारण-रूप में जो स्वयं है । कार्य कारण के कर्ता अकर्ता का प्रश्न कहाँ ? अतएव वे यहाँ अकर्ता हैं जहाँ उनकी माया खेल रही है, ऐश्वर्य ईश्वरीय शक्ति का विकास-प्रकाश जहाँ यन्त्ररूप से है वहाँ वह प्रकाश है कौन ? वही तो हाँ । चल, अचल तुम लोगों की जो एकदेशीय दृष्टिभंगी है, जहाँ आवरण रूप में है, कर्ता; अकर्ता स्वरूप में तुम लोग जिसे कहते हो—तुम लोग कर्ता-अकर्ता रूप में जहाँ निबद्ध होकर कहते हो, उस दृष्टि से भिन्न आना स्वाभाविक है—जो कहो वही । अतएव उसी भाव से उस-उस रूप को देखना दृष्टि-सृष्टि की रीति से ।

आवरण पर्दा जितनी देर तक रहता है, उतनी देर तक यह जो एक ओर देखना, सुनना है—इसका नाश हुए बिना वह प्रकाश कहाँ ? अतएव नाश (होना चाहिए) । जो इतने सब दृश्य रूप में हैं वह वही हैं । अच्छा ये जो नाना संप्रदाय

हैं, अपने को वे प्रदान करेंगे इस भाव से सुन्दर एक-एक धारा विद्यमान है उनके अन्दर की बात हुई यह—वे स्वयं सर्वरूप में, अरूप में, नाना प्रकारों से प्रकाशित है। रास्ता के रूप में जिनके जो संस्कार हैं उनके अनुसार मार्ग पकड़ा कर वे ही उन्हें खींचते हैं। नाना दिशाएँ सम्प्रदाय के रूप में खड़ी हैं। यदि कहीं भी किसी स्थान में तुम लोगों का विरोध होता है ऐसा जो तुमने कहा है, यही तुम्हारा संशय है। यह शरीर तो कुछ भी नहीं छोड़ता। हर एक सम्प्रदाय का एक लक्ष्य स्थान रहता है जहाँ जाने पर उस का पूर्ण प्रकाश होगा। अतएव एक-एक दिशा से अर्थात् सम्प्रदाय से पृथक् मान कर तुम लोग मन में जो द्वन्द्व का अनुभव करते हो (उसका समाधान) हो सकता है। जिस 'लाइन' से जो पूर्वाङ्गी प्रकाश है, (उस संप्रदाय के प्रवर्तक) वे उस संप्रदाय में जो कह गये हैं, वहाँ जाने पर बाकी अंश स्वयं खुल जाता है, यह भी हो सकता है।

यह जो कहा है, यह तो रास्ता है; एक स्थिति है। हाँ यह तो सत्य बात है, इतना ही यदि प्रकाश रहे तब तो हुआ नहीं (यानी उतने से ही तो काम नहीं चलेगा।) क्योंकि विरोध-भंजन को वैसा ही प्रकाश चाहिए न। जहाँ निर्विरोध पूर्णाङ्गीण प्रकाश है। उसके न होने पर थोड़ा सा प्रकाश होने पर तो हुआ नहीं। जिस प्रकाश में किसी के साथ विरोध नहीं रहता। सम्पूर्ण जितना है इसी तरह है, समग्र पथ। जहाँ सम्पूर्ण परिपूर्ण है। विरोध की तो फिर स्थिति नहीं है। हाँ एकनिष्ठा के लिए, इष्टनिष्ठा के लिए जिस किसी 'लाइन' की ओर लक्ष्य रख कर विशेष विचार से चलना उचित है।

कर्मफल के दृष्टिकोण से भी देखो न। जिस ओर जिस भाव से अखण्ड लक्ष्य से अखण्ड कर्म होता है, वहाँ कौन प्रकट होते हैं? वह अखण्ड ही तो। और कर्म-मात्र में ही वह अखण्ड स्वयं प्रकाश है; उसी के लिए चेष्टा जीव स्वभावत· किये जाता है। स्वभाव में ही स्वभाव का कर्म है, स्वभाव में ही स्वभाव के कर्म का आकर्षण है। स्वभाव, स्व स्वयं आत्मा कहो या जो कहो वही मैं हूँ।



१८

प्रश्न : जब चित्त समाधि में रहता है तब उसमें किसी प्रकार के चमत्कार का प्रकाश होता है या नहीं ? यदि होता है तो ध्येय वस्तु से च्युति हुई या नहीं ? और उसका मूल कारण क्या है ?

माँ : समाधि माने समाधान ।

प्रश्न : समाधान किसी प्रश्न का होता है, समाधि अलग वस्तु है ।

माँ : इस शरीर से शास्त्र की भाषा में बातें नहीं होतीं । यह शरीर जल, मिट्टी, हवा—इन सब साधारण वस्तुओं को लेकर ही बातें करता है । जो समझदार हैं, वे इसी टूटी-फूटी भाषा से समझ जाते हैं । समाधान के माने है जहाँ पर रूप, अरूप, भाव, अभाव सब कुछ का समाधान है । एक होता है प्रश्न का समाधान और दूसरा है जहाँ प्रश्नोत्तर का प्रश्न ही नहीं उठता वह समाधान—वही समाधि है ।

प्रश्नकर्ता : हाँ समाधि दो प्रकार की है—सविकल्प और निर्विकल्प ।

माँ : एक है विश्व-ब्रह्माण्ड का एक सत्ता में परिणत होना और दूसरी है जहाँ सत्ता की भी बात नहीं रहती ।

प्रश्नकर्ता : सत्ता की भी बात नहीं । तब क्या है ।

माँ : संकल्प विकल्प रहने पर सविकल्प भी नहीं है । सविकल्प है सत्ता-बोध । जहाँ सत्ता का भी बोध नहीं—क्या है और क्या नहीं । उस स्थान में भाषा द्वारा कितना व्यक्त कर सकते हो ? वह निर्विकल्प है । उसमें चमत्कार रहता कहाँ है ?

प्रश्न : चमत्कार अर्थात् अलौकिक वस्तु, जो साधारण की समझ में नहीं

आती, मन का अवश्य ही विषय होती है। मन को मान लेने पर मन की कल्पना ही मन का विषय है। मन से पृथक् कोई वस्तु तो है—चित्, जिसे तुम पूर्ण कहते हो। उसके सिवा मन का जो अवलम्बन है, वही चमत्कार है।

माँ : चमत्कार कौन देखता है ?

प्रश्नकर्ता : मन देखता है।

माँ : मन यदि न रहे तो चमत्कार का दर्शन नहीं होता। इसलिए निर्विकल्प समाधि में दर्शन कैसा ?

प्रश्नकर्ता : मेरे विचार में यह आता है कि दोनों प्रकार की समाधियों में मन रहता है। शास्त्र में कहा है कि निर्विकल्प समाधि में मन नहीं रहता। अवश्य यह स्थूल मन तो नहीं रहता, मगर वह सूक्ष्मरूप में लीन रहता है—यह मानना ही पड़ेगा। अन्यथा व्युत्थान होने पर अनुभव कैसे होता है ? अर्थात् व्युत्थान अवस्था में उसका स्मरण होता है या नहीं ? यदि होता है तो सूक्ष्मरूप में मन रहता है, यह अवश्य मानना होगा।

माँ : कोई कोई कहते हैं लेश रहता है। लेश यदि न रहे तो शरीर का प्रकाश कैसे होगा ? इस शरीर की यह भी तो बात है—(ज्ञान) जब सब कुछ जला सकता है तब वह लेश को क्या नहीं जला सकता ? जहाँ अनुभूति होती है वह तो मन ही है। मन जहाँ है, वहाँ चमत्कार होता है।

प्र० : यदि लेश हट जाता है तो शरीर रहता कैसे है ? किस अवस्था में लेश हट जाता है, प्रारब्ध अवस्था में या प्रारब्ध के अन्त में ?

माँ : पिता जी (आपका) क्या मत है ? कोई-कोई कहते हैं, यह मन नहीं है। इस शरीर की तो वही बात है, सब कुछ जब ज्ञान से जल जाता है तब प्रारब्ध को क्या वह नहीं जला सकता ?

प्र० : प्रारब्ध के जल जाने पर शरीर रहता है कैसे ?

माँ : तब क्या यह कहना चाहते हो कि शरीर जब तक है तब तक प्रारब्ध एवं मन को रहना चाहिए ? हाँ, यदि इस शरीर को मानो तो प्रारब्ध को

मानना ही पड़ेगा। और मन को भी जिस रूप से तुम कहते हो, मानना उचित है। शरीर माने परिवर्तन, जो हट जाता है। जहाँ मृत्यु की मृत्यु की बात है, वहाँ क्या फिर शरीर का प्रश्न उठ सकता है ?

प्र० : जब चमत्कार दिखाई देता है तब मुख्य स्थान से च्युत होना हुआ या नहीं ?

माँ : असली स्थान पर पहुँचने पर चमत्कार, च्युत होने अथवा न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। विदेह मुक्ति किसे कहते हैं ?

प्र० क० : इस शरीर का त्याग होने पर फिर दूसरे शरीर को धारण न करना विदेह-मुक्ति है।

माँ : अच्छा, शरीर ही क्या बाधक है ? तब क्या पतन होता है ?

प्र० क० : नहीं, निर्विकल्प समाधि का फल है ज्ञान का आदेश।

माँ : समाधि भी एक अवस्था कही जाती है। अवस्था में सभी कुछ हो सकता है। जो जिस स्थिति में रहता है, उसे वहाँ का ज्ञान तो होगा ही।

प्र० क० : वह होने पर ध्येय से च्युति हुई ही।

माँ : ध्येय का प्रकाश, ध्येयरूप से प्रकाश होने पर फिर च्युति कैसी ? अर्थात् ध्येय यदि स्वयं प्रकट हुआ तो फिर च्युति कहाँ ?

प्र० : वह चमत्कार वासनामूलक नहीं है क्या ?

माँ : जिसका बीज रहता है उसी का प्रकाश होता है, नहीं तो वह होता कैसे है ?

प्र० क० : तालाब की लहरें। लहर जल का स्वभाव नहीं है, वायु से लहर उठती है—कैसे वासना का अभाव होगा ?

माँ : जब तक बीज भुनेगा नहीं तब तक अंकुर उत्पन्न होगा ही। अच्छा, तुम्हारे मत में स्वरूपज्ञान होने पर शरीर रहता है या नहीं ?

प्रश्नकर्ता : मैं तो कहूँगा रहना चाहिए।

माँ : हाँ, कोई कहते तो हैं लेश ले कर ?

प्र०क० : क्या आचार्य का उपदेश ज्ञान से होता है या अज्ञान से ?

माँ : जहाँ तुम्हारा लक्ष्य स्वरूपज्ञान का प्रकाश है वहाँ अज्ञान मानना तो उचित नहीं है।

प्र०क० : इसीलिए मैं सोचता हूँ कि सर्वकर्मनाश न होना ठीक है।

माँ : जैसे बिजली का पंखा स्विच बन्द कर देने पर भी चलता रहता है।

प्र०क० : इस दृष्टान्त में बिजली का प्रवाह बिलकुल नष्ट हो जाता है। इसी तरह अविद्या सर्वथा नष्ट हो जाती है क्या ?

माँ : कनेक्शन चला गया है। जो आ गया है, वही प्रारब्ध है।

प्र०क० : वैसी स्थिति में वह प्रारब्ध कर्मफल दे सकता है या नहीं ? मेरी समझ में तो उसका नष्ट होना उचित है।

माँ : ज्ञानी जो उपदेश देता है, वह क्या जब तक प्रारब्ध रहता है तभी तक का या उसके आगे का भी ?

प्र०क० : उसके आगे का नहीं। उसके आगे का आदेश अवतारी पुरुष द्वारा होता है। ज्ञानी का उपदेश प्रारब्ध तक ही होता है।

माँ : जिस स्थिति में ज्ञान स्वयं प्रकाश है वहाँ क्या वह कर्म की अपेक्षा रख कर स्वयंप्रकाश है ?

प्र०क० : एक स्वरूपज्ञान और दूसरा है वृत्तिज्ञान। ज्ञानी का वृत्ति लेकर जो ज्ञान है वह प्रारब्ध भोग के लिए है।

माँ : ऐसी स्थिति में तुम्हारे कथनानुसार बालक को पढ़ते-पढ़ते जैसे ज्ञान-वृद्धि होती है वह भी तो ज्ञान की ही वृद्धि है। तब तो उसे भी वह ज्ञानी नहीं कहा जा सकता।

प्र०क० : स्वरूपज्ञान स्वयंप्रकाश है, किन्तु वृत्तिज्ञान का प्रकाश विषय लेकर होता है। स्वरूपात्मक ज्ञान से ज्ञानी नहीं कहा जाता। वृत्तिज्ञान से ही ज्ञानी कहा जाता है, क्योंकि स्वरूपज्ञान तो सभी को है।

माँ : जहाँ स्वरूपज्ञान है, ऐसा जो तुमने कहा क्या वह किसी स्थान में स्थित है?

प्र०क० : वह स्वरूप में स्थित है।

माँ : हाँ, बाबा, तुमने जो कहा है कि सब स्वरूप ज्ञान में स्थित है, हाँ यह बात ठीक है।

प्र०क० : हाँ, पर सबको बोध नहीं है। वृत्ति का ज्ञान जिन्हें होता है वे ही ज्ञानी हैं। जिज्ञासु की भावना से उपदेश हो सकता है।

माँ : हाँ, स्वयं स्वरूप ही जहाँ नित्य प्रकाशमान है, वहाँ की बात यहाँ फिर आती कैसे है? जहाँ कि क्रम-विकास में प्रकाश होने पर ज्ञान लाभ होता है, जैसा तुमने कहा है—वृत्तिज्ञान में स्थित है। •

शब्द, युक्ति, भाषा जो कुछ है वह मन का है। और एक बात है—जिस स्थिति में यह वाणी है, वहाँ तक भाषा नहीं पहुँचती। यह शरीर जो कुछ कहता है मान लेता है, क्योंकि जो जिस सीढ़ी पर चढ़ा है वह वैसा ही देखता है। जो जो कुछ कहता है—ऊँच नीच—इस शरीर के लिए, वह सब बराबर (एक सा) है। इसलिए प्रारब्ध के बिना शरीर रहता है अथवा नहीं रहता, जो जहाँ जो कुछ कहता है, सभी ठीक है। वाक् वाणी के परे—जहाँ प्रकाश, अप्रकाश, स्थिति, अस्थिति, स्थान, अस्थान कुछ भी नहीं टिकता। पहले तो लौकिक वस्तु के स्वरूप का ही वर्णन नहीं किया जा सकता, अलौकिक वस्तु का स्वरूप तो और भी दूर की बात है। लीन रहता है ऐसी भी बात है। फिर जहाँ लीन रहता है ऐसी बात है वहाँ से भी कोई योगी उठा ले सकते हैं—ऐसी भी बात है, जैसा कि तुम लोग कहा करते हो? किन्तु यह शरीर जिस जगह की बात कहता है वहाँ यह बात भी नहीं है, 'नहीं है' भी नहीं है। विचार-युक्ति से कहा जा सकता है कि लेश रहता है, किन्तु यह शरीर ऐसी जगह की बात कहता है जहाँ लेश का कोई प्रश्न ही नहीं है।

प्र०क० : तब शरीर रहता है या नहीं ?

माँ : उस स्थिति में यदि शरीर बाधक हो तो वह स्थिति ही नहीं है। उस अवस्था में शरीर है या नहीं, इसका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

प्र०क० : वहाँ प्रश्नोत्तर होते हैं या नहीं ?

माँ : हाँ, जहाँ 'शरीरी' विषय को लेकर प्रश्न है, जहाँ शिष्यदृष्टि तथा गुरुदृष्टि है वहाँ प्रश्नोत्तर होते हैं।

प्र०क० : तब गुरु, शिष्य ये सब बातें निरर्थक हैं ?

माँ : उपदेष्टा जहाँ पर स्थित है वहीं तक शिष्य की गति है। यदि वह भी अज्ञानी है, प्रश्न भी अज्ञानी का है तो ज्ञान-प्रकाश की आशा कैसे हो सकती है ? हाँ, जो बात स्वरूप की ओर की है, (उसको) मंगल, कल्याण होना स्वाभाविक है। अच्छा बाबा, कहो तो जगत् के गुरु जो आचार्य हैं, उनकी सन्निधि के प्रश्न और उत्तर का लक्ष्य स्वरूप-प्रकाश है—यह तो स्वाभाविक है, होगा ही, है ही, मिथ्या कहाँ है ? और एक बात है, अच्छा कहो, प्रश्नोत्तर कौन किसको करता है ? किस स्थिति में वह केवल देखता है प्रश्नोत्तर। जो उत्तर देता है, ऐसा कहते हो—यह क्या व्यष्टि है ? किसको उत्तर कौन देता है ? उत्तर क्या है ? कौन भी वहाँ क्या है ? जहाँ स्वयं प्रकाश नहीं, वृत्तिज्ञान जहाँ है। यह मानना कठिन है। मानने, न मानने का व्यापार है न। जहाँ मानने, न मानने का प्रश्न ही उत्थापित नहीं हो सकता कहते हो, वहाँ फिर वादविवाद कैसे हो सकता है।

पिताजी, यह जो तुमने पूछा कि तुम अपना अनुभव कहो, यह बात जब तुम कहते हो तब तो अनुभव करने वाला रह गया। उसमें तो यह बात नहीं आती, किन्तु ऐसा भी है कि जहाँ गुरु शिष्य में क्या कर देता है, यह प्रश्न ही नहीं होता। यह शरीर नहीं रहता है, यह प्रश्न भी नहीं रहता। इस शरीर और उस शरीर का प्रश्न भी नहीं रहता। इसके भी बाद जो है उसका वाक् वाणी से प्रकाश नहीं हो सकता। तुम वाक्य के द्वारा, शब्द के द्वारा जो कुछ लेकर आओगे, वस्तुतः वह दृष्टि-सृष्टि ही लेकर आना होगा। पिताजी, ऐसा है—'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति", ऐसा भी एक स्थान है जहाँ एक—द्वितीय ऐसा

भी प्रश्न नहीं रहेगा । वही स्वरूप है । वह दो हुआ है विचार में आकर । जैसा कि तुम कहते हो पैर नहीं हैं, चलता है, आँखें नहीं हैं, देखता है ।

इस शरीर की बात यह है—जो कोई विचारदृष्टि से, शरीरदृष्टि से, शिष्य-दृष्टि से कहता है वह तो उसे विचारदृष्टि से ले सकता है । क्योंकि जिसने जैसा चश्मा पहना है उस चश्मे से वह वही तो देखेगा । यह शरीर कहता है जो जिस तरह की बात कहे उस विचारदृष्टि से आता है—लेश और प्रारब्ध । और जहाँ वही प्रकाश है वहाँ यह बात भी नहीं आती, वहाँ विचार का भी कोई प्रश्न नहीं उठता । इस विचार, इस दृष्टि के ऊपर भी ऐसी स्थिति है, जिसमें ये सब कुछ भी नहीं टिकते । पिताजी, ऐसा है--वाणी, भाषा किसी भी विचार का वहाँ स्थान नहीं है । "नहीं है" कहने में भी जो भाषा प्रयुक्त होती है वह भाषा भी तो भाषा है । इसीलिए तो कहा जाता है कि यहाँ वाक् वाणी भाषा की बात नहीं है । यह सत्य है; समझे पिताजी ।

यहाँ पर माँ के उत्तर एक प्रकार से अनमेल से हो गये, अर्थात् प्रश्न अन्य तरफ़ के और माँ के उत्तर दूसरी ओर के । माँ ने कहा, प्रश्न का ठीक-ठीक जवाब पाओगे नहीं । इसी में से जो ज्ञातव्य है, जान लेना होगा ।



१९

काशीधाम
२५-१०-१९४८

प्र० : यहाँ जो यज्ञ हो रहा है, इस यज्ञ का फल क्या है ? इसका फल किसे मिलेगा ?

माँ : यहां जो यज्ञ के संकल्प की बात सुनी है—मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पौधे, जितने इस ब्रह्माण्ड के हैं—उन सबके जो इष्टदेव हैं अर्थात् जो किसी का भी अनिष्ट नहीं करते उनकी प्रीति के लिए। ऐसी स्थिति में फल किसे मिलेगा तुम्हीं कहो ? यह किसी ऐरे गैरे काम के लिए हो रहा हो ऐसी बात नहीं है।

आकाश में बादल आने पर क्या होता है ? वृष्टि होती है। पाता कौन है सभी। भगवान् की प्रसन्नता की जो कामना है—जैसे गाँठ लगी है उसे खोलने को जाना भी तो बन्धन है—वह उसी तरह की है। जिस कामना से कामना का क्षय हो जाता है। क्यों ध्यान करते हो ? क्यों स्वरूप में स्थिति का प्रयत्न होता है, यह कामना क्यों होती है ?—उनके (भगवान् के) प्रकाश (साक्षात्कार) के लिए।

जो कामना तुम्हें और भी अधिक बन्धन में डाले वही तो बाह्य नहीं है। उस वृत्ति को हटाना हो तो तुम्हें क्या ग्रहण करना चाहिए ?—वह। क्योंकि तुम्हारा जो है उसी को देकर ही तो तुम्हें पाना होगा।

काशीधाम
२६-१०-१९४८

आज माँ झूसी को रवाना हो गयीं। बनारस स्टेशन पर निम्नलिखित बातें हुई।

प्र० : सुना जाता है कि योगी योग के प्रभाव से मनुष्य की आयु अधिक से अधिक १।२ महीना बढ़ा दे सकते हैं। साधारण योगियों का योगबल प्रायः इससे अधिक कार्यकर नहीं हो सकता।

माँ : हाँ, इस जगह की यही बात है। फिर दो एक महीना बढ़ा देने पर भी बढ़ाने का क्रम तो रह गया।

एक है अन्य की आयु द्वारा आयु की वृद्धि करना। फिर अन्य की आयु न लेकर भी आयु और अधिक बढ़ाई जा सकती है। इस तरह की शक्ति रखने वाले योगी भी हैं। सृष्टि की दिशा जहाँ खुली है वहाँ की तो भिन्न बात है ही।

प्र० : ऐसी स्थिति में तो यही शरीर अमर बनाया जा सकता है ?

माँ : वहाँ सभी कुछ सम्भव है।

प्रश्न : हाँ, उनको यदि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् माना जाए तो उनके लिए फिर असम्भव क्या है ? किन्तु शास्त्रों में इस तरह का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। हनूमान् आदि अमर कहे जाते हैं, किन्तु प्रवाद है कि उनको भी योग-बल से शरीर बदलना पड़ता है।

माँ : वहाँ सब कुछ सम्भव है, सभी असम्भव है। यह नहीं हुआ और वह नहीं हुआ, यह तो जीव-जगत् की ओर की बातें है ही। एक ढंग से शरीर रखना हो तो वह भी रखा जा सकता है और रहता है। इस ओर भी देखो न—शरीर से शरीर का होना, पेड़ से पेड़ का होना इत्यादि। किसी जगह होना या न होना। यह सब कुछ जहाँ है एवं प्रकाशित होता है और होगा भी, वहाँ क्या नहीं और क्या है ? इस विषय में क्या कहा जाए। फिर तुम जो कहते हो कि प्राप्त नहीं होता, उसका कारण यह है कि जहाँ वास्तविक प्रकाश की बात है, जितना भी क्यों न हो वहाँ यह सब प्रत्यक्ष है।

प्र० : तुम्हारे ही मुँह से सुना है कि एक ही जीव के अनेक शरीर रहते हैं। सम्भवतः वह किसी शरीर से योग करता है और दूसरे शरीर से भोग करता है एक ही समय में। योगी के लिए यह सम्भव है, किन्तु जो अज्ञानी जीव हैं उनके लिए यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

माँ : हाँ, योगशक्ति से यह होता है। अज्ञानी जीव का तो ऐसा करना सम्भव नहीं है। देखो, यद्यपि तुम फूल की कली ही देखते हो किन्तु उस कली में पूरा खिला हुआ फूल, फल, बीज और पेड़ है। केवल प्रकाश की अपेक्षा है। तुम्हारी दृष्टि केवल एक ओर की ही है। चारों ओर देखो—योगी और जीव कौन हैं ? तुम्हारा शरीर ही बालक था, युवक हुआ और आगे बूढ़ा होगा। बालकत्व, युवकत्व और वृद्धत्व सभी तुम्हारे अन्दर हैं। यदि नहीं हैं तो आये कहाँ से ? देखो न लोग कहते हैं, तुम्हारा बचपन का चेहरा ऐसा था, इससे सिद्ध है कि तुम्हारा वह चेहरा इस समय भी मौजूद है। यदि न रहता तो कहते कैसे ? उसी तरह तुम्हारा सब अवस्थाओं का शरीर सदा मौजूद रहता है। जो पहले था, अब हो रहा है और आगे होगा—यह बात जहाँ की है वहाँ के लिए यह है।

प्रत्येक क्षण में काल निगल रहा है—बाल्य गया, यौवन आया। एक दूसरे को निगल रहा है। प्राकृतिक दृष्टि के सामने यह बात पकड़ में नहीं आती। परिवर्तन बहुत थोड़ा दिखाई पड़ता है। । सृष्टि, स्थिति और लय एक जगह में हैं। सब कुछ अनन्त है। अनन्त और अन्त एक ही है। माला में धागा एक ही है। फूलों के बीच व्यवधान (स्पेस) है। व्यवधान से ही अभाव और दुःख होते हैं। व्यवधान को भरना ही अभावों से छुटकारा पाना है।

रायपुर
३-१२-१९४८

प्र० : ज्ञानप्राप्ति में गुरुशक्ति की अपेक्षा है या नहीं ?

माँ : एक बात ध्यान में रखनी चाहिए—इच्छाशक्ति का जो ग्रहण है वह गुरुशक्ति की क्रिया है। यह जो इच्छाशक्ति है वह भी कहा जा सकता है कि गुरुशक्ति से ही प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में दोनों ओर से स्वयं का ही प्रकाश है। स्वयं कौन है ? प्रकाश तो वे (भगवान्) ही एकमात्र हैं। ऐसी स्थिति में पुरुषकार नाम की जो बात है उसे पृथक् क्यों करना ? हाँ, हो सकता है अन्त-र्गुरु के आश्रय के बल से। कोई 'गुरु' नाम को हटा देना चाहते हैं। क्योंकि अपने कर्म के ऊपर विश्वासरूप से प्रकाशमान जो पुरुषकार है वह भी गुरुशक्ति का ही प्रकाश है। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो जो पुरुषकार के स्वरूप में तीव्र इच्छा से काम कर रहे हैं उसी रूप से वे स्वयंप्रकाश विशेषरूप में हैं। ऐसा होने

पर फिर किसी तरह से आपत्ति उठने की सम्भावना रहती है क्या ? यही सब साधारण रूप से जो कहेंगे वे प्रश्न उठाएँगे मन की नियमित गति के विषय में। फिर, वहाँ सब कुछ सम्भव है।

पुरुषार्थ में भी जो प्रवृत्ति है, उसमें भी तो उसी शक्ति का हाथ है। वही गुरुशक्ति उनके भी भीतर विशेष काम प्रकट कर सकती है न ? बाहरी शब्द की आवश्यकता नहीं हुई है। किन्हीं को बाहरी शब्द की अपेक्षा रह सकती है और किन्हीं को बाहरी शब्द के बिना भी भीतर में प्रकाशित नहीं हो सकता है क्या ? इतना आवरण जब नष्ट हो सकता है तब फिर यह नहीं हो सकता क्या ? गुरु के उपदेश ने भीतर काम किया।

एक बार जब गुरु का ग्रहण होता है, साधारणतः लड़कों का देखा जाता है, बार-बार कह देना पड़ता है, और किसी-किसी को एक बार कहने से ही स्मरण रहता है। किन्हीं-किन्हीं लड़कों से सब विषय न कहने पर भी पढ़ते-पढ़ते उनके भीतर वह स्फुरित हो कर धारणा में प्रविष्ट हुआ दीख नहीं पड़ता क्या ? ऐसे चतुर लड़के भी नहीं हैं क्या ?

जैसे सभी उपासना करते हैं, एक ही साथ अनेक लोग दीक्षा ले कर उपासना करते हैं। उनमें एक दो व्यक्ति समानरूप से एक ही आश्रय को पा कर भी विशेष उन्नति प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ तक कि जगद्गुरु के पद पर भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं। पर पूर्व-पूर्व जन्मों के उपदेशों का स्फुरण इस समय मान लिया जा सकता है। फिर उसकी उपासना में समय के महायोग से यह विशेष प्रकाश नहीं हो सकता है क्या ? किसका किस क्षण में प्रकाश हो। किसी को तीव्र साधक देखा जाता है। योग जो है, योग की जो चेष्टा है, वह वही (भगवान् ही) स्वयंप्रकाश होंगे इसलिए नहीं है क्या ?

कितने ही लड़के कालेज में पड़ते हैं, पर फ़र्स्ट कितने होते हैं, एक ही प्रोफ़ेसर का तो सबके साथ समान सम्बन्ध है। किस क्षण में किस को संयोग प्राप्त होगा, यह कहा नहीं जा सकता। जैसे पहले पहल सफलता प्राप्त नहीं हुई किन्तु अन्त रक्षा ही रक्षा है। पहले पहल (प्रारम्भिक स्थिति में) ही उसके विषय में विचार कर सिद्धान्त नहीं किया जा सकता। परमार्थ क्षेत्र में अन्त रक्षा ही तो प्रथम रक्षा भी है।

और मन्त्र क्या है ? मन्त्र तो वही तुम 'मैं' जिस बोध में स्थित है उसी अहंकार से युक्त रहता है, फिर स्वयं रहते हैं वे शब्दरूप में। देखो न, उन्हीं शब्दों की क्या सुन्दर योजना महावाक्यरूप में है। जैसे हम अखण्ड बन्धन में है ऐसा तुम सोचते हो, यहाँ मन का ही तो व्यापार है न ? उसी से तो उन दो चार खण्ड अक्षरों की योजना रूप जो शब्द है उनका कथनमात्र ही ज्ञान है। वे जो अक्षर हैं उस अक्षर पुरुष के साथ कैसे वे सम्बद्ध हैं। वह देखो अब शब्द-ब्रह्म—शब्दमात्र में आत्मस्थिति। देखो बिन्दु में सिन्धु है और सिन्धु में बिन्दु है। ये टुकड़े अग्नि के टुकड़े नहीं तो और क्या हैं ?—वही जो आत्मस्वरूप हैं।

मान लो, जिस बन्धन में रहे थे अखण्ड मन में 'मैं' 'तुम' ले कर फिर उसी शब्द से ही उद्घाटित किया जाता है। वह शब्दयोजना युक्त ही है। शब्द द्वारा ही तो निःशब्द में चलना पड़ता है, क्योंकि अखण्ड रूप का ही तो प्रकाश है। और वहाँ सब कुछ सम्भव नहीं है क्या ? क्योंकि वह स्थान ज्ञान अज्ञान के परे है ?

जब तक उस ज्ञान में स्थिति न हो (तब तक) तरंग और शब्द के बीच में तुम सभी हो। एक शब्द बाहर ले आता है और एक शब्द अन्तर्मुख कर देता है। यह जो बाहर ला देता है इसमें भी अन्तर्मुख के साथ सम्बन्ध रहता है। इसलिए उस अन्तर्मुख से जो योग रहता है वह किसी शुभ मुहूर्त में महान् योग से युक्त हो कर वही महापुरुष हो जाता है अर्थात् वह जो है निर्विकार निराकार। जैसे स्वयं प्रकाश हैं वैसे यह भी सम्भव नहीं है क्या ? यह भी प्रकाश जैसे स्वयं प्रकाश है किसी जगह बाहरी शब्द के बिना भी स्वयं प्रकाश को मानने में आपत्ति क्या है ? किसी जगह अपेक्षा रहती है, किसी जगह अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु साधारणतः जीवजगत् में आपेक्षिक ही है। जहाँ नहीं रहता है पूर्व-पूर्व जन्मों में सुना और संस्कार है वह भी हो सकता है जीवजगत् में। फिर पूर्व-पूर्व जन्मों में श्रवण और संस्कार न होने से भी कहाँ हो सकता है, यह भावना का विषय नहीं है क्या ? स्वयंप्रकाश जहाँ है उसकी बाधा कहाँ है ? विचित्रता तो अपनी ही विचित्रता है, दृष्टि के बोध से देखना और कहना।



२०

प्र० : विचार-सागर में कहा गया है कि एक राजा की, अपने अर्जुनामक मन्त्री को अपनी आँखों से अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) देख कर भी, विपरीत भावना नहीं गयी। वैसे ही महावाक्य से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होता है। किन्तु जिसकी बुद्धि में असम्भावना और विपरीत भावना दोष विद्यमान है, उसका दुष्ट अपरोक्षज्ञान मोक्षरूप फल उत्पन्न नहीं करता। विषय प्रकाशित होने के बाद प्रतिबन्ध का प्रश्न कहाँ ? उपदेश की आवश्यकता कैसी ?

माँ : एक है निरावरण प्रकाश और दूसरा है आवरण-सम्भावना रख कर, प्रकाश। वह अकारण तो नहीं है। किसी समय जब कि इस शरीर में साधना और उपासना के खेल प्रकट होते थे, उस समय बिलकुल साफ-साफ नाना रूप दिखाई देते थे।

अच्छा मान लो, यह सोचो कि जैसे एक पर्दा मानो जल गया, गल गया कुछ समय के लिए आवरण हटा हुआ मालूम पड़ा। फिर मानो उसी को लेकर वही जगह आवरणयुक्त हुई। किन्तु हुआ क्या ? अज्ञान का पलड़ा कमजोर पड़ने पर ज्ञान का पलड़ा भारी हुआ अर्थात् पहले के आवरण के साथ बन्धन शिथिल होकर रहा। इस अवस्था में मानो ज्ञान की प्राप्ति होती है, किन्तु ऐसी स्थिति भी प्राप्त होती है। किन्तु स्वयं-प्रकाशरूप जो स्थिति है वह कहाँ ? इसी जगह सहसा गुरु-शक्ति से पर्दा कट या जल गया—जैसे कि 'दशमस्त्वमसि' है। यह जो प्रकाश है इसमें फिर आवरण का प्रश्न नहीं उठता—यह स्वयंप्रकाश है। बिजली के चमकने से प्रकाश होता है और दिन का प्रकाश तो रहता ही है।

प्र० : जो शास्त्र में नहीं है उसका सम्भव कैसे हो सकता है ?

माँ : यह जो तुम्हारे जन्म कर्म हैं ये शास्त्रीय व्यापार ही तो हैं। वह अनन्त है। उस अनन्त का तुम्हारे साथ जो योग है उस योग से ही कर्म आदि

होते हैं या होंगे। चाहे वे जो भी आकार धारण करें, शास्त्र की दृष्टि से तुम नहीं भी पा सकते—शास्त्र भी तो अनन्त है। वाह! भगवान् के राज्य का क्या सुन्दर विधान है। समझो न, नूतन धारा में मनोराज्य में जब उनकी झाँकी अनुभव में आती है, बड़ी मधुर और बड़ी आनन्ददायक लगती है, किन्तु नित्य नूतन भी होती है।

देखो एक बात—अन्त में अनन्त और अनन्त में अन्त, खण्ड में अखण्ड और अखण्ड में खण्ड प्रतीत होता है वही महान् धारा जब 'धरा होती है' (पकड़ में आती है)। अच्छा, अपने को ही तो तुम धरोगे। मनोराज्य का व्यापार ही केवल नहीं है, नूतन धारा में नित्य नया-नया रूप जहाँ प्रकट होता है। अखण्ड धारा में योग का महायोग होना स्वाभाविक है।

देखो शास्त्र में सब बातें हैं और नहीं भी हैं। कल्पना करो रेल द्वारा देहरादून से रवाना हुए। यात्रा-पथ में बड़े-बड़े स्टेशन, नगर और अनेकानेक ग्राम आए। वैसा ही उनका उल्लेख भी हुआ। किन्तु एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन के मध्य में जो वस्तुएँ रहीं, उन सबका एक-एक करके उल्लेख हुआ क्या? उस तरह से तो सबका उल्लेख हुआ नहीं। पेड़-पौधे, जीवजन्तु छोटी-छोटी चींटियाँ भी कितनी ही हैं; उन सबका क्या उल्लेख हो सकता है? अनन्त सृष्टि है, अनन्त स्थिति है, उनकी अनन्त विचित्र गति और स्थिति का प्रकाश सदा ही हो रहा है। हाँ, पर साधक के निकट जो प्रकाश होता है, लेखे-जोखे द्वारा उस पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला जा सकता। और एक बात यह है कि वह वचन और मन का अगोचर है, जो कहने लायक होता है वही कहा जा सकता है। जो वाणी का अगोचर है वह तो जो है वही; यानी गूंगे का गुड़। किसी को कहीं पर जो धारा हाथ लग गयी वह तो इसके बीच की ही बात है। जहाँ सांगोपांग प्रकाश होता है वहाँ 'शास्त्र में नहीं था' यह बात ठहरती नहीं है। यात्रापथ में जो मुख्य-मुख्य स्थान हैं उनका विवरण स्पष्ट है ऐसा जो सोचते हो शास्त्र में भी ऐसा तो है ही। और जो बहुत सी चीजें नहीं हैं, ऐसा प्रतीत होता है वे भी तो हैं। साधक की स्थिति के अनुसार सब अपने आप प्रकट होता है। जहाँ सांगोपांग प्रकाश है, वहाँ मुख्य-अमुख्य का सवाल नहीं रहता। गन्तव्य स्थान पर पहुँचने पर उसे सांगोपांग प्रकाश अवश्य ही प्राप्त होता है। यदि यह कहा जाए कि यह तो शास्त्र में नहीं है तब वह गन्तव्य स्थान की बात कहाँ रही? केवल 'न' और 'हाँ' रास्ते

में तो है ही। अनन्त रास्ता है। वहाँ सीमा नहीं हो सकती, शास्त्र में नहीं है इस तरह से। जहाँ अनन्त है, वहाँ रास्ता भी अनन्त है, रास्ते का प्रकाश भी अनन्त है। अरे, तुम लोग कहते हो न, 'जितने मुनि उतने मत' अलग-अलग मत न होने पर मुनि न हों।

अच्छा, यह तो हुई इधर की बात। अब प्रस्तुत विषय चलता है—जहाँ यह बात कहना सम्भव हो वहाँ सब कुछ सम्भव है, वहाँ किसी शास्त्र या ग्रन्थ में न मिलने पर यह नहीं कहा जा सकता कि वैसा प्रकाश नहीं हो सकता या नहीं हुआ है। क्योंकि प्रकाशरूप जो है उसी के प्रकाश के लिए ही तो एड़ी चोटी का पसीना एक किया जाता है। जिसका अस्तित्व नहीं है, हो नहीं सकता, होता नहीं, उसके लिए हाय-हाय कैसे हो सकती है?

किसी ने कहा—राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा किसी का भी नाम लेने से काम नहीं चलेगा, कहना होगा एकमात्र माँ। वह भी फिर सब माँ नहीं, उन लोगों की निर्दिष्ट जो माँ है। किसी ने फिर कहा, किसी भी नाम से भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती, केवल विचार करना चाहिए। मन में जो प्रश्न उठें उनका विचार कर के समाधान करना चाहिए। स्वयं समाधान न हो सके, तो दूसरे की सहायता लेनी चाहिए। वह चाहे जो भी हो। किन्तु यहाँ गुरु-शिष्य का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। गुरु फिर कौन? सभी एक हैं।

इस सिलसिले में माँ ने प्रश्न किया—पिताजी, यह जो तुमने उपदेश दिया, इसे जो ग्रहण करेंगे उन्होंने क्या तुम्हें गुरु नहीं बना लिया?

उ० : नहीं, प्रश्न का समाधान हो जाने पर सभी फिर समान 'लेवेल' में हैं।

माँ : हाँ, ऐसा भी सुनने में आता है, कि संन्यास देने के बाद गुरु शिष्य को साष्टांग प्रणाम करता है। उसका उद्देश्य यह दिखाना है कि गुरु शिष्य में भेद नहीं है, सभी एक हैं।

किसी जगह ऐसा होता है कि गुरु के रूप में अपने को सोच भी नहीं सकता और दूसरे किसी को भी गुरु के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। और दूसरी ओर ऐसी एक स्थिति है कि जिसमें शिष्य और गुरु के रूप से भेद मानने की

गुन्जाइश ही नहीं रहती। किसी जगह में ऐसी भी प्रतीति होती है। जगत् में (उस बात) के उपदेश से (उन्हें ऐसे वक्ता) गुरु मानकर ही तो क्रिया होती है। और उन्हें पाने के लिए अनन्त मत और नाम हैं, उनमें से किसी भी मत से इस बात में पहुँचा जा सकता है।

मन में जो शंकाएँ उठेंगी उनसे मन को एकाग्र कर सकने पर ग्रन्थिभेद हो सकता है। इसलिए इसके सम्बन्ध में किसी मत में भी विरोध नहीं है। और वह जो एक 'लेवेल' की बात हुई वह भी ठीक है। संसार में लोग कितने ही व्यापारों में तो एक-दूसरे की सहायता लेते हैं। इसीलिए क्या सभी गुरु हैं? एक तरह से गुरु भी कह सकते हैं; जिससे जितनी भी सहायता मिली है। वास्तव में गुरु तो वह है जो शिक्षा में स्वप्रकाश की दिशा है।

जैसे कोई अन्धकार में चला जा रहा है। सामने एक कुत्ता एकाएक भौंक उठा। क्या कारण है? यह जानने के लिए 'टॉर्च' जला कर देखा तो सामने एक विषाक्त भीषण साँप दिखा। वह व्यक्ति सावधान हुआ और उसकी प्राण रक्षा हुई। यहाँ पर इस कुत्ते को भी इस विषय में गुरु कहा जाएगा या नहीं? हाँ कह सकते हो, किन्तु उसने तो ज्ञान देने के लिए भौंका नहीं। किन्तु जो देने वाले हैं वे इस रूप में हैं।



२१

स्वयं ही—ग्रहण और त्याग का प्रश्न ही नहीं है। क्या कभी हुआ था, जो ग्रहण होगा या त्याग होगा ? जन्म ही नहीं हुआ है। जिस दृष्टि से समझोगे यह हुआ नहीं है, यह जैसे सत्य है; नामरूप छोड़ दो, यह जैसे सत्य है; फिर नामरूप है अक्षर—जिसका क्षरण (नाश) नहीं होता। मूल में किन्तु वही सत्य है। भूल-स्वरूप जो है, भूल की निवृत्ति भी वही है। फिर भूल के परिशोधन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जगह तो वह एक ही है। उसे लक्ष्य में रखकर ही भूल की भूल निवृत्त कर देनी चाहिए—समझने के लिए इस ढंग से बातें होती हैं।

सद्ग्रन्थ आदि से, यदि वह व्यसन में परिणत न हो तो, उस दिशा को पकड़ने में सहायता मिलती है। जब तक पढ़ने में अपने अन्तरात्मा के साथ अर्थात् स्वयं के साथ न मिलेगा तब तक नहीं होगा। इसलिए बीज को केवल हाथ में लेने से ही काम नहीं बनता, वृक्ष, फल देखना अर्थात् पूर्ण प्रकाश चाहिए। फिर, जहाँ प्रकाश अप्रकाश की बात नहीं है—देखना, होना, पहले से ही रहना भी है। किसी जगह थोड़ी देर के लिए जैसे एक झाँकी दिखाई देती है, जैसे चिनगारी एक अवस्था है। समझ में नहीं आता। फिर भी वह स्वरूप है न, इसीलिए न जाने क्या है। स्थान तो अनन्त हैं न। दाहिका शक्ति तो पूर्ण एक ही है। किन्तु झाँकी है वैचित्र्य की, स्फुलिङ्ग में सम्पूर्णत्व कहाँ है ? जहाँ है, वहाँ तो वही बात है।

वास्तविक जागरण का प्रश्न है। किन्तु जिसकी प्राप्ति के बाद फिर पाना बाकी नहीं रहता। जैसे प्राकृत जगत् दिखाई देता है वह अलग है—फिर अलग का प्रश्न तो नहीं है, ऐसी स्थिति भी तो है।

जो कुछ किया जाता है, मृत्युरूप से जो परिवर्तन होता है। बाद को छोड़ नहीं सकोगे। मृत्युरूप में तुम हो-—चाहने के रूप में तुम हो, गतिरूप में तुम-

हो, स्थितिरूप में तुम हो, विशेष-रूप में, निर्विशेष-रूप में तुम्हीं हो। (फिर) अनन्त अन्तहीन हो।

प्राकृत-रूप लेकर तुम्हीं विचर रहे हो।

जहाँ से बात होती है—उसका मैं अपलाप नहीं करती। स्वयं ही स्वयं में (हो)। रूप में अरूप में एक (हो)। तुम्हारा जो चमत्कारी रूप है वह इस वर्तमान स्थिति में रहने पर होगा नहीं। छत कूटने के समय एक नियम है, जिसके अनुसार कूटने से छत बैठेगी (समतल होगी)। समय नहीं गिनना चाहिए। जिस काम में तुम्हारा अनुभव है (उपमा सर्वांगपूर्ण नहीं होती, जितनी होती है, समझ लेना) तुम यह मान बैठे हो कि यह तुम्हारा रूप है। ठीक है, परन्तु सम्पूर्ण रूप अरूप कहाँ है ? इसलिए विचारपूर्वक देखो किसे पाना (चाहिए)। तुम्हारा जो सम्पूर्ण रूप है उसे अनुभव में लाना होगा। अनुभव में लाने पर भी काम नहीं चलेगा। बोध-अबोध के पार जाना होगा। जो है उसी का प्रकाश चाहिए। इसलिए विचार करते हुए बार-बार मन को समझाना होगा। कि तुम्हारे जागरण के लिए ही इस तरह का सब कुछ जप, ध्यान आदि है। यात्रा में शिथिलता से मैं पैर न बढ़ाऊँ, (ऐसी चेष्टा करनी चाहिए) और क्या ? इसीलिए उसके भीतर घुल-मिलकर रहने की चेष्टा करनी चाहिए। ओतप्रोतरूप से रहना होगा—किन्तु अपने साथ ही स्वयं मिलकर रहना। अनुपायरूप से जैसे हाहाकार में हो, उपाय-रूप से भी तुम्हीं रहते हो; उसी प्रकाश के लिए तारोताज़गी के साथ मस्तिष्क में विचार रखने की आवश्यकता है।

वृक्ष की जड़ में जल सींचना—यही जड़ ही तो माथा है जिस मस्तक में तुम्हारे विचार बुद्धि सदा खेलती हैं। जप, ध्यान, पाठ इन सबको ले कर आगे बढ़ना चाहिए—फिर एक है बँधा होना अर्थात् बद्ध होना; उसी ओर देख कर चलना चाहिए। बद्ध हो कर बन्धन अर्थात् गतिरोध जो करता है उसी दिशा को लक्ष्य में रख कर चलना चाहिए, अपनी ओर अपनी अबाध गति से चलना चाहिए। चाहे 'तुम' लो चाहे 'मैं' लो। 'तुम' लो या 'मैं' लो जिसे लो वही है, तुम चाहे मैं। क्यों देखकर चलना ? 'दर्शन' के रूप में तुम हो, 'क्यों' रूप में तुम हो, क्योंकि तुम्हीं हो जिस ओर जो प्रकाश या अप्रकाश है; जो कुछ है वह तुम ही हो, या मैं ही हूँ। 'ना हाँ' के रूप में भी जो तुम्हीं हो—वही है।

पूर्णांगीण रूप का प्रकाश होगा तुम में, जहाँ अर्थात् जिस स्थान में स्वयं ही स्वयं में है—उसके लिए ही देखने और चलने की बात है। जहाँ सीमाबद्ध देखते हो, वहाँ भी सीमा भी असीम का ही प्रकाश है : उसकी मूल सत्ता तुम्हीं हो। वैसा प्रकाश न होने पर परिपूर्ण कहाँ है ? पूर्ण, परिपूर्ण, सम्पूर्ण जो भी कहो। पूर्ण-अपूर्ण का प्रश्न वहाँ फिर कहाँ ?



२२

माँ : दान करो, सेवा करो, प्रणाम करो, स्वयं ही जान जाओगे कि कौन भाव ले कर किया जा रहा है। यह भाव रखना (चाहिए) कि चाहे किसी अवस्था में क्यों न रहूँ वहीं से प्रकाश होगा। कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि अरे मैं इन सब कुकर्मों से लिप्त रहा हूँ, मेरा कुछ भी नहीं होगा। सदा, सब अवस्थाओं में भगवान् के रास्ते में चलने के लिए तैयार रहना चाहिए। कौन जाने कब तुम्हारा वह दान, सेवा और प्रणाम (सफल) हो जाए। सब कुछ संभव है। दीक्षा की बात पूछते हो, जिनसे दीक्षा ली जाए, ये जितनी दूर तक पहुँच चुके हों, उतनी दूर तक पहुँचा देंगे। जैसे भगवत्कथा सुनते हो—वक्ता (कथा-वाचक) में जितनी शक्ति रहती है उसके साथ तुम्हें जोड़ देता है। एक है सत्कथा का फल और जो कहने वाला है उसकी शक्ति—इन दोनों को वह पा जाता है। ग्रहीता यदि वैसा शक्तिशाली हो तो उपदेशप्राप्तिमात्र से ज्ञान का उदय होता है।

मन्त्रदीक्षा, स्पर्शदीक्षा, दृष्टि के द्वारा दीक्षा, उपदेश के द्वारा दीक्षा। महान् पुरुष के स्पर्श का फल होता है। जिसका जैसा भाव रहता है तदनुसार उसे लाभ होता है। और एक बात है, वह है विशेष कृपा, उससे विशेष शक्ति लाभ होता है। फिर ऐसा भी होता है कि स्पर्श तो किया परन्तु शक्तिपात नहीं हुआ। जो शक्तिशाली हैं, वे उस पर 'कन्ट्रोल' कर सकते हैं,। देना-लेना उनकी इच्छा पर निर्भर रहता है।

उपदेश के द्वारा दीक्षा, जिस उपदेश से निर्ग्रन्थि (ग्रन्थिरहित) हुआ जाता है। यदि ऐसा हो तो उसी क्षण में दीक्षा का काम पूरा हो जाता है।

मन्त्रदीक्षा कान में देते हैं, जितनी शक्ति होगी, उतनी ही देंगे। गुरु यदि शक्तिशाली हो तो स्पर्श के साथ ही साथ अथवा दृष्टि के साथ ही साथ जहाँ लक्ष्य का स्थान है, वहीं पहुँचा देंगे। यदि इतनी शक्ति न रहे तो जिनमें जितनी शक्ति हो, जहाँ तक वे पहुँचे हों उतनी दूर तक ले जा सकते हैं। गुरु के पास जो धन है, उसी को तो वे शिष्य को दे सकते हैं। जिसे मन्त्र दिया, जब तक

उसे असली गन्तव्य स्थान में पहुँचाया न जाए तब तक वह रास्ते में है। गुरु यदि आगे न बढ़ें तो शिष्य भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसीलिए शिष्य को राह में तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब तक कि गुरु अग्रगामी नहीं होते। जो भगवान् को पाने की चेष्टा कर रहे हैं और इसी बीच में दीक्षा देना आरम्भ किया उन्हें उसी स्थान पर पड़ा रहना पड़ेगा।

ऐसा है कि शिष्य गुरु से आगे भी पहुँच जा सकता है। पूर्वजन्म के संस्कार के अनुसार दीक्षा ले कर उसकी अपनी अन्तःशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि गुरु के आगे चला जा सकता है। दीक्षा जिसने ली उसका केवल इतना ही पाना शेष था। जिस गुरु के निकट दीक्षा ली, उसके ऊपर ही यदि पूर्णरूप से निर्भर रहना पड़े तो गुरु के साथ-साथ शिष्य को चलना पड़ेगा। और जिस स्थिति में मेरे गुरु जगद्गुरु हैं, जगद्गुरु मेरे गुरु हैं—यह भाव है, जगत् माने गति, और जो बद्ध है वही जीव है! जीव और जगत् से उद्धार करते हैं—मैं कौन हूँ? मैं दास हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं अंश हूँ, जिसकी जो 'लाइन' हो।

मेरे गुरु कैसे जगद्गुरु हुए? गुरु का स्थान तो है न। जैसे रसोइया कौन है? निर्दिष्ट किसी का नाम तो नहीं है, जो रसोई बना सकता है, वही रसोइया है। इसी प्रकार जगद्गुरु की जो स्थिति है, उसका प्रकाश (ही जगद्गुरु है)। इसलिए व्यक्ति की बात नहीं है—वही तो सद्गुरु है। गुरुशक्ति का प्रकाश हो सकता है, जहाँ 'मैं कौन हूँ' इसका प्रकाश (हो) इस शक्ति को जो दे सकता है, वही जगद्गुरु है। गाढ़ अन्धकार में से जो निगूढ़ तत्त्व को प्रकट कर सकते हैं, वही तो गुरु हैं। मेरे गुरु हर-एक रूप में प्रत्येक के निकट हैं और प्रत्येक के गुरु मेरे ही गुरु हैं—किन्तु देखो, गुरु एक ही हो गये।

जिसके अनुष्ठान, क्रिया आदि चल रहे हैं, वह रास्ते में है। वह आत्मस्थ हो गया हो सो बात नहीं है। अभी भी वह प्रयत्नशील है। वह गुरु कहाँ? क्रियातीत तो वह नहीं हुआ। 'इष्टगोष्ठी' कही जाती है न—जगत् के सब लोगों का इष्ट जो है, वही मेरा इष्ट है, मेरा जो इष्ट है वही जगत् का इष्ट है। गुरु शब्द तो साधारण नहीं, जो भवसागर से उबार सकते हैं (वही गुरु हैं)। किसने कहाँ से दीक्षा ली है—वह जो कहा गया इतना शक्तिशाली नहीं है, तब तो समझना चाहिए कि उन्हें इतनी दूर आ कर अभी ठहरना होगा। भविष्य में ऐसा कोई संयोग हो सकता है—चाहे वह अपनी व्याकुलता से हो अथवा पूर्व-जन्म के संस्कार से हो या ये सब कुछ भी न हों, महान् कृपा प्राप्ति हो ऐसा कोई

स्थान मिल जाए तो—उपदेश, स्पर्श, दृष्टि अथवा मन्त्र जिस किसी उपाय से संयोग बन जाने पर शक्तिपात होता है, और तब आगे बढ़ा जाता है। जैसे बाढ़ आ जाने पर इस पेड़ को बचाना चाहिए अथवा इसको डुबा देना चाहिए, ऐसी कोई बात नहीं रहती। वह सभी को एक साथ बहा ले जाती है; इस तरह के क्षेत्र मे विचार का प्रश्न नहीं उठता।

फिर ऐसा भी होता है कि उपदेश नहीं, दृष्टि नहीं, स्पर्श नहीं और मन्त्र नहीं—जिस पर शक्तिपात हुआ है वह सम्भवतः तभी जान सकता और बहुत दिनों के बाद भी जान सकता है। जहाँ से शक्तिपात होता है, बाढ़ जैसे सबको बहा कर ले जाती है, वैसे ही सबको बहा ले जाता है। यहाँ स्वभाव है अपने में अपना कर लेना। उस समय सम्भवतः इसने दूर से दीक्षा ली है—यहाँ से नहीं ली, यह बात फिर टिकती नहीं। उन्हीं की (भगवान् की ही) है न ? वे (भगवान्) ही हैं न ? इसीलिए बाढ़ जैसे सबको समानरूप से बहा ले जाती है वैसे ही वह महान् व्यक्ति स्वाभाविक रीति से अपने को अपना कर लेते हैं। यहाँ 'तेरा मेरा' नहीं है। 'स्व'-स्वप्रकाश, स्व ही एकमात्र है। जैसे माँ ऐसी सूची नहीं रखतीं कि सन्तान के लिए यह किया है, वह किया है—अपना ही तो है; वैसे ही यहाँ यह बात नहीं रहती कि इतना शक्तिपात किया जा रहा है।

एक आदमी ने एक गुरु से दीक्षा ली; फिर उसे एक महात्मा के दर्शन हुए। उनके निकट भी वह आना-जाना करने लगा। वे भी उसको अच्छे लगे। गुरु यह सुनकर चिढ़ने लगे—"अरे, मैंने यह बगीचा लगाया, पर तुमने इसे दूसरे को खिला दिया है।" शिष्य ने उत्तर दिया, "इन महात्मा के निकट आवागमन से मेरी गुरुनिष्ठा बढ़ गयी है।" किन्तु गुरु ने यह बात समझी नहीं। जगत् और जगत्-अतीत उनके (महात्मा के) निकट सब बराबर, सम-स्व-मय (हैं)। उनके निकट आने अथवा न आने पर भी समभाव से वे बहा ले जाते हैं। इसीलिए कहा गया था—इसका दूसरा गुरु है यह बात नहीं है, समभाव से शक्तिपात होता है। फिर यह बात भी कहने की नहीं है कि उसे इतना शक्तिपात किया गया है। जैसे अग्नि भड़कने पर यह प्रश्न नहीं उठता कि उसे सुखाना होगा और उसे नहीं। स्वाभाविक उपदेश, स्पर्श, दृष्टि और मन्त्र के द्वारा वह जो दीक्षा है, वह हो ही जाती है। यहाँ 'तेरा' 'मेरा' कुछ नहीं रहता। 'कन्ट्रोल' तथा समान रीति से प्रदान—सब कुछ उनके हाथ में है।



२३

प्रश्न : जितने मत उतने नाम हैं या एक मत एक नाम है ?

माँ : तुम्हारा क्या मत है, कहो तो बापू ।

एक व्यक्ति : मत और पथ । पर सब पथ एक ही जगह पहुँचते हैं ।

माँ : वाद-विवाद पथ पर खड़े होकर ही होता है, अपने-अपने घर में सब हैं । एक मार्ग सबके लिये नहीं है । एक घर में पाँच लड़के हैं, रुचि सबकी भिन्न है। देखो न, किसी की वेदान्त में रुचि है, कोई वैष्णव है और कोई शाक्त । इसलिए पथ एक नहीं कहा जाता । असल में सत्यप्राप्ति की जो इच्छा है, उसकी गठन भिन्न होगी, किन्तु जाना पड़ेगा सत्य के द्वार से ही ।

• प्रश्न : तब मत भी क्या भिन्न है ?

माँ : प्रत्यक्ष देखते हो एक गुरु हैं, उनके हैं अनेक शिष्य । एक मत में लाने की कोशिश करते हो न ? किन्तु मठ स्थापित हुए कितने ?—अपने-अपने मत का त्याग करके भी । बापू, तुम जो कहते हो अतिसत्य बात है । कहाँ ? जहाँ समस्त है, उसे त्यागकर जिसे जो सूझा । क्या सूझा ?—वही सूझा, वे ही सूझे ।

प्रश्न : मेरा जो मत है वह उधार ली हुई बात है । पाँच जनों से सुन-सुन कर कहता हूँ ।

माँ : यह मत तुमने किस प्रकार से लिया है ? यह शरीर इस दिशा से लेता है—ऋषि-मुनियों ने जो गति और धारा दी है, वही । लौकिक दृष्टि से अनन्त मत है, उनसे काम नहीं चलेगा । गुरु जिस मत को देते हैं, उसी को लेना होगा, उसी धारा में जाकर समुद्र में गिरना होगा ।

प्रश्न : अन्त में सब समुद्र में जाकर ही गिरेंगे न ? ऐसी स्थिति में जहाँ लक्ष्य भिन्न-भिन्न रहते हैं, जैसे वैष्णवों की सालोक्य आदि, वेदान्तियों की स्वरूप-स्थिति इत्यादि—ये सब अन्त समय में एक ही समुद्र में कैसे गिरेंगे ?

एक व्यक्ति : जिसका नाम 'भूजा' (भूना) चावल है, उसी का नाम फरवी है।

माँ : भुजा चावल और फरवी एक होने पर भी नाम दो क्यों? इसलिए किसी न किसी अंश में वे भिन्न हैं। किन्तु मूल में चावल ही है। तुम्हारा भी रहा, मेरा भी रहा, क्या कहते हो, बापू? (हँसी) जहाँ मत लेकर, पथ लेकर बात होती है—पथ की बात पथ ही में हैं।

प्रश्न : जितने मत उतने पथों के बाद फिर वक्तृता रहती नहीं।

माँ : 'रहती नहीं' उसमें रहता है। न रहने पर उठती कैसे हैं? जैसे कहते हैं हम उस सम्प्रदाय के हैं, जहाँ मत और वादविवाद नहीं है, वहाँ मूल में वही है। वही इन नाना आकारों में है। जहाँ अनन्त और एक कहा जाएगा वहाँ दृष्टि की बात है। एक बीज रोपने पर पेड़ पैदा हुआ। अनन्त फल, अनन्त पत्ते, अनन्त गति और अनन्त स्थिति हुई। किन्तु मूल में एक ही है।

जितने मत हैं, उनके पथ भी हैं। जब तक एक पथ पर चलते हो, तब तक के लिए एक पथ है। अच्छा, यह तो पूरा हुआ। तुमने क्या कहा था बापू, अन्त समय में कैसे गिरेगा?–शेष रहनें पर काल है और काल रहने पर अकाल है। यह शेष और काल का जहाँ प्रश्न नहीं रहेगा वहाँ मिलोगे।

एक व्यक्ति : जब तक चर्चा की जाती है तब तक कुछ झमेला रहता है, तब फिर।

माँ : हाँ, जो चर्चा करते हैं, जिसकी चर्चा होती है—जागतिक चर्चा, प्राकृतिक चर्चा—वह काल के मध्य में हैं। किन्तु वहाँ तो बोलने का प्रश्न ही नहीं है। इसी से तुम जगद्गुरु आचार्य से ये बातें नहीं कह सकते हो। जो जगद्गुरु है इस जगत् के मत उनकी बात नहीं हैं।

प्रश्न : सांसारिक सुख और ईश्वरीय सुख इन दोनों को समझा कर कहें।

माँ : ईश्वरीय सुख वह है, जिसे तुम लोग 'परमसुखम्' कहते हो—केवल सुख ही उसका स्वरूप है।

प्रश्न : क्यों संसार में भी तो सुख है?

माँ : तब फिर कहते क्यों हो ?

प्रश्न : लोग इस सांसारिक सुख के पीछे क्यों दौड़ते हैं ?

माँ : तुम यह सुख पाते हो, इसलिए पूछती हूँ। किन्तु भगवान् करुणामय हैं न, वे जता देते हैं, यह सुख सुख नहीं है। ज्वाला जगा देते हैं, यह भगवद्-भाव का अभाव है। यह जो जगत् का सुख है, यह तो भगवान् का नाना रूप है। अरे, त्यागी-त्यागी कहा करते हो, सर्वस्व का त्याग करके बैठे हो। सर्वस्व क्या है?—भगवान्। उनका त्याग कर सभी तो महात्यागी बन बैठे हो (हँसी)।

अभाव का जागरण होना स्वाभाविक है। विदेश में बहुत बड़ी सुख-सुविधा में रह कर भी मन में आता है कब घर जाऊँ। सुख होकर भी असुख, अपना होकर भी अपना नहीं, यह जता देते हैं। कहते हैं न, मुक्का खाने पर होश आता है, धक्का खाने पर शिक्षा मिलती है।

यह जो जगत् के सुख के रूप में भगवान् प्रकाशित होते हैं, इससे तुष्टि नहीं होती। यहाँ अभावरूप में भी वे साथ रहते हैं। यह सुख जो भगवत्सुख के लेश का लेश मात्र है, वही छोड़ा नहीं जाता; फिर असल जहाँ मूल है जहाँ जाने पर अपने को पाया जाता है, वही परमानन्द है, जिसे पाने पर फिर पाना बाकी नहीं रहता, अभाव का फिर जागरण नहीं होता, हृदय की ज्वाला शान्त हो जाती है।

इस धक्के से—इतना सा लेकर सुखी न रहो, पूर्ण बनो, पूर्णांगीण होकर मुझे प्राप्त करो।



२४

प्रश्न : जब जगत् से अतिरिक्त वे नहीं हैं, तब जगत् को बनाये रखने के लिए आग्रह क्यों ?

माँ : आग्रह तो नहीं है, जगत् है या नहीं, इसका प्रश्न ही नहीं है ।

प्रश्नकर्ता : किसी-किसी के मत में ऋषि मुनि जो ब्रह्मसाक्षात्कार करके जगत् को खो चुके हैं, वे अपूर्ण दृष्टि हैं ! और उनके मत में यही नाम रहेगा, यही रूप रहेगा, यह मानो सोने के पत्थर की कटोरी हो ।

माँ : उनके साथ अभेद तो हुआ नहीं है अपने को पृथक् रख कर ही तो जगत् के उद्धार की बात हो रही है । (जगत् उद्धार के किसी प्रसंग में उन्होंने कहा) जो मकान विद्यमान है, उसके साथ तो हमारा परिचय नहीं है, एक नवीन राज्य की स्थापना करूँगा (ऐसी इच्छा है) विश्व ब्रह्माण्ड में सभी को 'तत्' मान कर वे उन्हें बदल रहे हैं, यह कहा जा सकता है ।

यह जो जगत् है, यह यदि इसी प्रकार रहे तो जगद्दृष्टि है । फिर जगत् की बातें करने पर हमारा क्या आया-गया ? जगत् को अलग मान कर उड़ा देने का प्रश्न ही नहीं है ? जगत् है या नहीं इसका भी प्रश्न नहीं है ।

यह जो कहते हैं कि भेद-रूप से भी वे हैं अभेद-रूप से भी वे ही हैं—जैसे कि जल और बरफ़ । जल को जिस समय बरफ़ कहते हैं—स्थान और आकार का जहाँ प्रकार है, वहाँ आकार भी वही है, ऐसा क्यों नहीं मानते हो ? वाष्प-रूप धारण करेगा ही नहीं ।

प्रश्नकर्ता : परिणामवाद तक भेद भी है और अभेद भी है ।

एक व्यक्ति : जगत् ज्ञान बहुत्व का ज्ञान है और ब्रह्मज्ञान एकत्व का ज्ञान है—दोनों एक जगह रहें कैसे ?

प्रश्नकर्ता : ब्रह्म का एकत्व बहुत्व का विरोधी नहीं है। साधारणतः चार भूमियाँ कही जाती हैं—

(१) यदि केवलमात्र जगत् या बहुत्व भासे तो यह अज्ञानी की भूमि है।

(२) यदि कभी जगत् अर्थात् बहुत्व भासे, कभी एकत्व या ब्रह्म भासे तो यह योग की निर्विकल्प समाधि-भूमि है।

(३) ब्रह्म की गोद में जगत् भासता है।

माँ : भासता है बात रही तो।

प्रश्नकर्ता : जगत् नहीं है, इसी प्रकार से भासता है। प्रकाश यदि अन्धकार को विनष्ट कर चुका तो फिर अन्धकार कैसे दिखता है? ब्रह्म सभी का साधक है, किसी का भी बाधक नहीं है। जो चैतन्य है, वही घड़ा है। उनके मत में घड़ा भी रहता है और चैतन्य भी रहता है। मैं कहूँगा घट भी जो है चैतन्य भी वही है।

माँ : तुम कहते हो—उस आकार में।

प्रश्नकर्ता : मैं आकार का मूल देखता हूँ। मेरा लड़का ही राम बना है। ब्रह्मज्ञान में यदि जगत्-ज्ञान न रहे तो जीवन्मुक्त सिद्ध नहीं होगा। जीवन्मुक्त होने पर जगद्व्यवहार उसके लिए सम्भव नहीं। अग्नि, जल सब कुछ ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति में वह जल न पीकर आग भी पी सकता है।

किसी-किसी के मत में जब तक यह देखा जाता है तब तक पूर्ण अवस्था नहीं होती। इसके ऊपर की अवस्था भी है। जहाँ द्वैत निश्शेष हो जाता है, तब अद्वैत भूमि में प्रतिष्ठा [होती है]। इसी को पूर्वोक्त चतुर्थ भूमि समझिए। ये सब योग की सप्त भूमियों की भूमिकाएँ नहीं है।

मेरे मत से तीसरी भूमि ही श्रेष्ठ है—उसमें अद्वैत की गोद में द्वैत खेलता है। अर्थात् उस भूमि में द्वैत में अद्वैत है और अद्वैत में द्वैत। जीवन्मुक्त हँसता है, खेलता है, टहलता है फिर भी उसका 'मैं मुक्त हूँ' यह ज्ञान पूर्ण रूप से बना रहता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'नेति नेति'—इन दोनों के मध्य कोई विरोध नहीं है। इस भूमिका में खण्ड अखण्ड दोनों एक जगह में हैं, किन्तु दोनों में पत्र-

पुष्प का भेद रहने पर भी वृक्ष एक ही है—इसी तरह अखण्ड में खण्ड का भेद मैं नहीं मानता। मेरी यह समझ की भूल तो नहीं है ?

माँ : जो जहाँ से जो कुछ कहता है, सभी ठीक है। चाहे ध्यान से प्राप्त हो, चाहे समाधि से प्राप्त हो, ऐसी एक स्थिति है जहाँ एक के सिवा दो देखने का अवकाश ही नहीं है। दो का जो व्यवहार है, उसकी वहाँ पहुँच नहीं है। जहाँ गति रह कर भी गति नहीं है, वहाँ की यह बात है। गति का स्थान कहाँ है ? उसका जब व्यवहार दिखे तब शायद कोई कहेगा कि नीचे उतर कर व्यवहार करते हैं। एम० ए० पास करके क, ख, पढ़ने पर क्या एम० ए० पास चला गया ? कोई ऐसी एक जगह है जहाँ फिर दूसरा कुछ भी नहीं भासता। गंगाजी में डुबकी लगाने पर अवश्य सर्वांग भीग जाएगा।

एक सत्ता में स्थिति होने पर जहाँ फिर च्युति होती ही नहीं, इस स्थिति की अपरिपक्वावस्था में एक-आध बार च्युति होती है, फिर मानो उसे उसी अवस्था में खींच लेती है। वहाँ दो प्रकार हैं; किन्तु अवस्था चमत्कारमय है—यह अज्ञान की स्थिति नहीं है, उससे आगे की अवस्था, भाव की अवस्था है। भाव में आता है, जाता है, डूबता है, उतराता है। उसके बाद फेंक दिया, मानो जड़ पत्थर ही हो गया। इस पत्थर का स्पर्श किये बिना यदि इस एक स्थिति में आ जाए—खींचातानी रहे तो समझना चाहिए कि परिपक्वावस्था नहीं। किन्तु चमत्कार अवस्था है। जैसे कोई ठण्डी जगह है, वहाँ से बाहर आने पर गरमी लगती है। उसके बाद परिपक्वता आती है, यानी डूब गया। डूब जाने के बाद जो व्यवहार है वह तुम देखते हो। किन्तु वह न जाता है, न खाता है और न देखता है।

प्रश्नकर्ता : यह तो पहेली कहना है—खाता है और खाता नहीं, जाता है और जाता नहीं—यह कैसे ?

माँ : जब डूब गया—तब स्थित होना होगा। बाहर-भीतर एक हो गया। मैं खाती हूँ तुम्हारे समान, मैं जाती हूँ तुम्हारे तुल्य। खाता हूँ और खाता नहीं यह कहने पर यदि विरोध प्रतीत हो तो समझना चाहिए कि एक टुकड़े (खण्ड) ज्ञान का ब्रह्मज्ञानी है। बाध कहाँ होगा ? बाध होने पर खण्ड होगा। इसलिए कहते हैं कि कोई प्रश्न नहीं है। ऐसी स्थिति में बात यह है कि नींद और समाधि में से किसमें कौन-सा अंश है, यह समझना कठिन है। सोना और पीतल देखने

में कुछ-कुछ एक-से हैं, पर एक नहीं हैं। सोना स्पर्श करने पर सोना ही हो जाएगा।

जो ब्रह्मभूमि में वर्तमान हैं, वे छोटी-मोटी बातें देखेंगे कैसे ? तुम्हारी दृष्टि है, इसलिए तुम विरोध देखते हो। ज्ञानी-अज्ञानी का प्रश्न नहीं है। ज्ञानी कहने पर भी अपने को एक जगह खड़ा कराना हुआ। अपने को पाना किस प्रकार का होना चाहिए ?—सर्वाङ्गीण रूप से होना चाहिए। जो तुम रहे, रहे क्यों, जो तुम हो अर्थात् तुम्हारा जो स्वरूप है उसी का प्रकाश होना। जिस 'लाइन' में जिस भाव को लेकर जो जैसा कहे (सब ठीक है)। तुम भी जैसा कहते हो, पैर नहीं चलता है, नेत्र नहीं देखता है—यदि किसी क्षेत्र में किसी तरह आकार से प्रकार से जिस किसी के मध्य में 'हाँ' के मध्य में 'ना' के मध्य में बाध हो तो समझना चाहिए वह पूर्ण नहीं है। जो जहाँ से बात कहता है वहाँ से उसी तरह दिखाई देता है, क्योंकि स्थान है, समय है। यह शरीर पहेली नहीं कहता—सत्य ही कहता है, सब कुछ ठीक है, जहाँ से जो-जो कुछ कहे।

प्र० क० : जो-जो कुछ कहना है सब यदि ठीक हो तो कल्पना कीजिए कि कोई विश्वनाथजी के दर्शनों के लिए दुर्गाजी के मन्दिर में जाकर कहे कि यही विश्वनाथ है, यह भी क्या ठीक है।

माँ : ऐसा एक स्थान है जहाँ से कहा जा सकता है कि 'हाँ, यह विश्वनाथ हैं। क्योंकि उस समय वह वही हो जाएँगे।—जितने दिन के जहाँ के विश्वनाथ हैं उन्हीं का प्रकाश होगा। सबमें सब जो है और यह भी कहा जा सकता है—यह दुर्गामन्दिर है, विश्वनाथ अन्यत्र हैं। सभी तरह से कहा जा सकता है।

प्र० क० : सभी का कथन यदि ठीक है तो शंकर तो ब्रह्मज्ञानी थे। उन्होंने पूर्वपक्ष का खण्डन क्यों किया ?

माँ : जहाँ से जो कुछ करने की आवश्यकता होती है, वह कुछ छूटता नहीं है। वृक्ष के अग्रभाग में वृक्ष की जड़ है, क्योंकि सब जगह बीज है ही—विरोध नहीं है।



२५

"वेदान्त और भक्ति दो पृथक् वाद हैं", यह कहने पर—

माँ : वाद जहाँ है, वहीं तो वाद रहा। भेद और अभेद का अन्त जहाँ है वह स्थान कहाँ? कोई लोग कहते हैं राधाकृष्ण-तत्त्व पक्का वेदान्त है—राधा बिना कृष्ण नहीं, कृष्ण बिना राधा नहीं–दोनों में एक है और एक में ही दो हैं।

प्रश्न : नित्यलीला दो ही मान कर कहते हैं।

माँ : दो मान कर कहते हैं वह भी एक में ही है—किसी-किसी का ऐसा दृष्टिकोण है।

प्रश्न : धाम, लीला, परिकर ये सब क्या हैं?

माँ : वे कहते हैं इस लीला में भी अद्वैत छूटता नहीं है। लीला का आस्वाद रस है और वेदान्त में 'दो' का कोई प्रश्न ही नहीं है। यद्यपि भक्ति-वादियों के मत में द्वैत दिखाई देता है, पर वह भी एक ही है। उस चश्मे को लगाये बिना वह दृष्टि में नहीं आता। वहाँ से वैसा ही दिखाई देता है।

गुरु ने दीक्षा देते समय उपदेश दिया—राधाकृष्ण की सेवा-पूजा करो, तुम सेवक और दास हो, वे प्रभु हैं। इस तरह सेवा करते-करते संस्कार आ पड़ता है–

(१) यह ठाकुरजी का कमरा है, इसे शुद्ध, पवित्र रखना चाहिए। ठाकुर जी को पूजा, भोग निवेदन करना चाहिए, आरती करनी चाहिए इत्यादि। यह सेवा करते-करते विचार आता है—मेरे ठाकुरजी क्या इतने ही मात्र हैं? वे क्या केवल ठाकुरजीके कमरे में ही हैं। उसके बाहर और कहीं भी क्या नहीं हैं? उनकी सेवा-पूजा करते-करते यह भाव आ जाता है कि उन्हीं का सब है। यह मानो संक्रामक रोग के तुल्य है। किसी एक आदमी ने कहा था, आनन्दमयी माँ के समीप मत जाना, उनके निकट 'वसन्त' (चेचक) के कीटाणु हैं। (हँसी)

एकनिष्ठता के कारण भीतर से विचार उठता है—वह भाव कर्म के द्वारा बाहर प्रकट होता है। उसी का प्रकाश आता है, वह शक्ति आती है, इसी से विचार-दृष्टि खुलती है।

(२) उसके बाद ऐसा होता है कि पूजा के बर्तन मलने बैठ कर दर्शन हुए ठाकुरजी के, सुप्तावस्था में शय्या के निकट खड़े हैं ठाकुरजी। देखो, पहले मन में यह भाव रहता है कि ठाकुरजी ठाकुरघर में हैं, फिर क्रमशः वे इधर-उधर देखते दिखाई देने लगते हैं। उसके बाद फिर स्थान-अस्थान नहीं, जिधर दृष्टि जाती है, सर्वत्र ठाकुरजी ही दीखते हैं, पेड़ पर ठाकुरजी बैठे हैं, जल में खड़े हैं, पशु-पक्षियों में ठाकुरजी दिखाई देते हैं। किन्तु उस समय भी ठाकुरजी को कहीं कहीं ही देखते हैं, सर्वत्र नहीं।

(३) इसके अनन्तर ठाकुरजी फिर पीछा ही नहीं छोड़ते हैं जहाँ जाओ ठाकुरजी साथ ही साथ लगे रहते हैं—अनुभव में भी रहते हैं।

(४) तदनन्तर क्या होता है—पेड़ के आकार प्रकार का प्रकाश भी ठाकुर जी ही हैं। पहले थे सब वस्तुओं के मध्य में ही ठाकुरजी। अब मध्य में नहीं हैं—ठाकुर ही ठाकुर हैं। पेड़, पत्ते, जल, स्थल—ठाकुर ही ठाकुर हैं। तब उनका प्रकाश क्या रहता है?—आकार में, प्रकार में, प्रकाश में जो कुछ है ठाकुरजी ही हैं, और तो कुछ है नहीं। ऐसा हो सकता है कि इसी एक अवस्था में कोई शरीर व्यतीत कर दे सकते हैं।

(५) जब सब ठाकुर ही ठाकुर हैं, तब यह शरीर भी ठाकुर है—वे हैं, एक सत्ता। इस अवस्था में जहाँ ध्यान मग्न होता है वहाँ हाथों से फिर सेवा-पूजा होती नहीं, एकमात्र वही तो हैं, स्वयं फिर पृथक् नहीं हैं। वेदान्त क्या कहेगा?—'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति'। फिर उस स्थान में रहकर भी किसी को प्रभुदास (प्रतीति होती है) वे पूर्ण हैं, मैं अंश हूँ, फिर वही एकात्मा हैं। यदि ब्रह्म को कहा जाए कि 'कृष्ण की अंगकान्ति' तो आपत्ति क्या है? अभिन्न, अभेद ही तो सब है; इसको पाकर फिर कहते हो न अवगाहन-स्नान है।

(६) इसे प्राप्त कर फिर सेवा-पूजा करते हैं। सेवा-पूजा लिये रहें—वे प्रभु हैं मैं दास हूँ। महावीर ने कहा था, "मैं और वे एक हैं?" किन्तु वे पूर्ण हैं, मैं अंश हूँ, वे प्रभु हैं मैं दास हैं। यहाँ पूर्ण भी पाया और दास भी पाया।

जहाँ "एक आत्मस्वरूप है" वहाँ "वे प्रभु हैं, मैं दास हूँ" यह भाव लेकर भी कोई रहे तो आपत्ति क्या है ? पहले रहे रास्ते में, पाने के लिए उन्मुख अब प्रकाश के बाद वे सेवा करते हैं। इसे प्राप्त कर सेवा ही सेवा है—इसे चाहे मुक्ति कहो या पराभक्ति कहो, चाहे जो कहो।

आचार्य शिक्षा देते हैं। उनका जप करने पर भी जो है, न करने पर भी वही है। बाध कहाँ होता है ? कहोगे जगद्‌गुरु, फिर देखोगे दोष ?

प्रश्न : जब एकत्व-ज्ञान हो गया तब फिर किस वस्तु का अभाव शेष रहा जो उसे खण्डपूजा करनी पड़ेगी ?

माँ : यहाँ अभाव नहीं है।

प्रश्न : तब क्या यह सेवा-पूजा भी नहीं है ?

माँ : जो कहो वही। प्रसिद्ध है न, शुकदेव मुक्त थे, तब फिर भागवत सुनाने क्यों गये ? इसका जवाब क्या है ? जिस अभाव से पहले सेवा-पूजा किये जा रहे थे, उस अभाव का स्थान कहाँ है ?

वेदान्ती 'नेति' 'नेति' विचार किये जाता है-सचमुच ही तो फूल को देखता है, दो दिनों के बाद ही वह मिट्टी हो जाता है। तब तो सत्य ही एकमात्र है। परिवर्तन का तो परिवर्तन हो ही जाएगा। नामरूप के दृष्टिकोण से भी यदि कोई कहे—सब नाम तुम्हारे नाम हैं, सब रूप तुम्हारे रूप हैं। यहाँ तो नाम-रूप भी सत्य है। फिर कहोगे परिणाम जहाँ रुद्ध हो गया, वहाँ तो जगत् है। विचार करते-करते एक सत्ता में स्थित हुए। एकमात्र समुद्र ही है, जल ही है, अपने को अलग नहीं देख पाते। वह जो कहा गया था, अवगाहन-स्नान। बाहर या भीतर कहीं पर भी यदि एक बालमात्र भी सूखा रहे तो अवगाहन स्नान हुआ नहीं। जैसे पक जाने पर फिर अंकुर नहीं उगता, पक जाने के बाद चाहे तुम जो बनाओ किन्तु सृष्टि का बीज फिर नहीं रहता। यह सृष्टि का बीज जहाँ नहीं रहेगा वहाँ जो आकार-प्रकार है, वह तो वही है। देखो, भक्ति के द्वारा अथवा वेदान्त-विचार के द्वारा वही वस्तु तो हो गई। यह हो जाना क्या पत्थर हो जाना है ? पत्थर हो जाना तो नहीं है। उसका आकार-प्रकार वही तो है।

जो जिस पथ से चलेगा, उसका जो विशिष्ट प्रकाश है। वह तो रहेगा ही, किन्तु पाएगा तो एकही-वस्तु, जिसको पाने पर फिर किसी प्रकार की अमीमांसा (शंका) का अवसर नहीं रहेगा। पाएगा क्या, है ही तो नित्य सत्य। उपलब्धि या अनुभव कहने से पृथक् रहता है। किसी जगह यह बात टिकती है, किसी जगह नहीं टिकती। जो नित्य है, उसी को कहा जाता कि है ही। जो आवरण या पर्दा कहा जाता है, वह गति है। गति का परिवर्तन हो जाता है, वह बदल जाती है। फिर बदलता नहीं भी है, यह व्यवहार में अव्यवहार है। उसके निकट 'दो' नहीं है—कौन खाता है, किसे खाता है? उस स्थिति में वाद-विवाद कहाँ है? यदि यह कहा जाए कि चलता है, इसीलिए उस स्थान में नहीं रहता, क्या कह रहा हूँ, किससे कह रहा हूँ, वह कौन है, यह (बोध) जब आ गया। किसी को समझाने पर स्वयं समझ लिया पर उस स्थान को वास्तव में वह समझ नहीं पा रहा है। इसे समझ सकने पर कहता है कि क्या तुम अज्ञान हो गये? जान सकना और न जान सकना दोनों को ही पाया। जगद् दृष्टि में निबद्ध रहने पर बद्ध है। किन्तु 'तद्' दृष्टि में अज्ञान का ज्ञान और ज्ञान का ज्ञान सभी तो तुम्हारे सामने स्पष्ट है--जहाँ ज्ञान और अज्ञान का पृथक् प्रश्न उठ नहीं सकता। इस समय ये खाने-पीने के जो जगत् के व्यवहार हैं उसके निकट अव्यवहार के व्यवहार हैं। यहाँ पूजा रही या न रही, क्या आपत्ति है? क्योंकि जानना, न जानना सब कुछ उसके भीतर आ गया। किन्तु इस स्थान को समझना कठिन है। किसी एक दिशा या स्थिति को समझना सहज है। स्थिति और अस्थिति का वहाँ प्रश्न नहीं है। फिर भी अनवस्था दोष नहीं है, किन्तु तनिक भी आकर्षण यदि रहे तो फिर वह स्थिति नहीं होती। नकल विक्रय करके बहुत से लोग धनी हो सकते हैं। नकल खरीदते क्यों हैं? उसका मत कहता है यह एक चमत्कार है। किन्तु व्यवहार में वह पकड़ लिया जाएगा। तब फिर असल की खोज होगी।

जब एक आत्मा की प्राप्ति हो गयी, एकमात्र हुआ तब यह बोध हो जाता है कि मेरी जो मूर्ति है, वही इस रूप में है। सत्ता की प्राप्ति हो जाने पर फिर उसी रूप में (अभिनिवेश हो सकता है)। हमारे इष्टदेव ही आत्मा हैं, 'ब्रह्म' हैं, दूसरा कोई नहीं—वह इष्ट जिसकी मैंने पूजा की थी। डुबकी लगा कर स्नान करने के बाद जल ही इस आकार में है। यह भक्त प्रभु को पाकर यथार्थ सेवक हुआ। 'यह नहीं', 'वह नहीं' करके तथा 'यह तुम हो', 'वह तुम हो', करके एक की ही प्राप्ति हुई। इधर से भी उसी की प्राप्ति और उधर से भी इसी की प्राप्ति। जो

शक्ति का आश्रय लेकर जाएँगे, या शिव की मूर्ति लेकर जाएँगे, वे पाएँगे एक ही शक्ति, एक ही शिव। और वेदान्त के दृष्टिकोण से वह बरफ़ ही जल है, आकार नहीं निराकार है। फिर हमारे इष्टदेव ही ब्रह्म हैं, जिसका-जिसका जो मार्ग—जिस भाव से जिसकी गति हो। समता या एकत्व जरूर आना चाहिए, स्थिति लाभ करना ही पड़ेगा। इसके बाद यदि कोई कहे कि मैं मुक्ति छोड़ देता हूँ; इष्ट की पूजा छोड़ देता हूँ, तब छोड़ देने पर भी कुछ छूटता नहीं है। छोड़ने न छोड़ने का वहाँ स्थान ही नहीं है न। यह कहा जा सकता है कि एक ही मार्ग से सब लोग जाते क्यों नहीं? क्योंकि वे अनन्त रूपों से प्रकट हैं—है तो वही। तब फिर 'क्यों' नहीं हैं। झगड़ा रास्ते में है। किसके साथ लड़ेगा? रास्ते में ही तो लड़ाई है।



२६

प्रश्न : पूर्व जन्म की बातों का स्मरण क्यों नहीं रहता ?

माँ : अज्ञान है, ज्ञान नहीं है, इसलिए कि तुम अज्ञान से आवृत रहते हो।

प्रश्न : आवरण ही क्यों होता है ? मृत्यु के बाद भी मन रहता ही है, क्योंकि संस्कार मन में रहते हैं। जब संस्कार रह ही जाते हैं, जब आज की बातें और कल की बातें स्मरण में रहती हैं, तब जन्मान्तर की ही बातें क्यों भूल जाती हैं ?

माँ : भूल के राज्य में आकर सब कुछ भूला जाता है—यह भूल की ही जगह है न।

प्रश्न : इतनी भूल हो जाएगी ? कुछ का तो स्मरण रहे।

माँ : तुम्हीं लोग तो कहते हो, बुद्ध देव ने ५०० जन्मों की बातें कही हैं। बाल्यावस्था से लेकर अब तक तुम्हारी जो आयु व्यतीत हुई है—इसी जन्म की इन्हीं सब बातों का क्या तुम स्मरण कर सकते हो ? प्रतिक्षण तुम्हारी मृत्यु हो रही है, भले ही तुम्हें मालूम न पड़े—इस समय तुम्हारी बाल्यावस्था नहीं है, शैशव नहीं है, यौवन नहीं है। नन्हें बच्चे पैदा होने के बाद ही अपने आप दूध पीने लगते हैं एवं खाने से आनन्द होता है तथा खा चुकने पर पेट भर जाता है। ये सब पूर्वजन्म का पूरा सबूत देते हैं। छोटे बच्चे को खा कर जो आनन्द और आराम होता था इस समय भी तो वही होता है। किन्तु बात यह है कि इसका स्मरण नहीं रहता।

प्रश्न : संस्कार कैसे रहते हैं ?

माँ : अभ्यास योग (से)। भगवान् के लिए सतत प्रयत्न किये जाओ, मरते समय अपने-आप स्मरण हो जाएगा। जीव बद्ध है, जगत् गति है, इस जीव-जगत् में जो प्रकाश है, वह एक भगवान् का ही तो प्रकाश है। क्षण-क्षण में तुम्हारी

मृत्यु हो रही है अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव का जो प्रकाश हो रहा है, इसी रूप में देहान्त-सम्पादन द्वारा वे प्रमाणित कर रहे हैं कि भूल जगत् में जब विचरण कर रहे हो, तब भूलना अवश्य ही पड़ेगा।

संस्कार : जैसे मन्दिर का संस्कार अर्थात् जो पहले था उसी का प्रकाश। और एक बात है, तुम्हें याद रहे चाहे न रहे, सब कुछ की एक छाप रह जाती है। इसी को कहते हैं संस्कार। जिसकी योग्यता है वह देख सकने पर देख सकेगा कि यह छाप अथवा संस्कार पूर्वजन्म का है। जो ज्ञानी हैं वे कितने ही जन्मों के संस्कारों को देख सकते हैं। अपने लाखों जन्मों का संस्कार देखने पर भी जहाँ अनुलोम-विलोम प्रकाश है वहाँ देखेगा क्या ?

विश्व ब्रह्माण्ड में पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, जहाँ जो कुछ है, उनका जन्म तुम्हारा ही जन्म है और उनकी मृत्यु तुम्हारी ही मृत्यु है। जहाँ तुम में सब है और सब में तुम हो—वहाँ एक 'वे' ही तो हैं।

तुम यदि पाँच जन्मों को देख सकते हो तो यहाँ संख्या-दृष्टि है। तुम्हारी अपनी पूर्वजन्म की 'हिस्ट्री' यह तो अपने देश, काल और गति में एकमात्र अपना जन्म ही देखते हो। किन्तु विश्व ब्रह्माण्ड में तुम्हारी जो नानागतियाँ और नाना-स्थितियाँ हैं उनका तो प्रकाश नहीं होता। जिस नाना को तुम देखते हो यह नाना मिटेगा कैसे ?—नाना के मध्य में अपने को पाने पर। किसको ?—एक मात्र उनको (भगवान् को)। जब तक प्रकाश नहीं होता तब तक परिधि रहती है। Boundary (बाउंडरी) माने अज्ञान, इसीलिये भूल है।

प्रश्न : क्या आप ईश्वर कोटि में जाने की बात कहती हैं ?

माँ : ईश्वर कोटि में जाने की बात नहीं होती है। जब तक आवरण रहता है तब तक वह नहीं होती। ईश्वरकोटि या साधक कोटि—इनका विभाजन तुम लोग कर डालो।

प्रश्न : जो आत्मस्थित है उनको तो जगत् की विस्मृति होनी ही चाहिए।

माँ : भूल (विस्मृति) के राज्य में भूल होती ही है। जब देह कहते हो तब तुम्हारा आकार ही ठहरा 'दो दो'। 'दो' के माने हैं अभाव। जहाँ अभाव है, वहाँ भ्रान्ति और अज्ञान है। जहाँ भ्रम और अज्ञान है वहाँ तो भूल रहेगी ही। इसमें अपने को पाने की ओर जब साधना करते हो अथवा कृपा प्राप्त करके जब

साधना होती है--साधना मात्र ही कृपा है--तब कितने ही स्तर पार करके तुम देख पाते हो कि मैं तो समग्र रूप में हूँ। मैं हूँ, तभी न पेड़-पौधे जितने भी हैं सब हैं। जितने रूप हैं वे तो मैं ही हूँ। जहाँ मै ही हूँ, वहाँ मेरा प्रकार-प्रकाश 'दो दो' यही है। इसी रूप में ही अनन्त है। इस देह के आकार में ही अनन्त-भाव और अनन्त प्रकाश हैं। ये जो और सब आकार हैं, सभी तो अनन्त हैं। ऐसी स्थिति में मैं भी अनन्त हूँ। तब देखा जाता है कि जितने आकार-प्रकार और प्रकाश हैं वे भी मैं ही—नित्य ही हूँ। यह तो हुआ कि मैं नित्य ही हूँ और यह भी हुआ कि मैं नाना रूपों में हूँ और ये जो रूप हैं, उनका अनन्तरूप प्रकाश है। ये अनन्त भी मुझ में अनन्त प्रकार के हैं--मैं ही सकल आकार इन सबका हूँ। जो पृथक् दिशाएँ हैं उन सब की दिशाएँ भी फिर अनन्त प्रकारों से मुझ में हैं। इस तरह के प्रकाश का जब प्रत्यक्ष हुआ, अनन्त की दिशा का जब समग्र रूप से प्रकाश हुआ, तब एक की दिशा का भी प्रकाश अवश्य प्राप्त होगा ही। एक और अनन्त पृथक् कहाँ है? एक में अनन्त है और अनन्त में एक है।

इसीलिए अपने ५०० जन्म जो तुमने पाये वे संख्याबद्ध हैं। और भी तो कितने ही रहे। उन्हीं सब में जब तुमने अपने को पाया तब अनन्तरूप में तुम और अनन्तरूप में ठाकुर रहे। यह जो अनन्त और अन्त है, यह तत्त्व जिसे पूर्णतया ज्ञात हो चुका तब अनन्त और अन्त में अनन्त है। अब साकार और निराकार का समाधान करो। देखो, एक बात है; व्यक्तिगत जहाँ आवरण रहता है वहाँ वह यदि न हो तो खेल नहीं चल सकता। जहाँ भूल होगी, वहाँ आवरण से ढके बिना खेल नहीं होगा। इसलिए इसका रहना स्वाभाविक है। इसलिए कहा जाता है कि जगत् दृष्टि-सृष्टि है। जीव के माने तो हैं—बद्ध, बद्ध के माने ही हैं आवरण, वहीं भूल है, जिसके बारे में पूछा गया।

पूर्व जन्म यदि कहो तो ऐसे एक भाव का उदय होता है कि मैं कब नहीं था?' पूर्व-पर' तो तुम लोग कहते हो, काल के वीच में समय से निबद्ध है परंतु वहाँ तो काल और अकाल का कोई प्रश्न नहीं है, वहाँ तो दिन-रात और पूर्व-पर का कोई प्रश्न ही नहीं। जब तक जीव काल के अधीन है, तभी तक जन्म और मृत्यु है। अन्यथा पुनर्जन्म नाम की कोई बात ही नहीं है। एक बात भी है कि पूर्वजन्म की स्मृति अवश्य होगी ही। किन्तु फिर 'पूर्वपर' (इसके माने क्या है) ? मैं तो सदा ही हूँ।

प्रश्न : अद्वैत मार्ग में चलने पर उसकी विभूति आएगी क्या ?

माँ : अद्वैत स्थिति में प्रतिष्ठित साधक की बात यदि कहो तो अद्वैतमार्ग का जो पथिक है, वह विभूति आने पर भी उसे ग्रहण नहीं करेगा और साकार सगुण पथ का जो पथिक है, वह विभूति आने पर 'तत्' भाव से उसे स्वीकार करेगा। प्रत्येक साधक को विभूति अवश्य ही प्राप्त होगी, क्योंकि विभूति कर्म-फल है। विभु ही नाना रूपों में प्रकाशमान हैं, यही तो विभूति के माने हैं। इसलिए विभूति का आना स्वाभाविक है, वह आएगी ही। साधक में विभूति का आना या पाना नहीं चाहिए; क्योंकि साधक को उसमें बँध जाना पड़ता है।

अद्वैत पथ का साधक द्वैत को नहीं लेगा एवं सगुण पथ का साधक अद्वैत को भी नहीं लेगा, किन्तु आगे चलते-चलते विभूति क्या है, यह समझ जायगा। निर्गुण जो कहा जाता है उसमें भी यह बात है। इसका भी स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। इसलिए साकार क्या है और निराकार क्या है, इसका समाधान हो जाना (चाहिए)। जहाँ केवल एक प्रकार की ही स्थितिमात्र है, नाना (भेद) चला गया, स्वयं-प्रकाश तो वहाँ नहीं है। अद्वैतपथ पर चलते-चलते विवेक-वैराग्य द्वारा एक आत्मा का प्रकाश होना चाहिए। जहाँ भेद-विभिन्नता सबको जलाकर एक हो गया, वहाँ स्थिति आ गयी—प्राप्त हो गयी—सम्भवतः कोई लोग कहेंगे कि यही अद्वैत स्थिति है। जगत्-परिवर्तन—इसमें जो गति, स्थिति और नाना है—इन सब की निवृत्ति होकर एक (रह जाएगा)। यहाँ नाना रहता ही नहीं। यहाँ एक ब्रह्म, एक आत्मा कौन है ? इसी को अद्वैत-स्थिति कहते हैं।

और एक बात है—चिन्मय नाम है, चिन्मय धाम है, सब कुछ चिन्मय ही है। आकार, प्रकार और प्रकाश सभी चैतन्यमय हैं। अप्राकृत और क्या है ? जहाँ एक के बाद एक। नहीं है—वे ही एकमात्र हैं—उन्हीं का विग्रह है। जगत् के दृष्टिकोण से जैसा तुम्हारा नानात्व (भेद) है, वैसा नानात्व (भेद) वहाँ नहीं रहता। विभूति—विभु जो एकमात्र हैं वही स्वयं विग्रह हैं, 'ति' 'तिनि' (वे) नाना में विभूतिरूप से एकमात्र हैं। जैसे जल में बरफ़ है और बरफ़ में जल है। जल न रहने पर बरफ़ का आकार आया कहाँ से ? जल में बरफ़ का भाव यदि न रहता तो बरफ़ होता कैसे ? अतएव सब उनमें हैं और वे सबमें हैं—वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अद्वैत नित्य सेवक हैं, नित्यदास है। नित्यदास माने अनित्यता

नहीं रही। आकार, प्रकार के रूप से वे ही हैं। जो निराकार के रास्ते में जाएंगे, उनका यदि एक अद्वैत हैं—वहाँ स्थिति रहने पर यदि लीलाक्षेत्र को उन्होंने नहीं पाया तो भी हुआ नहीं। द्वैत क्या है? इसका समाधान हुआ नहीं। एक-एक दिशा की बात तो है। किन्तु सर्वांगीण पाना होगा। अपने स्वरूप को लौट कर पाना चाहिए। पेड़ का एक कलम पाने पर उस कलम से पेड़ हुआ। विशाल पेड़ उसी पर खड़ा रहा। किन्तु उस पेड़ से ही फिर कलम प्राप्त होंगे, तब अपने को फिर से पाना हुआ। उपमा सर्वांश में नहीं होती, अनुकूल अंश लेना चाहिए। सब में वह एक हैं और एक में ही सब हैं, इसका युगपत् प्रकाश होने से है भी, नहीं भी है, है भी नहीं, नहीं भी नहीं। यह कैसा है? बीज के भीतर देखने पर केवल एक बीज दीखता है, पत्ते या और आकार-प्रकार कुछ भी नहीं दीखता, फिर जब पेड़ हुआ तब उसमें पत्ते, फूल, फल आदि सब कुछ हैं। जब एक बीज मात्र है, तब कुछ भी नहीं है, इसलिये नहीं है। फिर जब पेड़ है, तब है, नहीं है, नहीं था यह भी तो ठीक ही है। अतएव नहीं भी नहीं है, क्योंकि जो कुछ देखा गया वह है। किस तरह? अनन्त रूप से और एक रूप से। है भी नहीं, क्योंकि नहीं था। भाषा कहाँ है? कहो न सत्, असत्, न सत्, न असत्। जहाँ अद्वैत कहते हो न अथवा निज को लेकर निज में लीला-क्रीड़ा कहते हो। ऐसा जो कहा गया, सब जलकर एक हो गया, जिससे कि उसे खोज कर पाया नहीं जा सकता। जो एक हो गया यहाँ एक तरह का अन्धकार है। स्वयं-प्रकाश तो नहीं है। चिन्मय राज्य में भी आया नहीं। यहाँ से कब उठेगा, कहा नहीं जा सकता।

चिन्मय यदि आ जाए तो यह विग्रह आयेगा 'तत्' रूप से। जगत्-दृष्टि से जो दुःख था वह चिन्मय में होता है विरह अर्थात् विशेष प्रकार से 'रहना'। यह विरह अनन्त है, नूतन-नूतन प्रकाश। भगवान् की कल्पना-मात्र से सृष्टि है। सृष्टि क्या है? वे स्वयं ही वह हैं। तब पृथक् रूप से एक-के-बाद एक नहीं है—बिन्दु में सिन्धु रहता है कैसे? एक होकर जब वे ही विग्रहरूप में प्रकाशमान हुए—राधाकृष्ण रूप में—यह नित्य ही हैं। कहाँ? वृन्दावन में। जिसकी हृदय-ग्रन्थि खुल गयी है उसका एकमात्र वृन्दावन ही है, यह जो वस्तु तुमने लीलारूप में पाई यह अनन्त है। यह अनन्त कहाँ होगा? जगत् के जितने 'इति' हैं क्या इन्हें हटा कर? परमहंसदेव ने कहा है, माँ नाचती हैं। वैष्णव कौन है? जो सर्वत्र विष्णु-दर्शन करे। जगत् की 'बाउण्डरी' (परिधि) मोह है। इसलिए माना शक्ति हैं। यह मोह है, यह प्राकृत है, यह अप्राकृत है ऐसा तुम लोग विभाग

करते हो। किन्तु समग्र ही उनकी लीला है। सबके भीतर उन्हें पाना चाहिए। अप्राकृत क्रमिक नहीं हैं। 'बाउण्डरी' के भीतर जो रहेगा, उसका हृदय वृन्दावन होगा नहीं। जब प्राप्त हुआ एकमात्र वृन्दावन, एकमात्र शिव, एकमात्र अद्वैत। तभी हुआ जगत् ब्रह्माण्ड में उनका खेल। यह है और यह नहीं है—प्रकृति भी उन्हीं की है। स्थिति प्राप्त होने पर प्राकृत और अप्राकृत ऐसी कोई बात ही नहीं रहती। जहाँ एकमात्र चैतन्यमय का प्रकाश होता है, वहाँ किसी ने अद्वैत स्थिति प्राप्त की और किसी ने लीला का प्रकाश लिया। वे विग्रह रूप मे हैं, विग्रह रूप में नहीं भी हैं। समग्र के माने हैं सम-अग्र। सबके अग्र में ही जो समता है, वह यदि प्रकाशित न हो तो जगत्-दृष्टि से देखेगा तो अद्वैत नहीं है। और जब अद्वैत लेगा तो फिर कर पाना क्या रहा ? जगत् में शोक और ताप से जो आच्छन्न था, माने आच्छादन—इसके निवृत्त होने पर एकमात्र 'तत्' है। विग्रह के आ-आकर चले जाने पर सब में गतिरूप में और स्थितिरूप में एकमात्र वह है। प्रतिबिम्बरूप में कौन हैं ? वही एकमात्र। यहाँ दुःख-कष्ट कौन देगा ? तुम्हारी सारी वस्तुएँ एक होकर जो है, वह प्रकट हुआ। जिस दुःख से आज दुःखित थे, वह हुआ उसका विरह। जागतिक दुःख है अभाव में और भगवान् के लिए विरह है स्वभाव में।

वह साकार सगुण का अवलम्बन करके चला था उसका क्या हुआ ? पहले तो उसकी अपनी इष्ट मूर्ति ही (इष्ट) है। तदनन्तर चलते-चलते क्या होता है ? वह सोचता है कि मेरे इष्टदेव क्या इतने ही मात्र हैं ? राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा, सब में मेरे ही इष्टदेव हैं। मेरे इष्टदेव ही नाना रूपों में हैं। इसके पश्चात् ऐसा भाव आता है कि सब में मेरे इष्टदेव हैं और मेरे इष्टदेव में सब हैं। इस चलन के मध्य में बहुत से स्तर बहुत से स्थानों पर हैं। एक जगह की बात कही जाती है। पहले यह भाव आता है कि मेरे इष्टदेव के सदृश और कोई भी नहीं है। पहले ऐसा हुए बिना निष्ठा नहीं होती। क्रमशः इष्टदेव के ऊपर जब निष्ठा श्रद्धा बढ़ जाती है तब यह प्रतीत होता है कि मेरे इष्टदेव ने ही तत् तत् रूप धारण किये हैं। मेरे इष्टदेव ही वह सब हैं। भक्ति, श्रद्धा उन्हें इतना छोटा रखने देना नहीं चाहती। साधक की दीनता और भक्ति बढ़ती चलती हैं। अन्त में तो सबके भीतर ही वे हैं, उनके भीतर ही सब हैं, यह भाव आ जाता है। एक में ही उस विग्रह को फिर से पाया। बीज से वृक्ष हुआ, फिर वृक्ष से उसी बीज को पुनः पाया।

'देवो भूत्वा देवं यजेत्' निज को पाकर स्वरूप प्रकाश के बाद अब यदि वह इष्टदेव की सेवा-पूजा लेकर रहता है तब समझना चाहिए कि अपनी पूजा स्वयं ही करता है। यह उसकी लीला है।

प्रश्न : किसकी लीला ?

माँ : लीला तो भगवान् की है। लीला और किसी की होती है ?



२७

माँ : स्वप्न में मन्त्र पाया—एक व्यक्ति दर्शन देकर मन्त्र दे गये अथवा मन्त्र का ही दर्शन हुआ। जागने के बाद मन्त्र की वह अनुभूति ही केवल रह गयी। अर्थात् जागरण में भी वह भाव रह गया। उसका फल क्या हुआ? बहुत दिनों की समस्या का समाधान हो गया, निर्द्वन्द्व हो गया। इसी तरह वह चलने लगा। दीक्षा लेने की फिर उसे इच्छा नहीं हुई। इस अवस्था में भी क्या उसे स्थूलरूप से पुनः दीक्षा ग्रहण की आवश्यकता है?

एक व्यक्ति : अधिकारी के भेद से आवश्यकता और अनावश्यकता दोनों हैं।

माँ : अगर ऐसा है तो सबके लिए सब नहीं है। मैं एक व्यक्ति की बात कहती हूँ। नाम नहीं बताऊँगी। उसने विरजा होम कर के संन्यास लिया और दण्ड धारण किया। किन्तु उसे किसी प्रकार की भी अनुभूति नहीं हुई। अत्यन्त निराश हो कर अन्त में उसने दण्ड-त्याग कर दिया। वह एक तरह से नास्तिक सा ही हो गया। वह इतना हताश हो गया कि शरीर को उठाने की भी फिर उसमें इच्छा नहीं रही। इसी समय एकाएक एक दिन उसे दर्शन हुआ—अनुभूति प्राप्त हुई—कि मुझमें ही सब कुछ है। निराशा चली गयी। सब दुःखों का अन्त हो गया।

यदि पहले ही उस संन्यास-ग्रहण, कर्म आदि को छोड़ कर अन्त की अनुभूति ही पा जाए तो उसको फिर दीक्षाग्रहण की आवश्यकता रही क्या? हाँ, ऐसा भी होता है कि स्वप्न में भी मन्त्र पाया और फिर दीक्षा भी ली।

इस शरीर के निकट अनेकों लोग आकर कहते हैं—तुम्हारे कहने पर दीक्षा लूँ। तुम यदि 'हाँ' कहो तो लूँ, 'ना' कहो तो न लूँ। इसी तरह कहते हैं न? —सबसे एक-सा कहा नहीं जाता। किसी-किसी से सम्भवतः कहा गया कि जब तक भीतर से इशारा नहीं मिलता तब तक और दीक्षा न लो। जिसे स्वप्न में पाया है उसी को किये जाओ। दूसरे को सम्भवतः यह कहना हुआ कि फिर अन्य किसी के निकट से दीक्षा ले लो, जिसके प्रति तुम्हारी श्रद्धा हो।

एक व्यक्ति : दीक्षा तो सूक्ष्म का व्यापार है। केवल शब्दमात्र नहीं है। फिर स्वप्न में जो दीक्षा प्राप्त हुई वह भी स्थूल-इन्द्रियातीत सूक्ष्म का ही व्यापार है। तब फिर स्थूल में दीक्षा-ग्रहण की आवश्यकता क्या रही ?

माँ : दीक्षा से बाहर-भीतर उसी क्षण में स्फुरण होता है। तुम्हारे भीतर सब कुछ है। केवल प्रकाश के लिए, बाहर-भीतर एक करने के लिए, स्थूल में शायद कोई कृपा कर गया। दीक्षा प्राप्त करके साधना से कोई सम्भवतः सिद्ध हो गया। किसी को कुछ भी नहीं मिला, मर गया।

तुम्हारे शरीर में जागतिक जागरण के दृष्टिकोण से कहा जाता है—स्थूल में दीक्षा प्राप्त करने से जैसी तृप्ति होती है स्वप्न में भी वैसी ही तृप्ति प्राप्त हो जाए कि अब मुझे दीक्षा की आवश्यकता नहीं है तो बाहर पाने पर भी जैसा काम होता है स्वप्न में पाने पर भी वैसा ही हुआ। ऐसे स्थल में फिर बाहरी दीक्षा की जरूरत क्यों होगी ?

एक व्यक्ति : अर्थात् स्वयं तृप्त होने पर ही सब कुछ हुआ।

माँ : नहीं, केवल तृप्ति नहीं। भीतर ऐसा स्पर्श रहता है जिससे समझ लेता है कि मुझे अब दीक्षा की जरूरत नहीं है। इस जगह यदि इच्छा हो, यदि कोई विशेष व्यक्ति रहे तो उससे पूछ कर भी समझ लिया जा सकता है। हाँ, उस व्यक्ति को ऐसा होना चाहिए कि वह निरपेक्ष रहे, जो खालिस हो उसी को कहे। ऐसे व्यक्ति को पहिचान लेना भी कठिन है। साधारणतः कहीं-कहीं स्थल-विशेष में देखा जाता है कि बाहर तो सुना जाता है खूब ऊँचा—पारंगत। मगर जो ग्रहीता हैं वे यदि एक बार विशुद्ध सोना हो जाएँ तो वे ही समय पर जान जाएँगे।

जिस शक्ति के संचारित होने पर दीक्षा होती है उस शक्ति का संचार यदि हो जाए तो सब कुछ ही हो गया, गुरुशक्ति की अभिव्यक्ति स्वप्न में हो, चाहे बाहर से हो। भीतर विशुद्ध प्रकाश होने पर फिर बाहर का अभाव नहीं रहता।

एक व्यक्ति : इसका लक्षण क्या है ?

माँ : जो लोग भीतर पाते हैं, भीतर पा कर भी शायद पहले अभाव था, आगे जाकर मिट गया। जैसा-जैसा योगायोग हो। जैसे कि किन्हीं के भीतर

प्रकाश नहीं था, फिर हो गया। और उसका धीरे-धीरे भीतर में अभिव्यक्त होना भी सम्भव है। कभी भी ऐसा होता है कि प्राप्ति ही नहीं हुई, दीर्घ जीवन बीतने पर भी प्राप्ति नहीं हुई। और देखो दीक्षामात्र से ही जीवन का परिवर्तन हो गया अर्थात् दीक्षा का फल प्रकाशित हुआ। यह होने पर तो बात ही नहीं है। जिस जगह दीर्घ दिन बीत जाते हैं; पर प्रकाश नहीं होता उस क्षेत्र में भी भीतर में क्रिया हो ही जाती है।

जपसमर्पण के सम्बन्ध में माँ कहती हैं—जप करके अर्पण करना चाहिए। अर्पण न करके यदि अपने पास ही रख लिया जाए तो उत्तम वस्तु की पहचान न रहने से उसके द्वारा उस वस्तु के नष्ट हो जाने की आशंका रहती है। जैसे छोटे बच्चे के पास बहुमूल्य रत्न रहने पर वह यदि उसे न परख सके तो शायद उस धन को फेंक दे। अपने पास रखने पर भी कुछ फल होगा, पर रक्षा का फल पूर्णरूप से नहीं पाएगा। पात्र में रहने पर जैसा फल होगा अपने पास रखने पर सम्पूर्ण फल पाने पर जैसा होता है वह होगा नहीं, इसलिए अर्पण कर देना चाहिए।

लड़का कोई एक वस्तु पाने पर माँ के समीप लाकर देता है, वह तो यह जानता नहीं कि यह क्या वस्तु है। माँ वस्तु को देखकर जान जाती है कि यह इतनी अमूल्य वस्तु है। इसीलिए वह उस समय लड़के के हाथ से लेकर उसे रख देती है। लड़का जब बड़ा हुआ और उसमें समझ आ गयी तब वस्तु को फिर उसे लौटा देती है और कह देती है कि तुम्हारी वस्तु मैंने सम्हाल कर रखी थी। अब लो।

जब अधिकारी हुआ, यहाँ न जानने का पहलू समाप्त हो गया। आयु और ज्ञान होने से समझ का पहलू पूर्णरूप से विकसित हुआ। अर्पण करते-करते धीरे-धीरे ज्ञान होने लगा कि नाम और नामी क्या हैं? मैं कौन हूँ? अपने को पाना क्या है? यह जब ज्ञान हुआ, जप में परिपूर्णता आई। किस मुहूर्त में यह होगा यह जाना नहीं जाता, इसलिए जप करते ही जाना चाहिए।

अनन्त साधना, अनन्त अनुभूति, अनन्त प्रकाश और फिर अव्यक्त, जो जिस 'लाइन' में चलता है जप करता जाए। अनन्त मैंने क्यों कहा? पेड़ के पत्ते अनन्त हैं, फिर पत्ते का एक साधारण आकार रहने पर भी आकारों में अनन्त

परिवर्तन हैं। इस दिशा में भी अनन्त है। बाद को अन्त में जब प्रकाश होगा, तभी अन्त है। और तभी अनन्त में कहते हैं उसका प्रकाश। जैसे बीज ठीक ही है, शाखा प्रशाखाएँ ठीक ही हैं, पर सब अनन्त हैं। इसी तरह साधना की दृष्टि से सभी अनन्त हैं। इस संख्या का जप करने-करते किसी क्षण में अग्नि जल उठेगी। अग्नि सभी जगह है, केवल घिसना किस क्षण में ठीक होगा, यह ज्ञात नहीं रहता। इसीलिए उन्मुख होकर रहना चाहिए। ऐसे भी सम्भवतः योगी हैं जो कह सकते हैं कि इतने जप के बाद प्रकाश होगा।

इसीलिए यह कहा जाता है कि जप करते रहो। यह भी माँ के पास रखने के तुल्य अक्षुण्ण रूप से सुरक्षित रहेगा। किस क्षण में प्रकाश होगा—एक में अनन्त का और अनन्त में एक का। कब जप की संख्या पूरी होगी ? तब क्या पाएगा ? नाम और नामी को अभिन्न पाएगा अर्थात् तुमने जो कुछ अर्पण किया सब कुछ तुम्हारे पास फिर लौट आएगा (नामी के रूप में)।

एक व्यक्ति : जप को गुरु के अर्पण न करके अपने पास रखने पर क्या वह नष्ट हो जाएगा ?

माँ : गुरु यदि अर्पण न करने का आदेश दें तो अर्पण न होने पर भी वह गुरु के हाथ में ही रहा। उनका आदेश जो है। वे शायद अपने पास रख कर पूर्ण करते; अब शिष्य के पास रख कर ही पूर्ण करेंगे। कहाँ रखकर पूर्ण होगा, यह वही जानते हैं। फिर, कुछ भी एकदम नष्ट नहीं होता। निरन्तर जितना जप कर गये, एक दिन उसका फल तो पाएगा ही। किन्तु कभी नष्ट भी हो जाता है, जैसे भूल-चूक, न्याय-अन्याय—किसी को छोड़ना सम्भव नहीं।

कभी-कभी देखा जाता है कि निष्ठा, नियम, जप-तप करके कुछ भी नहीं हुआ। गम्भीर नैराश्य से सब कुछ छोड़ दिया। दुःख की वेदना से भोजन और नींद भी छोड़ दी। यहाँ उन्मुखता इतनी हुई कि कर्म छोड़ दिया, किन्तु किसी का ध्यान एकाग्र यदि हो जाए तो तभी प्रकाश हो जाता है।



२८

प्र० : माँ, एक प्रश्न करूँ ? किन्तु जिस प्रकार मैं समझ सकूँ उस प्रकार उत्तर देना होगा।

माँ० : ठीक तो है, यदि आ जाए।

प्र० : ज्ञान हो जाने पर फिर क्या यह स्मृति रहती है कि मैं किसी समय अज्ञानी था ?

माँ : जब ज्ञान होता है तब उसके होते ही नित्यत्व प्रकट हो जाता है। यह जो दीये के तले अन्धकार कहते हैं सो कैसे कहते हैं ? उजाले से ही तो उसका भी प्रकाश होता है। अन्धकार क्या, और कौन है ? यह एक ओर की बात है। किन्तु अन्धकार कहने से उजाले का बोध नहीं होता और उजियाला कहने से अन्धकार का बोध नहीं होता, यह बात यहाँ नहीं कहीं जा रही है।

एक ओर की बात कि वाह, मैं कब अज्ञानी था ?—साफ है। यह जो 'मैं था' और 'मैं हुआ' है यही भूल है, 'है ही' यही तो सत्य ठहरा। अविनाशी का कभी भी नाश नहीं होता और होगा भी नहीं। अच्छा, अक्षर ज्ञान होने की पूर्व अवस्था का स्मरण होता है क्या ? अथवा आई० ए०, बी० ए० कक्षा में पढ़ते समय मैट्रिक कक्षा में पढ़ते समय का भाव मन में ला सकते हो क्या ? ये सभी अलग-अलग नहीं हैं, 'वही जो है।' वह स्वप्रकाश हैं न, अब समझो। किन्तु वह भी यह भी—यह बात नहीं है।

जैसे बादल हट जाने के उपरान्त सूर्य का प्रकाश होता है, वैसे ही (अविद्या हट जाने पर उसका प्रकाश होता है)। जिस समय ज्ञान होता है—मैं तो सदा ही 'जो है वही' हूँ। सब स्पष्ट (साफ़) हो जाता है न, इसलिए मैं कभी अज्ञानी रहा यह प्रश्न ही नहीं उठता। कब सृष्टि होती है, कब स्थिति होती है और कब लय होता है ? पार्थक्य का तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

× × ×

पूर्वोक्त वार्तालाप होने के उपरान्त कुछ क्षण सभी चुपचाप बैठे थे। भूपेन्द्र ने कहा—'माँ, कीर्तन करूँ ?'

माँ : हाँ, खाली बैठे रहने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है।

एक व्यक्ति : माँ, मन तो खाली रह नहीं सकता ?

माँ : हरि-कथा और हरि-चिन्तन के बिना रहना ही मन को खाली रखने की बात है और वही वृथा तथा व्यथा है। क्योंकि मन तो बिल्कुल खाली रहता नहीं, किसी न किसी में लगा रहेगा ही। जिस-तिस में लगा रहना ही वृथा है। इसीलिए वृथा बातें नहीं करनी चाहिए।

मन को तो कोई न कोई आश्रय चाहिए ही। यह किसी न किसी की गोद में बैठा रहता है। इसीलिए निराश्रय की गति ही तो उसे देनी चाहिए। स्वयं ही आश्रय-रूप जो हैं, उन्हें धरने के लिए। वही सकल में हैं। 'सकल' माने 'कल' रूप में भी वे हैं अर्थात् स्वक्रिय में जहाँ स्वक्रिया है, प्रकाश की ओर—जप, ध्यान, कीर्तन इत्यादि।

मन घूम फिर कर, भटक कर शान्ति नहीं पाता। वह (मन) इस तट पर, उस तट पर और दोनों तटों पर घूमता है, छोटा बच्चा है न। जब यह तट, वह तट और दोनों तट बह जाते हैं, तभी तो बस है। यह इस तट पर, उस तट पर और दोनों तटों पर घूम कर अपना खाद्य खोजता है, पर पाता नहीं। मनको जो खाद्य देने पर वह एक जगह रहता है यदि वही सुखाद्य उसे दो, पूर्ण भोजन दो तभी वह स्वयं पूर्ण होकर—पूर्ण शिशु के रूप से माँ की गोद में बैठ जाता है। माँ में कहो चाहे आत्मा में कहो, भिन्न होने पर भी अभिन्न है और अभिन्न होने पर भी भिन्न है। अर्थात् समाहित या समाधि जहाँ पर कहो वह जो है उसी में रसस्वरूप, सुखस्वरूप, आनन्दस्वरूप जो कहो। स्वरूप में यानी 'स्व' में है।

× × ×

प्र० : माँ आप कुछ कहें।

माँ : बाबा, यहाँ तो जानिये आ गया तो आ गया।

प्र० : तो मैं ही जिज्ञासा करता हूँ। अच्छा, अद्वैततत्त्वका बोध हुए बिना

प्रतीति नहीं होती और यह बोध के अतीत है। ऐसी स्थिति में यह अद्वैततत्त्व सिद्ध होता कैसे है ? इस कारण यह तो केवल कल्पना की वस्तु है।

माँ : मुश्किल है, वक्ता जो कहते हैं यानी आचार्य उन्हें तो अपने में ले आये।

प्र० : कैसे ?

एक व्यक्ति : अच्छा, मैं कहता हूँ। तभी तक तो बोला जाता है जब तक मनुष्य वृत्ति में रहता है--सुख, दुःख जो भी क्यों न हो। किन्तु यह सुख यदि निराधार सुख हो, तब क्या है ? प्रेम है।

माँ : कर्म क्यों कहते हैं ?--सृष्टि करता है, इसलिए कहते हैं। किन्तु जिसके साथ ऐसा आकर्षण होने पर फिर कर्म-सृष्टि नहीं होती उसी को कहते हैं प्रेम। वह प्रेम क्यों कहा जाता है ? जिसके बाद फिर सृष्टि, स्थिति या दुःख का प्रश्न नहीं रहता। काम सृष्टि करता है, इसीलिए वह मोह है। इसीलिए कहते हैं कि भगवान् की ओर आकर्षण होने पर वह प्रेम है तथा जगत् की ओर आकर्षण होने पर वह काम है। पर और अपर जहाँ नहीं है उसके उपरान्त फिर कुछ रहा नहीं—उसी को प्रेम कहो चाहे ज्ञान कहो। जहाँ गति की दिशा शान्त हो गयी।

प्रेम से स्वप्रकाश वस्तु प्राप्त होगी। ज्ञान जहाँ स्वरूप है--स्वयं जो प्रकाश है वह आ जाएगा। प्रेम भक्तिरस की ओर जाओ। प्रकाश क्या है ? स्वरूप का प्रकाश है। यहाँ तो फिर प्रश्न रहता नहीं। तुम शायद कहोगे, यह जो स्वयं-प्रकाश है, यहाँ से बोलता कैसे है ? अद्वैततत्त्व का प्रकाश कैसे करता है ?

अच्छा, तुम प्रोफ़ेसर हो, तुमने पास किया है। तुम उसे किस जगह से कहते हो। तुम क्या सब कुछ कह सकते हो—एम० ए० पास का सब कुछ ?

प्र० : सब कुछ तो कहा नहीं जा सकता, हाँ अंशतः प्रकट कर सकता हूँ।

माँ : सबको प्रकट नहीं कर सकते हो। ये जो पुस्तक तुमने पढ़ी हैं, ये समग्र पढ़ी हैं। किन्तु कहा जाता है अन्य के तुल्य—जिससे तुम कहते हो उसे सम्पूर्ण बतला नहीं पाते। किन्तु कुछ लक्षण हैं जिनसे तुम्हारी विद्या की थोड़ी झलक वह पा जाता है। ब्रह्मज्ञानी के विषय में कल्पना की वस्तु तुम नहीं पाते।

समझना होगा कि वह स्वयंप्रकाश है। वहाँ तो बुद्धि और वाक्य द्वारा प्रकाश नहीं हो सकता। उसका लक्षण जो प्रकाश है उसके मुख से तुम जो सुनते हो, उसे पूरा समझ नहीं पाते, किन्तु लक्षण को समझ जाते हो।

स्वाभाविक जो प्रकाश है उसकी अभिव्यक्ति। उसी के लिए एक बात है, जो प्रोफ़ेसर नहीं हैं वे किस तरह समझेंगे कि प्रोफ़ेसर कहाँ से किस प्रकार कह रहे हैं। एक व्यक्ति विलायत से लौट आकर वहाँ का वर्णन करते हैं। श्रोता कोई एक धारणा बना लेते हैं सही, किन्तु स्वयं जब तक विलायत न जाए तब तक ठीक-ठीक समझना कठिन है। समझना और न समझना तो जगत् की बात है। किन्तु जहाँ 'जो है वही' वहाँ किससे ग्रहण करेगा, धरेगा ?

प्र० : तब उपदेश कैसे होगा।

माँ : जितना (श्रोता) समझेगा उतना (वक्ता) कहेगा ? मार्ग के समाचार की बात है न, उसे दे सकता है। जल के ऊपर रखने पर डूब गया ? भीतर जाकर क्या हुआ ? जो बाहर से देख रहे हैं वे कहेंगे डूब गया। जैसे खूब ध्यान लगा है, देख कर भी कहा जाता है कि ये जागतिक भाव में नहीं हैं, क्योंकि ध्यान लगाने पर जो लक्षण होते हैं उन्हें ही कहते हो, जगत् की ओर की बातें उनसे पूछने पर वे अन्तर्जगत् की बातें ही विशेषरूप से कहते हैं। तुमने लक्षण पा लिया, भाषा भी पा ली, किन्तु वे क्या पा रहे हैं उसे तुम्हारे पाये बिना वे समझा नहीं सकते। उस ओर जितना बोलना सम्भव होगा उतना ही कहेंगे—वचन के द्वारा जितना बोलना सम्भव होगा। किन्तु जो डूब गये वे कुछ कहेंगे नहीं। उनके निकट कुछ नहीं है तब फिर वे क्या कहेंगे। कुछ रहने पर ही तो कुछ कहते।

प्र० : मार्ग की बातें तो कहते हैं ?

माँ : तब तो तुम कहोगे, जो कहते हैं वे रास्ते पर हैं। किन्तु पिताजी, वे कुछ कहते नहीं, वे जो हैं वही हैं। पर वह जो कहते हैं वह कहना तुम लोगों की तरह कहना नहीं है। तुम लोग देखते हो कि वह कहते हैं किन्तु वह कुछ नहीं कहते। तुम्हारे पास कुछ है, इसलिए तुम कुछ देखते हो। वे किसी के भी मकान में जाते नहीं, खाते नहीं, चलते नहीं। बोलते नहीं। यह सत्य बात है। जो है वह है। वह हो जाने पर भी होते नहीं, करने पर भी करते नहीं। जो कहता है, खाते हैं, बोलते है, देखते हैं, सुनते हैं, उसे कहने दो। कुछ नहीं है तो कुछ क्या करते हैं।

एक व्यक्ति : ब्रह्म को जो जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। तब जानना, सुनना कुछ भी नहीं रहता। तब जानते क्या हैं ?

माँ : वह वचन-वाणी का विषय नहीं है। एक बात है पिताजी, जानना जो कहते हैं वह अपने को जानना है। तब तुम्हें न जानने का बोध है न, वहाँ तो जानने और न जानने का प्रश्न ही नहीं है। मैं जानता हूँ यह बात नहीं आती। जानता हूँ माने जो है वह है स्वप्रकाश। मै जानता हूँ कहने पर मुझसे दूसरा है ऐसा मानना पड़ता है और प्रकाश सर्वदा ही है अप्रकाश तो है ही नहीं। बादलों को हटना है उसके सिवा और कुछ नहीं। ढकना न हटाने पर भी बत्ती तो जलती ही रहती है। जो जानने और न जानने के भीतर हैं उनकी दृष्टि में जानना या न जानना है जिनके लिए दृष्टि-सृष्टि कही गयी है। उनके निकट ही जाने-आने का प्रश्न है। वह तो जो हैं वही हैं।





व्याख्या



'कुलवधू' के रूप में श्री श्री माँ

एक

इस वाणी में जिन विषयों की आलोचना की गयी है उनमें (१) ध्यानज दर्शन और वास्तविक दर्शन, (२) ब्रह्म की निरंशता, (३) स्वरूपज्ञान और क्रम, (४) मनोनाश और देह में अवस्थिति, (५) जीवन्मुक्ति और मन का अंश (संस्कार-शेषता), (६) स्वीकार और अस्वीकार के परे होना (८) स्वरूप में स्थित पुरुष का अभिनय किस प्रकार का होता है, (८) मौनतत्त्व—ये कतिपय विषय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वर्तमान निबन्ध में इन कतिपय तत्त्वों के सम्बन्ध में माँ के उपदेशों का क्या तात्पर्य है यह समझने की चेष्टा की जा रही है।

१–ध्यानज दर्शन और वास्तविक दर्शन

माँ की परिभाषा में दर्शन की दो अवस्थाएँ हैं—एक में स्पर्शमात्र होता है, दूसरी में स्थिति होती है। जिस दर्शन में स्थिति नहीं होती वह वास्तविक दर्शन नहीं है, स्पर्श अर्थात् आभास है, इसलिए ध्यानज दर्शन दर्शन का केवल आभासमात्र है। आभास से जीवन की धारा में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु आनन्द होता है। अर्थात् विषय के रस का ग्रहण होता है। वास्तविक दर्शन की भाषा द्वारा व्यवस्था नहीं हो सकती।

परिवर्तन क्या है? 'कनवर्शन' अर्थात् एक अस्थायी अवस्था से दूसरी अवस्था की प्राप्ति के कारण स्थिति-भाव का आविर्भाव। इस सम्बन्ध में बहुत बातें कहने की हैं। माँ कहती हैं, "स्थिति में रस नहीं है।" शास्त्र कहते हैं, समाधि के चार अन्तराय हैं—लय, विक्षेप, कषाय और सुखास्वाद अथवा रसास्वाद (देखिए वेदान्तसार)। गौड़पाद ने कहा है (माण्डूक्य कारिका ३।४४-४५) कि लय अवस्था में चित्त को सम्बोधित करना उचित है अर्थात् जगा रखना उचित है। तमोगुण की प्रबलता से लय अवस्था का उदय होता है। यह एक मूढ़भाव है—बहुत कुछ अंशों में निद्रा के समान है। तत्त्वज्ञान का विरोधी समझ

कर उसे हटा देना उचित है। विक्षेप अवस्था में चित्त को शान्त रखने की चेष्टा करनी चाहिए। चित्त के विक्षेप के बहुत से कारण हैं। पतंजलि ने योगसूत्र में (१।३०-३१) इन सब कारणों से कुछ एक की चर्चा की है। इन सब कारणों के प्रभाव से चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। रजोगुण की प्रबलता को ही विक्षेप का मूल कारण जानना चाहिए। कषाय शब्द से कोई समझते हैं (जैसे शंकराचार्य) रोग, द्वेष और मोह नामक दोष। और कोई-कोई समझते हैं (जैसे मधुसूदन सरस्वती और सदानन्द) स्तब्धता। चित्त में कषाय अवस्था का उदय होने पर विज्ञान अथवा विवेकज्ञान के द्वारा उसे निवृत्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। आचार्य गौड़पाद ने कहा है कि चित्त यदि किसी प्रकार शान्त हो जाए तो ऐसी अवस्था में उसे चंचल बनाना उचित नहीं है। समाधि में चित्त को एकाग्रता के कारण सुख प्राप्ति होती है, किन्तु आचार्य ने कहा है—"नास्वादयेत् सुखं तत्र।" "उस अवस्था में सुख का आस्वादन करना अनुचित है, क्योंकि वह भोग के अन्तर्गत है। साधक के लिए प्रज्ञा का अवलम्बन कर निःसंग रहना ही समुचित है। ऐसा कर सकने पर चित्त निश्चल होकर 'एकीभूत' हो जाता है, अर्थात् चित्स्वरूप सत्ता में उसकी स्थिति हो जाती है। इसलिए रसास्वाद भी स्थिति का अन्तराय है। इसके अनन्तर आचार्य ने कहा है, "यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।" लय, विक्षेप चलन और आभासन यानी विषयाकार में प्रतिभास—इनके न रहने पर चित्त को ही ब्रह्म जानना चाहिए। चित्त की यह निराभास अथवा अनाभास अवस्था ही निर्विकल्प दशा है। इसका नाम चिन्तनशून्य अवस्था है। 'अंकावतारसूत्र' में यही बिहार या बुद्धभूमि कही गयी है। इस अवस्था में वैकल्पिक मनोविज्ञान नहीं रहता। आचार्य गौड़पाद ने इसका 'अकथ्य-उत्तम' सुख के नाम से उल्लेख किया है (कारिका ३।४७)। जिस सुखास्वाद या रसास्वाद को उन्होंने हेय कोटि में गिनाया है, वह समाधि का अन्तराय है, क्योंकि वह विषयरस है। वह भोग के अन्तर्गत है। माँ ने भी कहा है, "स्थिति होने पर विषय-रस का इस तरह ग्रहण नहीं किया जा सकता।"

सुदीर्घकाल तक अष्टांग के साथ निर्विकल्प समाधि का अभ्यास होने के कारण जो निपुणता चित्त में उदित होती है, उसके प्रभाव से अत्यन्त तप्त लोहे के टुकड़े पर फेंके गये जल-बिन्दु की तरह अथवा तैलशून्य दीपशिखा के समान प्रत्यगभिन्न परमात्मा वस्तु में चित्तवृत्ति का जो लय होता है, वह वास्तविक लय नहीं है।

किन्तु आलस्यवश चित्त मूर्च्छावस्था के तुल्य बाह्य विषयों के ग्रहण में उन्मुख नहीं रहता और उस समय प्रत्यगात्मा के स्वरूप का प्रकाश भी नहीं होता। इस अवस्था में एक प्रकार की स्तब्धता के तुल्य जड़ता का उदय होता है। वही वास्तविक लय है एवं वही समाधि का अन्तराय है।

अखण्ड वस्तु के ग्रहण के लिए अन्तर्मुख हुई चित्तवृत्ति चित् का अवलम्बन न कर यदि फिर बाह्य विषयों के ग्रहण में प्रवृत्त होती है तो उसका नाम होता है विक्षेप। रागादि तीन प्रकार के हैं—बाह्य, आभ्यान्तर और केवल वासनारूप। पुत्र, कन्या, ऐश्वर्य, कीर्ति आदि विषयों में जो अनुरक्ति है उसका नाम बाह्यराग है। मनोमय कल्पना-राज्य में विचरना आभ्यान्तर राग का परिचायक है। तीसरे प्रकार का राग वृत्तिरूप नहीं है, केवल संस्काररूप है। अनेक जन्मों में अभ्यस्त बाह्य और आभ्यान्तर रागादि के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से कलुषित चित्त श्रवण आदि द्वारा बड़े कष्ट से अन्तर्मुख होने पर भी चैतन्य को न पा सकने के कारण बीच में ही स्तब्ध हो जाता है। जैसे कोई पुरुष राजा के दर्शन करने के लिए घर से निकल कर राजप्रसाद में प्रविष्ट होने पर भी द्वारपालों की रोकटोक के कारण स्तब्ध हो जाता है अर्थात् उसका आगे बढ़ना रुक जाता है, ठीक इसी प्रकार बाह्य विषयों का त्याग करके अखण्ड वस्तु का ग्रहण करने के लिए चित्त के प्रवृत्त होने पर भी रागादि संस्कार सिर पर उठा कर चित्त की जो स्तब्धता उत्पन्न करते हैं, उसके कारण अखण्ड वस्तु का ग्रहण नहीं होता। इसी का नाम कषाय है। यह समाधि का विघ्नरूप है।

हठयोगी लोग कहते हैं, योग का आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति—इन चार अवस्थाओं में से पहली अवस्था में कुछ ग्रन्थि-भेद होते ही आनन्द का अनुभव होता है। दूसरी अवस्था में ग्रन्थि-भेद और अधिक होने के कारण आनन्द की मात्रा भी अधिक अनुभूत होती है। इसका नाम परमानन्द है। इसके अनन्तर तीसरा ग्रन्थि-भेद होने पर चित्तानन्द का उदय होता है। तीन प्रकार के आनन्दों का त्याग कर ऊपर उठना पड़ता है। इन सब आनन्दों में क्रम है, क्योंकि ये परिमित हैं। इसलिए ये भी एक प्रकार से विषयरस ही हैं। इनके अनन्तर होता है सहजानन्द। वह स्वाभाविक आत्मसुख है तब चित्त एकीभूत होता है। इसी का नाम राजयोग है। उस समय विषयरस नहीं रहता। स्वरूपानन्द की स्थिति भोग से परे है। (देखिए हठयोग प्रदीपिका ४।६६-७७)। पतंजलि द्वारा उप-

दिष्ट सम्प्रज्ञात समाधि में भी सानन्द समाधि की अवस्था में आनन्द का आस्वाद होता है, किन्तु उसका अतिक्रमण न कर सकने पर अस्मिता में प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। तदनन्तर क्रमशः विवेकख्याति के फलतः स्वरूप में स्थिति होती है। प्राचीन बौद्ध कहते थे कि काम से कलंकित जगत् के कलुषित चित्त को साधना द्वारा निष्काम ज्योतिर्मय रूपचित्त में परिणत किया जाता है। रूपचित्त ही ध्यानचित्त है। इस ध्यानचित्त में पहले ध्यान के अंग रूप से वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता रहती है। क्रमशः इन सबको हटा सकने पर अन्तिम अवस्था में एकमात्र एकाग्रता ही रह जाती है। उस समय केवलमात्र एक अवलम्बन में चित्त निश्चल हो जाता है। इस तरह देखने में आता है कि अन्तिम अवस्था में सुख का भी अर्थात् रसास्वाद का भी परित्याग कर आगे बढ़ना पड़ता है, अन्यथा एकत्वलाभ नहीं होता। पंचम ध्यानचित्त में सुख नहीं रहता। उस समय उपेक्षा रहती है एवं एकाग्रता रहती है। एकाग्रता की पूर्वावस्था का ही नाम अर्पणा है। यही पूर्ण समाधि की अवस्था है। उस समय चित्त जाग्रत रहता है, किन्तु बाह्य इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं। बाह्य इन्द्रियों का अपने अपने आलम्बनों के साथ संनिकर्ष रहने पर भी मनस्कार का अर्थात् मनोयगो का अभाव रहने के कारण स्पर्श नहीं होता। इसी का नाम एकाग्रता है। इसमें चित्त का समाधान हो जाता है, इसलिए यह पदार्थ का यथार्थ स्वभाव जान सकती है। इस प्रकार प्रज्ञा उत्पन्न होती है और उससे तृष्णा-क्षय होता है। बौद्ध लोग स्पष्ट रूप से कहते हैं कि रूपध्यान का नाम शपथ है। इससे चित्त शुद्ध, शक्ति-और तीक्ष्ण होता है, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान जो कुछ इस चित्त में भासित होते हैं; उनका अनित्य, दुःखमय और शून्यरूप में दर्शन करना उचित है। यही विशुद्ध ज्ञान है। तदनन्तर उससे चित्त को लौटा कर निर्वाण की ओर लगाना पड़ता है। इतना प्रयत्न कर सकने पर वास्तविक शान्ति क्या है, उसका स्वरूप पहिचान में आ सकता है। किन्तु इस शान्तावस्था की ओर भी तृष्णा उत्पन्न होने पर निर्वाणरूप आलम्बन का ग्रहण नहीं होता। उस समय इस तृष्णा के कारण केवल रूपलोकों में अर्थात् ऊँचे-ऊँचे देवलोकों में दिव्य जन्म प्राप्ति होती है। इसलिए रसास्वाद सर्वथा वर्जनीय है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

अब हम माँ की वाणी का तात्पर्य कुछ-कुछ समझ सकेंगे। उन्होंने साफ ही कहा है कि ध्यान दर्शन वास्तविक दर्शन नहीं है, वह आभासमात्र या स्पर्शमात्र है। जिस साधक को ध्यानज दर्शन होता है उसमें अंश है, किन्तु ब्रह्म में

अंश नहीं है । साधक में आंशिक भाव है, इसलिए उसका दर्शन भी आंशिक कहा गया है । वस्तुतः ब्रह्म निरंश, अखण्ड है उनका दर्शन भी अखण्ड है—उनमें आंशिकता नहीं है । वे पूर्ण हैं । पूर्ण का दर्शन भी पूर्ण है । उसी का नाम स्थिति है । अतएव स्थिति दर्शन है, दर्शन स्थिति है । ब्रह्म का आंशिक दर्शन नहीं होता, इसलिए साधक को अपूर्ण अवस्था में जो दर्शन प्राप्त होते हैं वे वास्तविक दर्शन नहीं हैं, इसलिए वे आभास हैं । ध्यान में वही उपलब्ध होता है । उसके द्वारा जीवन का परिवर्तन नहीं होता, स्थिति भी नहीं होती । वास्तविक दर्शन होने पर अपने ब्रह्मस्वरूप में स्थिति-लाभ होता है ।

२—ब्रह्म की निरंशता

ब्रह्म निरंश है—उसमें अंश नहीं है । साधक में आंशिक भाव है, इसलिए उसका ब्रह्मदर्शन आंशिक दर्शन कहाता है । वास्तव में ब्रह्म का आंशिक दर्शन नहीं होता । वस्तु पूर्ण है, उसका दर्शन भी पूर्ण है, वही स्थिति है । जब तक स्थिति नहीं होती तब तक अंशांशिभाव माना जाता है । माँ कहती हैं, "यदि अंश मानो तो अंश कह सकते हो, किन्तु ब्रह्म में क्या अंश है ? तुममें आंशिकभाव है, इसलिए स्पर्श होता है । किन्तु वे पूर्ण—जो हैं वही ।" जब तक मन रहता है तभी तक मानने और न मानने का प्रश्न उठता है; तभी तक अंश की कल्पना भी की जा सकती है । किन्तु मन के अगोचर अखण्ड स्वरूप में अंश मानने न मानने का प्रश्न ही नहीं, जो पूर्ण है, वही स्वभाव है, वही स्थिति है । जहाँ मन का अस्तित्व नहीं है, शक्ति नहीं है, अर्थात् उससे पृथक् कुछ भी नहीं है, किन्तु अपृथक् रूप से सब कुछ है । वस्तुतः रहने न रहने का, अथवा पृथक् अपृथक् का, कोई प्रसंग ही नहीं है । इसीलिए वहाँ स्पर्श नहीं है । वही वास्तविक निर्विकल्प समाधान है । वास्तविक दर्शन उस महासत्य के स्वप्रकाश का प्रकाशमात्र है । हिन्दू धर्म के वैदिक और तान्त्रिक दर्शनों ने; ईसाई धर्म में, सूफ़ियों में, 'मिस्टिक' आदि में सर्वत्र ही ये दो दृष्टियाँ प्रचलित हैं । समन्वय-स्थल में कहा जाता है कि अधिकार-भेद से दोनों ही सत्य हैं । बौद्धों ने भी प्रकारान्तर से इस विभाग को स्वीकार किया है । हाँ, यह अवश्य ही कहना होगा कि सम्पूर्ण कल्पनाओं की निवृत्ति ही सत्य प्रतिष्ठा का सम्यक् निदर्शन है । वही स्वरूप-प्राप्ति है ।

संसार अनेक प्रकार का है—द्वैत संसार पशु का है, अद्वैत संसार शिव का है । अविद्याजनित भेदका उन्मीलन ही द्वैत संसार है । विद्या रूप से अभेद-ग्रहण पूर्वक अद्वैत संसार का आविर्भाव होता है । एक ही समय में अविद्या और विद्या

का उन्मेष रहने पर जिसे भेदाभेद की स्फूर्ति होती है—वह परम शिव का संसार है। कहना न होगा कि उसे भी एक प्रकार का संसार ही मानना होगा। इसके अनन्तर की जो व्यवस्था है वह संसाररूपी कलंक से असंस्पृष्ट है—शुद्ध अन्तर्मुख विश्राम ही इस अवस्था का स्वरूप है। इस अवस्था का पारिभाषिक नाम बिन्दु है। कुछ लोग इसी का अनुत्तर धाम के नाम से वर्णन करते हैं। वास्तव में यही महाविश्रान्तिपद है। इस अवस्था में संसार का अस्तित्व न रहने पर भी उक्त तीनों प्रकार के संसारों का अनुसन्धान थोड़ा बहुत रह जाता है। इसलिए इससे परे भी एक अवस्था है, ऐसा अंगीकार करना पड़ता है। इसका नाम पर-व्योम अथवा निष्फल महाबिन्दु है। चार आम्नायों का अतिक्रमण कर पाँचवें आम्नाय में उसमें स्थिति होती है। सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत, तुरीय तथा तुरीयातीत—इन पाँच अवस्थाओं में भेद-संसार, अभेदसंसार, मिश्रसंसार, संसार-विश्रान्ति, और सर्वातीत महाबिन्दु अवस्थाएँ अन्तर्गत हैं। ठीक उसी प्रकार पूर्वोक्त भेद-संसार आदि पाँच अवस्थाओं में सुषुप्ति आदि पाँच दशाएँ अन्तर्गत हैं, यह जानना चाहिए। इन पाँच अवस्थाओं को लेकर जो व्यापक अखण्ड स्वरूप विराजमान है, उसी का नाम पूर्णत्व है। 'मातृका चक्रविवेक' की टीका में पंचम स्वरूप का परम व्योम के नाम से उल्लेख किया गया है। 'वातुलसिद्धपद्धति' की टीका में उसे "परम आकाश" कहा गया है। निष्कर्ष यह कि पूर्णत्व में सबका समावेश है, यह समझना चाहिए।

३—स्वरूप-ज्ञान और क्रम

माँ ने कहा है कि स्वरूपज्ञान में क्रम और नानात्व नहीं है। क्रम कालगत धर्म है, नानात्व प्रधान रूप से देशगत धर्म है। स्वरूपज्ञान में केवल मात्र एक भाव विद्यमान रहता है, उसमें पर-पर भाव नहीं है। इसलिए वहाँ पर त्रिकाल-भेद नहीं है। वह नित्यवर्तमान और स्वयंप्रकाश है। नानात्व नहीं है कहने से समझना होगा कि जो कुछ भी अनन्त वैचित्र्य है वह सभी कुछ वहाँ पर एक में पर्यवसित है। सब कुछ मानों एक के ही नानारूप में हैं। इसलिए वास्तव में वहाँ नाना रूपों में या पृथक्-पृथक् कुछ भी नहीं रहता। वहाँ अनन्तरूप में एक ही विराजमान रहते हैं। वास्तव में नानात्व न होने से अर्थात् नानात्व का भान न होने से उसे 'एक' भी नहीं कहा जाता। केवल 'है' ऐसा कह सकते हैं। किन्तु गहराई से विचार करने पर है या 'नहीं 'है', कुछ भी नहीं कह सकते। लौकिक भाषा में सत् या असत् रूप में जिसकी प्रतीति होती है। उससे वह परे है। वही

निर्विकल्प परमपद है। उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में कहा है, "यत्र अद्वैत-मपि न विकल्प्यते" इत्यादि। वहाँ पर चरम वेदान्त का उपसंहार होता है। यही पूर्णत्व है।

पातंजल योगदर्शन के आचार्य कहते हैं कि विवेकजज्ञान ही परिपूर्ण ज्ञान है। यह एक ही क्षण में बिना क्रम के भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब विषयों का अवलम्बन कर प्रकाशित होता है। इस महाज्ञान में सभी कुछ प्रतिभासमान होता है। इस ज्ञान में क्रम नहीं रहता। यह किसी दूसरे उपदेशक पुरुष के उपदेश से उत्पन्न नहीं होता, अपनी प्रतिभा से अपने आप ही उत्पन्न होता है। एकमात्र यही ज्ञान संसारसागर से पार उतारता है, इसलिए यह तारक ज्ञान कहा जाता है। वास्तव में इस विशुद्ध ज्ञान को कोई किसी को दे नहीं सकता। यह शास्त्र-वचन या गुरुवाक्य की भी अपेक्षा नहीं रखता। श्री वेदव्यास जी ने कहा है कि एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, यों परस्पर बहुत से क्षणों की समष्टि ही क्रम शब्द से प्रतीत होती है। जहाँ पर केवल वर्तमान ही क्षण है वहाँ पर वस्तुतः पर-पर बहुत क्षणों की सम्भावना ही कहाँ है? वास्तव में क्षणों की समष्टि के न होने पर भी बहिर्मुख मनुष्यों की बुद्धि में उसकी प्रतीति का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए योगी के मत में काल वास्तविक पदार्थ नहीं है, केवल बौद्ध पदार्थ मात्र है। काल के ज्ञान से ही क्रम का प्रकाश होता है। वही व्यावहारिक जगत् का ज्ञान है। क्षण का ज्ञान अपरिच्छिन्न सर्वविषयक ज्ञान है, उसमें क्रम रह नहीं सकता है। काश्मीरी शैव आगम में भी इस क्रम-शून्य प्रतिभा का उल्लेख है, "या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रममापिता। अक्र-मानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥" अभिनवगुप्त ने कहा है, पदार्थ का क्रम देश और काल के विचित्र सन्निवेश से पैदा होता है। भगवान् की स्वतन्त्रतारूप देशशक्ति और कालशक्ति से उसकी कल्पना होती है। दर्पण जैसे प्रतिबिम्ब से रंग जाता है वैसे ही स्वच्छ प्रतिमा भी इस क्रम द्वारा रंजित सी प्रतीत होती है। किन्तु वास्तव में स्वप्रकाश रूप प्रतिमा में क्रम नहीं है। वह सदैव अन्तर्मुख रहती है, इसलिए उसमें भेद नहीं रहता, एवं वह चित्तस्वरूप है। जिसको हम लोग प्रमाण कहते हैं, वह केवल बहिर्मुख प्रकाशरूपी विज्ञानमात्र है। प्रतिमा स्वप्रकाश होने से प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती अर्थात् वह प्रमाण के अधीन नहीं है।

'त्रिपुरारहस्य' के ज्ञानखण्ड में भी प्रतिभा की आलोचना की गयी है। यही

पूर्णतारूप महाशक्ति श्रीमाता का परमरूप है—उसमें सम्पूर्ण जगत् दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के तुल्य उत्पन्न, अवस्थित और लीन रूप में विद्यमान है। अज्ञानी की दृष्टि में वह जगत् के रूप में भासता है और योगी की दृष्टि में निर्विकल्प आत्मस्वरूप में भासता है। उसमें दृश्य द्वैतभाव नहीं रहता। देह आदि दृश्य का आभास-मात्र भी चित्स्वरूप आत्मा में नहीं रहता। उसमें एकमात्र 'अहम्' अखण्ड और अद्वय द्रष्टा के रूप में विराजमान रहता है। वह क्रम-शून्य महाज्ञान है।

बुद्धदेव को जिस समय सम्यक्संबोधि की प्राप्ति हुई थी उस समय उन्हें यही क्रमशून्य महाज्ञान प्राप्त हुआ था। थोड़ा-थोड़ा करके खण्ड-खण्ड रूप में इस ज्ञान का आविर्भाव नहीं होता। जिस समय प्रकाश होता है, उस समय एक साथ अखण्ड पूर्ण ज्ञान का ही प्रकाश होता है। जैनियों के आगम में भी इस क्रमशून्य केवलज्ञान का तथा केवल दर्शन का विस्तार से उल्लेख है।

इसलिए माँ ने, स्वरूप ज्ञान में क्रम नहीं है, यह जो कहा है, उसको सहज में ही समझा जा सकता है। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है—जब तक मन रहता है, तब तक अनन्त अनुभूतियाँ रहती हैं। ध्यानादि अवस्थाओं में अपने-अपने अधिकार के अनुसार हृदय-दर्पण में वही प्रस्फुटित होकर बाहर प्रकट होता है। इस प्रकाश में क्रम है, क्योंकि इसके मूल में मन का व्यापार है। किन्तु स्वयं प्रकाश अवस्था में वह नहीं रहता।

'शैवपरमार्थसार' में लिखा है, भगवान् की अनुग्रहशक्ति का अत्यन्त तीव्र वेग से संचार होने पर अर्थात् पशु वा जीव के हृदयकमल में उस शक्ति के अवतीर्ण होने पर सद्गुरु के श्रीमुख से परमार्थ मार्ग की प्राप्ति के साथ ही साथ शिवत्व लाभ हो जाता है। उस समय कोई विघ्न बाधा नहीं रहती। श्री कुलतन्त्र ने लिखा है :

हेलया क्रीडया वापि चादराद्वापि तत्त्ववित् ।
यस्य स पातयेद् दृष्टि स मुक्तस्तात्क्षणात् प्रिये ।।

अनुग्रह-शक्ति जब हृदय को विद्ध करती है तब महाज्ञान का रहस्य एकाएक अर्थात् क्रम के बिना ही हृदय को आक्रान्त कर लेता है, जिसके प्रभाव से साधक को क्षण भर में परमेश्वर भाव प्राप्त हो जाता है।

४—मनोनाश और देह में अवस्थान

माँ कहती हैं; मन का नाश होने पर भी शरीर रह सकता है। देह तो ज्ञान का बाधक नहीं है। जगद्गुरु अथवा जीवन्मुक्त पुरुष देह में रहते हुए ही उपदेश देते हैं। उनका मन नहीं है। त्रिपुटी नहीं है, इसीलिए वे ज्ञान प्रदान कर जीव का उद्धार कर सकते हैं। और ऐसा स्थान भी है, जहाँ पर देह के रहने और न रहने का प्रश्न ही नहीं उठता।

'तत्त्वशुद्धिकार' आचार्य ज्ञानघन ने कहा है कि ब्रह्मभाव का साक्षात्कार हुए बिना कोई विद्यागुरु नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म अपरोक्ष और एकरस है। उसका परोक्ष ज्ञान भ्रम मात्र है। भ्रान्त पुरुष तत्त्वज्ञान का उपदेश नहीं दे सकता। उपासना द्वारा सोपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार करके ब्रह्मविद्या के उपदेशक गुरु के आसन पर बैठा नहीं जा सकता। शब्द प्रमाण से उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही आचार्य गुरु के स्थल पर अधिकार किया जा सकता है। प्रमाण के द्वारा वस्तु-तत्त्व का साक्षात्कार करने पर उसमें फिर अज्ञान नहीं रह सकता। यद्यपि अज्ञान जल जाता है, तथापि कुछ काल तक वह जले हुए वस्त्र की तरह, बन्ध की तरह प्रतीत होता है। अविद्या और उसके कार्य जल जाने पर कार्य-कारण जला ही दिखाई देता है, आत्मरूप में उसका दर्शन नहीं होता। इसलिए अविद्याजन्य जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन अवस्थाओं से ज्ञान का सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए जो विद्वान् और मुक्त हैं; एकमात्र वे ही आचार्य हो सकते हैं। यद्यपि उन्हें जीवन्मुक्त कहा जाता है, तथापि वे जीव नहीं हैं यह निश्चित है। 'जीव' शब्द यहाँ पर 'जले हुए वस्त्र' (दग्धपट) के तुल्य प्रयुक्त हुआ है, यह समझना चाहिए।

५—जीवन्मुक्ति और मन की संस्कारशेषता

कुछ लोग कहते हैं कि जीवन्मुक्तों का भी पूर्णरूप से मनोनाश नहीं होता। जब तक शरीर रहता है तब तक मन का कुछ 'अंश' (संस्कार) उसके साथ लगा ही रहता है। इनका मत है कि यदि मन न रहता तो देह टिक ही नहीं सकता, देहपात हो जाता। शास्त्रों में यह 'अविद्यालेश' से सम्बद्ध प्रश्न है। इस अविद्यालेश को ही माँ ने प्रकारान्तर से मन का 'अंश' कहा है। माँ कहती हैं कि मन का संस्कार किसी अवस्था में रहता है यह बात सत्य है, किन्तु ऐसी भी अवस्था है जहाँ वह नहीं रहता, अथवा उसके रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। तीव्र ज्ञान से मन का संस्कार भी जल जाता है।

इसके सम्बन्ध में वेदान्त के आचार्यों में भी विविध प्रकार की उक्तियाँ दृष्टि-गोचर होती हैं। आचार्य शंकर के मत में जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध रहता है। जीवन्मुक्ति सिद्धावस्था है, साधनावस्था नहीं है। क्योंकि ज्ञानपूर्ण हो जानेके कारण वह अवस्था साधकावस्था नहीं कही जा सकती। आचार्य ज्ञानघन कहते हैं कि वेग का जब तक क्षय नहीं होता तब तक प्रारब्ध कर्म रहता है। संस्कारवश अथवा अज्ञान के लेश से देह, इन्द्रिय आदि का प्रतिभास होता है। मण्डन मिश्र शंकर-मत स्वीकार नहीं करते। साधारणतः कहा जाता है कि शर अथवा बाण के एक बार हाथ से छूटने पर फिर वह रोका नहीं जा सकता। किन्तु बाण छोड़ने के पहले यदि आवश्यकता हो तो उसे निरुद्ध रखा जा सकता है। प्रारब्ध कर्म हाथ से छोड़े गये बाण के सदृश हैं। एकमात्र भोग के सिवा उन्हें निःशेष करने का और कोई उपाय नहीं है। मण्डन कहते हैं कि हाथ से छोड़ा गया बाण भी रोका जा सकता है। यदि बीच में दीवार खड़ी कर दी जाए अथवा उसे रोकने-वाले दूसरे बाण का प्रयोग किया जाए। उनके मत में स्थितप्रज्ञ पुरुष साधक-कोटि के अन्तर्गत है, वह सिद्ध-श्रेणी में नहीं गिना जा सकता। जीवन्मुक्त की शरीर छूटते ही सद्यो-मुक्ति होती है; उससे पहले नहीं होती। इसलिए मृत्यु-पर्यन्त अविद्या का संस्कार बना रहता है। ऐसा होने पर भी उसमें भोग और बन्धन नहीं रहता। प्रारब्ध कर्म अपना फल देते हैं, सत्यज्ञान का नाश नहीं करते। ज्ञान हो जाने पर संचित और अनागत कर्मों का नाश हो जाता है और मुक्ति होती है। प्रारब्ध कर्मों के रहने पर भी कोई क्षति नहीं होती। सर्वज्ञात्म मुनि कहते हैं कि वास्तव में जीवन्मुक्ति नाम की कोई अवस्था नहीं है। वह अर्थवाद-मात्र है। साधक की उत्साहवृद्धि के लिए जीवन्मुक्ति का उपदेश दिया गया है। वेदान्तपरिभाषाकार के मत में जीवन्मुक्ति मुक्ति ही नहीं है। क्योंकि मुक्ति की हेतु विद्या वहाँ पूर्णतया नहीं है। साधनों की समाप्ति हो चुकी है और मुक्ति आसन्न है, इसलिए इस अवस्था का मुक्तिपद से व्यवहार किया जाता है। वेदान्तियों में से किन्हीं-किन्हीं का ऐसा भी मत है कि जीवन्मुक्ति में कोई कर्म नहीं रहता, यहाँ तक कि प्रारब्ध कर्म भी नहीं रहते। जीवन्मुक्ति सिद्धावस्था है। यदि उसमें कर्म रहता तो वह साधन अवस्था समझी जा सकती।

६—स्वीकार और अस्वीकार के पार जाना

माँ कहती हैं कि ध्यान, धारणा आदि को मानने की आवश्यकता होती है, स्वीकार अस्वीकार है इसलिए। कोई कुछ मानता है, कुछ नहीं मानता। दूसरा कोई

उसी के सदृश दूसरा कुछ मानता है, किन्तु वह भी कुछ दूसरो बात नहीं मानता। यह मानना न मानना पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण हैं, इस कारण ध्यान, धारणा आदि की आवश्यकता के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है। जिसकी जिस प्रकार की प्रकृति, संस्कार, रुचि, शिक्षा, योग्यता आदि हैं—वह उसी तरह से सत्य का अंगीकार करता है, उससे विपरीत प्रकार से स्वीकार नहीं करता। क्योंकि उसका तो व्यापक दृष्टिकोण नहीं है। इन सब लोगों का दृष्टिकोण भी सीमित है और विश्वास भी सीमित है। यही अधिकार-भेद का मूल कारण है। इसकी एकमात्र है सब जगह मन का प्रभाव। जब तक मन है तब तक यह घेरा (सीमितता) अनिवार्य है। किन्तु साधना का वास्तविक उद्देश्य इस घेरे के बन्धन को तोड़कर निर्मल सत्य के मुक्त आकाश में विचरण करना अथवा स्थिति-लाभ करना है, सभी सधकों का यही चरम लक्ष्य है। वहाँ पर फिर स्वीकार करने या स्वीकार न करने का प्रश्न नहीं उठता। पूर्ण सत्य स्वयंप्रकाश रूप में प्रतिभात होता है। माँ की भाषा में इसी का नाम स्वीकार और अस्वीकार के पार जाना है।

७—स्वरूप में स्थित पुरुष का अभिनय कैसा होता है ?

कुछ लोग सोचते हैं कि आत्मज्ञान होने से स्थिति-लाभ होने पर मन के साथ संबंध नहीं रहता। इसलिए वहाँ व्यवहार नहीं होता। स्वरूपस्थ पुरुष को यदि व्यवहार-भूमि में आना हो तो जरा नीचे उतरना पड़ता है अर्थात् स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर भी उस समय मन की सहायता से आवश्यकतानुसार या इच्छानुसार भाव ग्रहण करके व्यवहार करना पड़ता है। माँ कहती हैं कि आत्मस्वरूप में स्थिति होने के अनन्तर उतरने-चढ़ने का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि आत्मा या ब्रह्म एक और अद्वितीय है। उस समय एकमात्र अपने साथ ही अपना खेल चलता है। दूसरा कोई नहीं रहता, इसलिए व्यवहार नहीं रहता। ऐसी भी अवस्था है जहाँ मन रहता, अर्थात् दूसरे का अस्तित्व रहता है। आत्मा उसकी सन्निधि का त्याग कर समाधिस्थ होता है; पीछे समाधि से व्युत्थित हो कर बहिर्मुख मन का सहारा लेकर जगत् को देखता है। किंतु यह वास्तविक स्थिति की बात नहीं है।

(७—क) संशय और आलोचना

दो अवस्थाएँ हैं—एक सन्देहयुक्त और दूसरी सन्देहशून्य। दूसरी अवस्था में शंका भी नहीं होती और समाधान भी नहीं होता। प्रथम अवस्था में दृष्टि में परदा होने के कारण संदेह उठते हैं। संदेहों को लेकर ही आलोचना की जाती है। एवं आलोचना करते-करते सहसा परदा हट जाता है। उस समय वास्तविक

दृष्टि खुल जाती है। यही ज्ञानदृष्टि है। इसके द्वारा सन्देहों की निवृत्ति होती है। यह वास्तव में दृष्टि नहीं है, क्योंकि उस समय दृश्य और दृष्टि तब द्रष्टा से पृथक् नहीं रहते। फिर भी यह दृष्टि कही जाती है। इसीलिए माँ ने इसका नाम रखा है 'दृष्टिहीन दृष्टि'। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है, 'इस अवस्था में पृथक् दृष्टि का स्थान कहाँ है।' सन्देहकर्ता अवश्य ही पृथक् दृष्टि का अवलम्बन करके ही प्रश्न करेगा। यह स्वाभाविक है और इसकी सार्थकता भी है। किन्तु जो उत्तर दे रहे हैं वे जिस स्थान से उत्तर दे रहे हैं वहाँ पर पृथक् दृष्टि का अस्तित्व ही नहीं है। अज्ञानदृष्टि में दृष्टि के साथ पृथक् रूप से सृष्टि प्रतीत होती है। क्योंकि उस समय ज्ञान और ज्ञेय पृथक्-पृथक् हैं। ज्ञानदृष्टि में दृष्टि और सृष्टि के अभिन्न होने के कारण पृथक् कुछ नहीं रहता। ज्ञान और ज्ञेय उस समय अभिन्न हो जाते हैं। इसी का नाम संशयहीन अवस्था है, जिसका शास्त्र में हृदयग्रन्थि-भेद के नाम से वर्णन किया गया है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

तथापि इस प्रश्नोत्तर-रूप आलोचना की उपयोगिता है। एक न एक दिन इसके प्रभाव से ज्ञान-दृष्टि का आवरण हट जा सकता है।

यह जो ज्ञान और ज्ञेय की अभिन्नता की बात कही गयी है यही 'कास्मिक सेन्स' अथवा ज्ञान-दृष्टि की प्राणस्वरूप है। एडवर्ड कारपेन्टर ने कहा है—The perception Seems to be one in which all the senses unite into one sense in which you become the object. अर्थात् उस समय विभिन्न ज्ञान-धाराएँ मिल कर एक ज्ञानशक्ति के रूप में परिणत हो जाती हैं एवं ज्ञाता और ज्ञेय भी उनके साथ सम्मिलित हो कर प्रकाशित होता है। उस समय ज्ञाता स्वयं ही ज्ञेय हो जाता है—ज्ञेय फिर पृथक् नहीं रहता। पतंजलि ने 'अर्थमात्रनिर्भास' कह कर इस तत्त्व को समझाने की चेष्टा की है। श्री अरविन्द का 'नालेज बाई आइडेंटटी' कुछ हद तक अद्वैत-ज्ञान को ही सूचित करता है।

८—मौन तत्त्व

मन की गति दोनों ओर होती है—बहिर्मुखता में विषयों की ओर, अन्तर्मुखता में भगवान् की ओर। यदि साधक मन को भगवान् की ओर अग्रसर करने

के लिए प्रवृत्त हो जाए तो उस अवस्था में मौनालम्बन या वाक्-संयम उसे इस कार्य में सहायता प्रदान करता है। वाक्-संयम करने के साथ ही साथ मन की क्रिया रुक नहीं जाती । पहले पहल तो क्रिया रहती है—उस समय बोलने की प्रवृत्ति भी रहती है। किन्तु अभ्यास करते-करते क्रमशः मन की गम्भीरता-प्राप्ति के साथ ही साथ उसकी क्रियोन्मुखता शिथिल हो जाती है। उस समय स्वभावतः ही बोलने की इच्छा नहीं होती है। इसके बाद मन की क्रिया बिलकुल ही नहीं रहती। उस समय भगवान् के प्रति सब विषयों में एक निर्भर भाव का उदय होता है। इसी का नाम चिन्ताहीन अवस्था है। गीता में भी श्रीभगवान् ने 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' यही उपदेश दिया है, अर्थात् मन को आत्मा में स्थित करके चिन्ता का त्याग करना चाहिए। मन को भगवान् में संलग्न करने पर उसके प्रभाव से मन पवित्र होता है तथा जाग उठता है एवं साथ ही साथ देह भी पवित्र होता है। विषयचिन्तन से जिस प्रकार शक्ति का क्षय होता है, उसी प्रकार भगवच्चिन्तन से शक्ति का उपचय होता है। वाक्-संयम करके विषयों का चिन्तन करना उचित नहीं है। ऐसी दशा में मौन धारण से बोलना अच्छा है। बलपूर्वक वाक्-संयम करने पर विषय-चिन्तन होने से वह इन्द्रियों पर आघात पहुँचा कर रोग उत्पन्न कर सकता है। मन की गति यदि सचमुच ही अन्तर्मुखी हो जाए तो भगवच्चिन्तन का प्रवाह खुल जाता है। उस समय बोलने की आवश्यकता ही नहीं रहती और इच्छा भी नहीं होती। इससे भी आगे की अवस्था में अनावश्यकता-आवश्यकता का ज्ञान भी नहीं रहता।

मौन से विघ्नों का नाश होता है, योग की वृद्धि होती है एवं साधक का योगक्षेम सिद्ध होता है, अर्थात् उसे जब जिस वस्तु की आवश्यकता होती है वह अपने आप आ जाती है। उसके लिए अन्य और मन दौड़ाने की आवश्यकता नहीं रहती। इसके अनन्तर मन का रहना, न रहना, अथवा बोलना, न बोलना सब-कुछ एक-सा हो जाता है,—दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता।

किन्तु मौन द्वारा भगवत्प्राप्ति नहीं की जा सकती। हाँ, उसके द्वारा अन्यान्य साधनों के समान अज्ञानावरण को दूर करने में सहायता मिल सकती है। ज्ञान स्वयंप्रकाश है, वह किसी के भी प्रभाव से उद्भूत नहीं होता। वह अपने स्वभाव से अपने आप ही आविर्भूत होता है। किसी-किसी को मौन-साधना से शरीर में स्थिरता प्राप्त होती है। किन्तु वह मौनधारण का वास्तविक फल नहीं है। मन

में परिवर्तन न होने तक कोई भी फल प्रकृत सिद्धि के रूप में नहीं गिना जा सकता। फिर भी यह बिलकुल व्यर्थ नहीं जाता। जगत् का कोई भी कर्म व्यर्थ नहीं है।

योगवासिष्ठ रामायण में पाँच प्रकार के मौनों का पता लगता है। उन सब मौनों के नाम हैं—१-वाचिक मौन अर्थात् वचन न बोलना, २-समाधि मौन अर्थात् नेत्र बन्द रखना और कुछ भी न देखना, ३-काष्ठ मौन अर्थात् बलात् मन और इन्द्रियों को अपने वश में लाना। वे तीन प्रकार के मौन तपस्वियों के लिए जानने चाहिए। ४-सुषुप्त मौन अर्थात् जिस अवस्था में वाणी और इन्द्रियाँ अपना-अपना निर्दिष्ट कार्य किये जाती हैं और आत्मा से किसी भी पदार्थ का भेद-ज्ञान नहीं रहता और ५-आत्मा में जागृति हो जाती है। वही श्रेष्ठ मौन है। जिस दर्शन से आत्मा में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कुछ भी प्रतीत नहीं होते, वही तुरीयातीत अवस्था है। वही मौन का परम आदर्श है। चतुर्थ तथा पंचम ये दो प्रकार के मौन ज्ञानी के होते हैं। माँ के उपदिष्ट वाक्य के साथ वासिष्ठ रामायण में उपदिष्ट मौन तत्त्व का मिलान करके आलोचना करने पर मौन का वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह जाना जा सकता है।



दो

१–हठ–योग

शास्त्र में बहुत प्रकार की यौगिक प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। हठयोग उन विभिन्न प्रणालियों में एक विशिष्ट प्रणाली है। साधारणतः राजयोग और हठयोग इन दो प्रकार की योगसाधनाओं में हठयोग को राजयोग का सोपान कहा जाता है। चित्त की वृत्ति का उपशम अर्थात् उन्मनी अवस्था की प्राप्ति राजयोगसाधना का मुख्य लक्ष्य है। तद्रूप प्राण और प्राण से सम्बन्ध रखने वाली अन्यान्य वायुओं की गति का रोध हठयोग-साधना का प्रधान लक्ष्य है। मन और प्राण का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मन का निरोध होने पर उसके साथ-साथ प्राण का भी निरोध हो जाता है। और यह भी सत्य है कि यदि प्राण का निरोध किया जा सके तो उसी प्रयत्न से मनोवृत्ति अपने आप निरुद्ध हो जाती है। निष्कर्ष यह कि प्राण और मन दोनों में से चाहे जिस किसी का अवलम्बन कर निरोध-क्रिया सम्पन्न क्यों न हो, उसी से प्राण और मन दोनों का उपशम हो जाता है।

किन्तु साधकों का आधारगत भेद अवश्य ही मानना पड़ेगा। इसलिए उन दोनों प्रणालियों का अन्तिम फल एक होने पर भी सब अधिकारियों के लिए दोनों प्रणालियाँ समानरूप से उपयोगी नहीं हो सकती हैं। जो साधक अपेक्षाकृत स्थूल है, उसके लिए प्राण और उससे सम्बन्ध रखने वाले क्रिया-कौशलों के बिना मन का निरोध करना सहज नहीं होता है। किन्तु जो साधक पूर्वजन्म की साधनाओं से अथवा स्वाभाविक उत्कर्ष से कुछ उच्च भूमि पर स्थित है, उसको मन की वृत्ति का उपशम करने के लिए निम्न भूमि के क्रिया-कौशलों का अवलम्बन करने की आवश्यकता नहीं होती। जिन्हें देहतत्त्व का परिचय है, वे जानते हैं कि प्राणमय कोष अन्नमय कोष के अति सन्निकट है। मनोमय कोष प्राणमय कोष की अपेक्षा अन्नमय कोष से कुछ दूर है। इसलिए स्थूल देह में अभिमानशील जीव के लिए प्राण का अवलम्बन करके अथवा देहसंक्रान्त मुद्रादि का अवलम्बन करके साधन-मार्ग में अग्रसर होने की चेष्टा करना अपेक्षाकृत सरल है। स्थूल

देहाभिमानी जीव के लिए प्राथमिक अवस्था से ही मनोमय स्तर का अवलम्बन करना उतना सरल नहीं है। किन्तु पूर्वजन्म के कर्मों के व्यक्तिगत संस्कारवश तथा मानव प्रकृति की विभिन्नता के प्रभाववशतः अनेक साधकों के लिए प्राण के मनोमय स्तर की उपेक्षा करके मनोमय स्तर का अवलम्बन करके साधना करना सरल होता है।

जिसे प्रचलित भाषा में राजयोग कहते हैं शास्त्रीय परिभाषा में उसके नामान्तर अमनस्क, उन्मनी, अद्वैत, तुरीय, मनोन्मनी इत्यादि अनेक पाये जाते हैं (द्रष्टव्य हठयोग-प्रदीपिका ४।३-४)। आत्मा और मन का साम्य, प्राण और मन के क्षीण हो जाने से दोनों की समरसता एवं जीवात्मा और परमात्मा का समभाव ही समाधि है। यथार्थ में वही राजयोग है।

हठयोग की उपयोगिता है या नहीं यह प्रश्न बहुत लोगों के मन में स्वभावतः उठता है। शास्त्रानुसार उसका उत्तर यह है—उपयोगिता है यह भी सत्य है और उपयोगिता नहीं है यह भी सत्य है। वास्तव में हठयोग कहने से विशेष प्रयत्न द्वारा अर्थात् बलपूर्वक जो योगसाधन किया जाता है उसी का बोध होता है। हठ शब्द से बल प्रयोग की प्रतीति होती है। अतएव जब साधक किसी विषय में विशेष परिश्रम करके उस विषय को अवगत करने अथवा स्वायत्त करने के लिए प्रवृत्त होता है तब एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि उसने हठयोग का अवलम्बन किया। पारिभाषिक अर्थ से हठयोग शब्द से जिसकी प्रतीति होती है उसका थोड़ा-सा आभास पहले दिया गया है। किन्तु साधारण दृष्टि से हठात् अथवा बलपूर्वक योगसाधन करना हठयोग कहलाता है। हठयोग की उपयोगिता है या नहीं यह यदि जानना हो तो कृत्रिम उपाय की सार्थकता है या नहीं यह जान लेना आवश्यक है। अकृत्रिम अथवा सहज उपाय स्वभाव की गति का अनुसरण करता है। परन्तु देह-सम्बन्धी, प्राणसम्बन्धी अथवा मनसम्बन्धी संस्कार या विकारों से जिसे उक्त स्वभाव की गति प्राप्त होना सम्भव नहीं है उसके लिए उसकी प्राप्ति के लिए कृत्रिम उपाय भी आवश्यक होता है। योग-भाष्यकार ने कहा है—"चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च।" अर्थात् चित्त में दो प्रवाह हैं—एक प्रवाह है बहिर्मुख, संसाराभिमुख, दुःखबन्ध के अभिमुख एवं दूसरा प्रवाह है—कैवल्यमुख, अन्तर्मुख और या निवृत्ति के अभिमुख। बहिर्मुख प्रवाह देहधारी बद्ध जीवों के लिए स्पष्टतः कार्य करता है, किन्तु

अन्तर्मुख प्रवाह उनमें भी फल्गु की धारा के समान गुप्त रूप से बहता है । संसार में आसक्त जीव यदि मुक्ति मार्ग में अग्रसर होना चाहे तो उसको उसी अन्तः-प्रवाह का अवलम्बन करना चाहिए । यदि उसका अवलम्बन न किया जा सके तो परमपद में पहुँचने की सम्भावना नहीं है । क्योंकि केवल वही प्रवाह परमार्थ तक पहुँचा सकता है । उक्त गुप्त प्रवाह का पता न पाने के कारण जीव स्वाभाविकरूप से अन्तर्मुक्त जीवन यापन करने का सुयोग नहीं पाते । महापुरुषों के देहधारी होने पर भी उनमें अन्तःप्रवाह पूर्णरूप से जाग्रत् रहता है और वे लोग उसी द्वारा संचालित होते हैं । उनकी बहिर्भाव में मन्दगति रहे तो उनमें भी मृदु भाव से बहिर्गति रहती है सही, परन्तु उसका बल अत्यन्त क्षीण रहता है । उन्हें अपने चित्त के अन्तःप्रवाह का भी पूर्ण पता रहता है । अन्य जीवों के भी अन्तः-प्रवाह की वे लोग खबर रखते हैं । अन्य साधकों को अन्तःप्रवाह में प्रवेश करने का उपदेश केवल वे लोग ही दे सकते हैं । उक्त उपदेश के अन्तर्गत कौशल के साथ कृत्रिम साधन भजन का उपदेश भी है ऐसा समझना चाहिए । इन सब कृत्रिम उपायों का अभ्यास साधक के प्रयत्न से होता है । ये प्रयत्न अनेक उपायों से होते हैं, किन्तु सभी कृत्रिम चेष्टा के अभिनय-मात्र हैं, लेकिन ये व्यर्थ नहीं हैं । इन सब कृत्रिम उपायों का अवलम्बन करते-करते गुरु द्वारा उपदिष्ट कौशल के प्रभाव से जीव या साधक स्वभाव की गति को प्राप्त होता है । तब फिर शास्त्र अथवा गुरु के उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती एवं अपने अन्तर से भी किसी विचार बुद्धि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती । स्वभाव की गति में पड़ने पर स्वभाव स्वयं ही साधक को समुचित रूप से संचालित करता है । किन्तु पूर्वोक्त कौशल की प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त होने पर भी उसका अनुसरण न कर सकने पर कृत्रिम उपाय कृत्रिम ही रह जाता है । वह स्वभाव की गति को प्राप्त नहीं हो सकता ।

कृत्रिम उपाय को माँ ने 'करने' का पथ कहा है तथा स्वभाव की गति को उन्होंने 'होने' का पथ कहा है । 'करने' का स्वाभाविक परिणाम 'होने' में ही है । करते-करते यदि 'होना' न हो सके तो 'करने' की सार्थकता नहीं रहती । इसलिए हठयोग या उसके सदृश अन्यान्य योग-साधन कृत्रिम होने पर भी व्यर्थ नहीं जाते, यदि उनसे स्वभाव की गति खुल जाये । किन्तु उसके न खुलने पर वे सब पशु-श्रममात्र ही हैं । यहाँ तक कि किसी-किसी अवस्था में उनसे लाभ के बदले हानि भी हो सकती है । क्योंकि जो कृत्रिम उपाय सत्ता की सहज गति

(स्वभाव की गति) को ग्रहण न कर सकें वे विकृत हुए बिना नहीं रह सकते। इससे ज्ञात होता है कि हठयोग की उपकारिता है यह भी ठीक है और यथार्थ-रूप से अनुष्ठित न होने पर उपकारिता नहीं है अपितु अपकारिता है, यह भी सत्य है। माँ ने कहा है, जो स्वभाव की गति है वही भगवदभिमुखी गति है एवं उस गति की प्राप्ति होने पर ही हठयोग का अभ्यास वास्तव में योगपदवाच्य हो सकता है। ऐसा न होने पर वह दैहिक व्यायाममात्र ही है। वह भोग के ही अन्तर्गत है, पहले जिस कौशल की बात कही गयी है वही पारसमणि है। उसके स्पर्श से कृत्रिम उपाय भी दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार सहित अनुष्ठित होने पर, अकृत्रिम जो स्वभाव की गति है उसे प्राप्त कर सकता है।

२–प्राण की गति

प्राण की गति अन्तर्मुखी या भगवन्मुखी और बहिर्मुखी या विषयोन्मुखी दोनों ही प्रकार की हो सकती है। भगवान् की ओर जब प्राण की गति होती है तब साधन-सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यापार प्रयत्न के बिना अपने आप ही सिद्ध हो जाते हैं। प्रयत्न के बिना ही प्राण-संयम स्वायत्त हो जाता है, प्रयत्न के बिना ही हृदयग्रन्थि तथा तत्सम्बन्धी अन्यान्य ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, प्रयत्न के बिना ही सुन्दर रीति से सांगोपांग आसनसिद्धि हो जाती है और मेरुदण्ड को सीधा रखकर कार्य करने में किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता। ये सब स्वाभाविक रूप से स्वायत्त हो जाते हैं। किन्तु जब प्राणों की गति बाहर की ओर दौड़ती है अथवा पूर्वसंस्कार-वशतः बहिर्मुखी होती है, उस समय यदि आभ्यन्तर व्यापार करना हो तो ऐसी स्थिति में प्रयत्न करना पड़ता है। क्योंकि गति विरुद्ध होने के कारण व्यक्तिगत पुरुषार्थ के बिना फल-लाभ की आशा केवल दुराशा ही है। किन्तु प्रयत्न करने पर भी सर्वदा कार्य समुचित रूप से सिद्ध नहीं होता। माँ ने क्रिया को साधा-रणतः सामान्य और विशेष इन दो श्रेणियों में विभक्त किया है। स्वभाव के वेग से जो क्रिया होती है, उसे माँ ने विशेष क्रिया कहा है और चेष्टा द्वारा जो क्रिया निष्पन्न होती है, माँ ने उसका नाम रखा है सामान्य क्रिया। देखा जाता है कि साधन-व्यापार में अधिकांश लोगों के मन और शरीर साधारणतः विरुद्ध रहते हैं। उपनिषद् में कहा गया है "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः" अर्थात् विधाता ने सम्पूर्ण इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। इस कारण अन्तर्मुख और बहिर्मुख— दोनों धाराओं में संघर्ष उत्पन्न होता है। मन भगवदभिमुख होना चाहे भी तो देह और इन्द्रियाँ उसे उस मार्ग में चलने नहीं देतीं। उसके गमन-मार्ग में बाधा उप-

स्थित करती हैं। उक्त बाधा को हटाने के लिए तीव्र प्रयत्न की आवश्यकता होती है, किन्तु उसके रहते भी माँ ने जिसे स्वाभाविक या विशेष क्रिया कहा है उसकी प्राप्ति सर्वदा नहीं होती। यदि देह मन के अनुकूल न रहे अर्थात् देह में मन के अनुकूल गति न हो भीतर गुप्त रूप से प्रबल विरोध रहने के कारण भगवद्रस प्रस्फुटित नहीं हो सकता। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने इस अन्तःसंघर्ष को Divided self कहा है। अतएव जब तक प्राण की गति अन्तर्मुख नहीं होती तब तक अध्यात्म साधना का फल समुचित रूप से प्राप्त नहीं होता।

'प्रयत्न करके कुछ करना' इससे प्रतीत होता है बलपूर्वक करना (हठ से करना) समझना होगा। वास्तव में 'करना' कहने से सर्वदा वही अर्थ निकलता है, अभ्यास का भी वही अर्थ है। करना और अभ्यास स्वभाव की गति के अन्तर्गत नहीं है। वह 'होना' की धारा से पृथक् है, यह मानना ही पड़ेगा। किन्तु उसकी भी सार्थकता है। क्योंकि करते-करते स्वभाव की गति प्राप्त होती है। जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक इसकी उपयोगिता प्रतीत नहीं होती। तबतक साधन नीरस-सा प्रतीत होता है। स्वभाव की धारा में यदि प्राण की गति संचालित हो जाए, तो उस गति के जहाँ रहने पर जो कुछ प्रकाश होना चाहिए वह उस समय अपने आप ही हो जाता है। करने के मार्ग में मन नहीं बदलता। किन्तु करते-करते स्वभाव की गति में पहुँचने पर मन का परिवर्तन अपने-आप हो जाता है। उस समय मन को अपना खाद्य प्राप्त हो जाता है, इसलिए उसे भगवदभिमुख गति मिल जाती है। किन्तु करने की धारा में जब तक मन भगवदभिमुख नहीं होता तब तक केवल शरीर के खाद्य का ही संग्रह होता है। इसलिए इसका फल होता है बाहरी व्यायाम और जगत् की ओर गति।

३–उपयुक्त शिक्षक या परम पद के डाक्टर

प्राण की गति की चर्चा पहले की जा चुकी है। शिक्षक योग्य है या अयोग्य यह बात इस पर निर्भर है कि वे शिष्य के प्राण की गति को पहचान कर उसे उपयुक्त दिशा की ओर ले जा सकते हैं या नहीं। उपयुक्त शिक्षक किसी एक ही निर्दिष्ट नियम का अनुसरण नहीं करते। जिसे चलाना हो उसकी योग्यता, रुचि, संस्कार आदि के अनुसार उसे चलाते हैं। इसलिए अवस्था के अनुसार आवश्यकता दिखाई देने पर वे उसे अग्रसर कर के चलाते हैं। कभी-कभी आवश्यकतानुसार उसे आगे बढ़ने से रोक कर पीछे खींच लेते हैं। दोनों ही प्रकार शिष्य के कल्याण के लिए हैं। वे भवनदी के पार कराने वाले हैं।

शिष्य की जीवनरूपी नौका के संचालक हैं। वे ही कर्णधार हैं। वे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसम्पन्न अन्तर्यामी हैं। वे शिष्य के कल्याण के लिए जब जिधर आवश्यक होता है तब उधर नौका घुमा ले जाते हैं। माँ ने कहा है 'गुरु परमपद के डाक्टर हैं।' उन्हें शिष्य के प्रत्येक स्थान के प्रत्येक व्यापार का प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है।

उनके स्वभाव का स्पर्श जब तक प्राप्त नहीं होता तब तक जीवन की गति अनुकूल नहीं होती। जब तक स्वभाव की गति प्राप्त नहीं होती तब तक केवल आयास और प्रयास दोनों ही रहते हैं; किन्तु स्वभाव की गति का आविर्भाव होने पर वह स्पर्शमात्र से खींच लेती है—कर्म की आवश्यकता नहीं रहती, योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, अधिकार-सम्पद् की आवश्यकता नहीं होती, किसी प्रकार के बल-वैभव की आवश्यकता नहीं होती। जो भी आवश्यक होता है उसे वह गति स्वयं कर लेती है और करा लेती है। किन्तु जब तक स्वभाव का स्पर्श नहीं होता तब तक प्रयत्न करना ही पड़ता है। इस चेष्टा में कुछ सूक्ष्म कौशल है अर्थात् अपनी इच्छा और अनिच्छा सभी उनकी सेवा में लगा देना होता है। सब लेकर ही उनकी साधना होती है। हाँ, स्वभाव की गति प्राप्त होने पर इसकी कोई सार्थकता नहीं रहती है। जप, ध्यान, नामस्मरण, कीर्तन, सन्ध्या आह्निक आदि सब कुछ उसी के अन्तर्गत है। चेष्टा की सार्थकता यही है कि समुचित रूप से तीव्र प्रयत्न किया जा सके तो स्वभाव की गति मिल सकती है। उस अवस्था में भी 'अहम्' रहता है, पर वह शुद्ध 'अहम्' है। क्योंकि वह भगवान् की ओर युक्त होने के लिए अनुकूल कार्य करता है। उसमें प्रतिष्ठा के लिए कोई स्थान नहीं है, यदि रहे तो वह 'अहम्' शुद्ध 'अहम्' न रह कर अहंकार रूप में परिणत हो जाए। वह हेय है।

४–निष्काम कर्मयोग

कर्म दो प्रकार से किये जा सकते हैं—फल की आकांक्षा से प्रेरित होकर अथवा तत्-ज्ञान से सेवा की इच्छा द्वारा प्रेरित होकर। प्रथम प्रकार का कर्म कर्मभोग है, क्योंकि उस स्तर में प्रतिष्ठा आदि कर्मफलों का कर्मकर्ता को भोग्य रूप से ग्रहण करना ही पड़ता है। क्योंकि कर्म करते समय कर्म करने वाले के मन में उनकी आकांक्षा विद्यमान थी। द्वितीय प्रकार का कर्म ही कर्मयोग है। उस स्तर में तत्-ज्ञान से सेवा-भाव द्वारा प्रेरणा होती है अर्थात् आप जो

कराना चाहे करा लें, यह शरीर आपका तन्त्र है, आप इसे जिस प्रकार चाहें चलाएँ। इस प्रकार से यदि कर्म हो तो वही कर्म मुक्ति की ओर खींच ले जाता है। क्योंकि वह कर्म युक्त होकर निष्पन्न हुआ है। उसमें शोक, ताप, दुःख आदि का अवकाश ही नहीं रहता। अथच वह कार्य पूर्णस्वरूप में ही अनुष्ठित होता है। उसके किसी अंश में भी त्रुटि नहीं रहती। गीता में श्रीभगवान् ने अर्जुन को 'योगस्थः कुरु कर्माणि' कह कर इस प्रकार का कर्म करने का उपदेश दिया था। इस कर्मानुष्ठान में एक-मात्र इस बात पर लक्ष्य रखना चाहिए कि अपनी शक्ति तथा ज्ञान के अनुसार कहीं पर कोई त्रुटि न आवे। यदि इस प्रकार का कर्म करना हो तो सर्वदा अपनी त्रुटि की ओर ही लक्ष्य रखना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार थोड़ा बहुत जितना भी त्रुटि हीन कर्म किया जा सके, उसे सम्पूर्णतः वे ग्रहण कर लेते हैं। वे उपेक्षा से किये गये कर्म का ग्रहण नहीं करते। सेवक में यदि भाव न रहे कि सेवा सुचारु रूप से सम्पन्न हो तो सेव्य या सेवापात्र की प्रसन्नता प्राप्त नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह भी है कि कर्म के फलाफल की ओर ध्यान न देकर सब कुछ उन्हीं के अर्पण कर देना चाहिए। देह, मन और प्राण को उनके अर्पण कर एकाग्र मन से उनकी सेवा करनी चाहिए। पश्चात् जो होने वाला है वह होगा ही और उसमें भी "आपने ही इस प्रकार अपने को प्रगट किया है" यह समझ कर अपने चित्त को प्रसन्न रखना चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ या सुख दुःख आदि की चिन्ता के साथ जैसे कर्मफल का सम्बन्ध न हो इस ओर लक्ष्य रखना आवश्यक है। क्योंकि फल की ओर दृष्टिपात करते ही कुछ न कुछ मालिन्य मन में आ ही जाता है।

५–भगवत्प्राप्ति की वासना वासना नहीं है

माँ ने कहा है, "भगवत्प्राप्ति की वासना की वासना में गिनती नहीं है" अर्थात् विशुद्ध वासना होने पर भी मुक्ति की कारण होने तथा आत्मस्वरूप में स्थिति की प्रयोजक होने के कारण वासना में गणनीय नहीं है। शास्त्रों में वासना के भेदों के सम्बन्ध में जो बहुत-सा ऊहापोह किया गया है उसके सारांश का विचार करने से प्रतीत होता है कि आचार्यों ने वासना का शुद्ध और मलिन इन दो श्रेणियों में विभाग किया है। मलिन वासना जन्म की हेतु है, किन्तु शुद्ध वासना जन्म की नाशक है। मलिन वासना गाढ अज्ञान और अहंकार से परिपुष्ट होती है। वह मायिक शरीर की अंकुर रूप है। उसी से अनन्त वैचित्र्यमय संसार-धारा आविर्भूत होती है। किन्तु शुद्धवासना पुनर्जन्म के अंकुररूप से प्रकट नहीं होती। वह भूने हुए बीज के

समान रहती है। भूना हुआ बीज आपाततः बीज-सा ही दिखाई देता है, परन्तु उसमें अंकुरोत्पादन शक्ति न रहने के कारण उसे वास्तविक बीज नहीं कहा जा सकता। शुद्ध वासना भी ठीक उसी प्रकार की है। देह-संरक्षण के लिए उसकी आवश्यकता पड़ती है। उससे संसार का विकास या चित्त की बहिर्मुख गति का प्रसार नहीं होता। शास्त्र में वह ज्ञातज्ञेय नाम से वर्णित है। अर्थात् परम ब्रह्म-रूप ज्ञेय तत्त्व की शुद्ध वासना के प्रभाव से यथासमय हृदय में स्वप्रकाश रूप से स्फूर्ति होती है। गीता में जो दैवी और आसुरी दो सम्पत्तियाँ कही गयी हैं उनमें से आसुरी सम्पत्ति मलिन वासना और दैवी सम्पत्ति शुद्ध वासना है, यह ध्यान रखना चाहिए। प्राक्तन बहुत जन्मों की वासना के कारण वर्तमान जन्म में अन्य के उपदेश के बिना ही अहंकार, ममकार एवं काम क्रोध आदि मलिन वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। उसी प्रकार विचार से प्रथम बोध के उत्पन्न होने पर भी दीर्घ-काल तक निरन्तर श्रद्धा से तत्त्वचिन्तन यदि किया जा सके, तो उसके फलस्वरूप वर्तमान जन्म में ही वाक्य और युक्ति-परामर्श के बिना भी तत्त्व का स्फुरण हो जाता है। उसी प्रकार के बोध की अनुवृत्ति के साथ तत्-तत् इन्द्रियों के व्यवहार को शुद्ध वासना कहा जाता है। देह और जीवन यात्रा की धारा का संरक्षण करना ही शुद्ध वासना का एक मात्र प्रयोजन है। उससे आसुरी सम्पत्ति की उत्पत्ति नहीं होती तथा जन्मान्तर के हेतुभूत धर्म-अधर्म भी आविर्भूत नहीं होते। जैसे जला हुआ बीज अन्नभोग तथा सस्यनिष्पादन रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता वैसे ही शुद्ध वासना में भी संसार की उत्पत्ति अथवा विस्तार करने की क्षमता नहीं है। मलिन वासना विविध प्रकार की है। लोकैषणा, शास्त्रैषणा आदि भी उसी के अन्तर्गत हैं। शास्त्र में 'चिन्मात्र वासना" के नाम से एक वासना का उल्लेख मिलता है—वह बुद्धि और मन से युक्त तथा बुद्धि और मन से मुक्त दोनों ही प्रकार की हो सकती है। जिस वासना में बुद्धि स्वयं कर्ता के रूप से रह कर मन को करण बना कर रखती है, उसी का नाम ध्यान है, किन्तु जिस वासना में बुद्धि का कर्तृत्व या मन का करणत्व कुछ भी न रहे, उसका नामान्तर समाधि है। ध्यान रूप वासना का त्याग करके समाधि रूप वासना के ग्रहण की शास्त्रों में चर्चा है। यदि यह दूसरे प्रकार की मन बुद्धि रहित चिन्मात्र वासना दीर्घकाल तक अनुस्यूत रहे तो सब प्रकार के यत्न अपने आप शिथिल हो जाते हैं। उसके पश्चात् त्याग का प्रयत्न भी अपने आप निवृत्त हो जाता है। उस समय शुद्ध वासना भी क्षीण हो जाती है। इसी अवस्था में

मन वासनाहीन होता है। यही मुक्ति है। देहावस्था में यदि यह प्राप्त हो तो इसका नाम जीवन्मुक्ति दिया जाता है। इसमें वासना न रहने पर भी चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापार रह सकते हैं। शास्त्रकारों ने उद्दालक का दृष्टान्त देकर यह विषय समझाया है। मन का व्यवहार भी रह सकता है। प्रयत्न के बिना ही स्वतः वस्तु में जो रागहीन बुद्धि का व्यापार होता है, उसे जीवन्मुक्त का मानस व्यवहार समझना चाहिए। मलिन और असद्वासना स्वाभाविक आसुर सम्पत्ति है। वह शास्त्रनिषिद्ध और दुर्वासना है। किन्तु शुद्ध वासना या सद्वासना शास्त्र-सम्मत और दैवी सम्पत्ति है। पुरुष के स्वप्रयत्न द्वारा जिस सद्वासना का आधान होता है उसके प्रभाव से मलिन वासना क्षीण हो जाती है। माँ ने जिसे भगवद्वासना कहा है वह शुद्ध वासना का ही नामान्तर है।

६—मन्त्र-द्रष्टा ऋषि

माँ ने कहा है, "जो लोग मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहे जाते हैं उनके स्तर पर स्थित होने पर अर्थात् तुम्हारी यह गति जब उनके केन्द्रस्थ हो जाए तब उनके समान वाणी निकलेगी। शास्त्रमतानुसार मन्त्र के साक्षात्कार को ऋषि का लक्षण कहा गया है—"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"। ज्ञान की परोक्ष और अपरोक्ष ये दो अवस्थाएँ हैं। ज्ञान और ज्ञेय इन दोनों पदार्थों के बीच जो प्रतिबन्धक है, वह जब तक हटाया नहीं जाता, तब तक ज्ञान अपने विषय को अपरोक्षानुभूति के रूप से ग्रहण नहीं कर सकता। किन्तु साधना के प्रभाव से अथवा भगवत्कृपा से उक्त प्रतिबन्ध यदि हट जाए तो ज्ञान अपरोक्ष रूप में परिणत हो जाता है। तब वह साक्षात्कार कहा जाता है। ज्ञान के ऊपर जो मूल आवरण अनादि काल से पड़ा हुआ है, वह जब तक विद्यमान रहेगा तब तक परोक्ष ज्ञान के ऊपर उठने का सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। अज्ञान या मूल आवरण के प्रभाव से हमारे देह, इन्द्रियाँ आदि तथा प्राण की गति धारा—सभी विकृत हो उठे हैं। साधना का उद्देश्य इन सब विकारों को हटा कर देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्वाभाविक गति को पुनः स्थापित करना है। स्वाभाविक गति प्रच्छन्न रूप से यहाँ पर भो न हो सो बात नहीं है। परन्तु उस प्रच्छन्न गति को प्रकट गति के रूप में प्रकाशित करना ही साधना का प्रकृष्ट परिणाम है। इसी का नाम स्वभाव की गति है। इस गति में आकृष्ट हो कर यदि इसी की धारा में संचरण किया जा सके तो ज्ञान के सम्पूर्ण आवरण निवृत्त हो जाते हैं। सारा विश्व उस समय हथेली पर रखे हुए विले के समान अपरोक्ष ज्ञान का विषय हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—

इस त्रिपुटी का भंग हो जाने पर एक अपरोक्ष महाज्ञान का आविर्भाव होता है। मन्त्र-साक्षात्कार इसी महाज्ञान का एक प्रकार का भेदमात्र है। यही ऋषि-अवस्था है। स्वभाव में स्थित होने पर जिस केन्द्र में जिस प्रकार का व्यापार होना आवश्यक है वह अपने आप हो जाता है, उसके लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। अज्ञान या आवरणावस्था में ही प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। उसी समय उपदेश की भी अपेक्षा रहती है।

७—अन्तर्गुरु

माँ ने अन्तर्गुरु के सम्बन्ध में जो कहा है उसका तात्पर्य हृदयंगम करना आवश्यक है। जो निरन्तर मनुष्य के हृदय में बैठ कर मनुष्य के मन, बुद्धि और इन्द्रियों को समुचित रीति में प्रेरित करते हैं वे ही अन्तर्गुरु हैं। वे सर्वदा ही, सभी के हृदय में काम करते रहते हैं। किन्तु सदा सबको उनका परिचय नहीं मिलता। प्राण की गति की चर्चा पहले की जा चुकी है एवं प्रत्येक के शरीर में जो विविध केन्द्र-स्थान हैं उनकी भी चर्चा पहले की जा चुकी है। प्राण की गति जब विभिन्न केन्द्रों में पहुँचती है तब उन सब केन्द्रों के उपयोगी काम अपने आप निष्पन्न हो जाते हैं। उन सब केन्द्रों को जानना साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या विशिष्ट विज्ञ पुरुषों के ज्ञान की भी वे अगोचर हैं। जो प्राण की इस गति को विभिन्न केन्द्रों में ले जाते हैं वे ही अन्तर्गुरु हैं। वे सर्वज्ञ हैं, अतः कोई भी केन्द्र उनसे छिपा नहीं रहता। जिस केन्द्र में गति होती है, उसी केन्द्र की क्रिया स्वभावतः ही स्फुरित होती है। जिस शरीर का अवलम्बन करके ये क्रियाएँ प्रस्फुटित होती हैं, उस शरीर का अभिमानी जीव उन सब क्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। न जानने पर भी स्वभाव वश वे सब क्रियाएँ होती रहती हैं। अज्ञात आसन, मुद्रा, मन्त्र-स्फुरण आदि इसी स्थिति में होते हैं। इसी अवस्था में अज्ञानी के मुँह से भी ज्ञान की ऊँची बातें निकलती हैं। प्रश्न करने पर उसका समुचित उत्तर मिल जाता है। सभी तत्त्व प्रकट हो जाते हैं, नाना प्रकार की मूर्तियाँ प्रकाश में आती हैं—बहुत कुछ होता है और बहुत कुछ हो भी सकता है। माँ ने कहा है,—"केवल उत्तर ही नहीं, उस तत्त्व की प्राप्ति, उसका दर्शन, यह है अज्ञात भाव से उत्तर मिलना।" फिर, ज्ञात भाव से भी ये मिल सकते हैं, मन्त्र, तत्त्व, गुरु, इष्ट सब कुछ आवश्यकता के अनुसार प्रकट होते हैं। जप और ध्यान के समय गुरु स्वयं ही समझा-बुझा जाते हैं कि कौन क्या है और उसकी सार्थकता क्या है? वस्तुतः ये सब अन्तर्गुरु की ही रहस्य लीलाएँ हैं। अर्थात्

स्वभाव की गति में पड़ने पर ये सब प्रत्येक के हो सकते हैं। क्योंकि अन्तर्यामी रूप से सबकी बुद्धि-वृत्ति के संचालक श्रीभगवान् सबके हृदय में निवास कर रहे हैं।

८—दोनों दिशाएँ—क्रिया की और मन की

अन्तर्गुरु के सम्बन्ध में जो कहा गया है, उससे प्रतीत होता है कि क्रिया और मन की दो भिन्न-भिन्न दिशाएँ हैं। दोनों दिशाएँ साथ-साथ रहती हैं। पर दोनों के बीच सर्वदा प्रधानता का तारतम्य रहता है। कभी क्रिया की प्रधानता रहती है और कभी मन की। यह मनुष्य की प्रकृति के अनुसार नियंत्रित होती है। जिस समय स्वभाव की गति के कारण आसन आदि अज्ञात रूप से अपने आप होने लगते हैं उस समय समझना चाहिए कि यह क्रिया की प्रधानता की दिशा है। और जब मन्त्र आदि का स्फुरण होता है उस समय समझना चाहिए कि यह मन की प्रधानता की दिशा है। स्वभाव की गति से दोनों का ही आविर्भाव होता है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु देश, काल, आदि के तारतम्य के अनुसार कभी किसी की क्रिया की दिशा की प्रधानता रहती है, कभी किसी के मन की दिशा की प्रधानता रहती है। भीतर रह कर जो संचालन करते हैं वे ही अन्तर्गुरु हैं। बाहर रह कर जो प्रवृत्ति और निवृत्ति की व्यवस्था कर रहे हैं, वे भी स्वरूपतः वे ही हैं। गुरु जो भीतर हैं वे ही बाहर भी हैं—अखण्ड अद्वैत। केवल समझने और समझाने के लिए विभिन्न प्रकार के शब्दों और परिभाषाओं का प्रयोग हुआ करता है।



तीन

१–कर्म बिना रहा नहीं जाता

माँ ने कहा है, "जब तक वह स्थिति प्राप्त नहीं होती तब तक कर्म बिना तो फिर रहा नहीं जाता" "वह स्थिति" कथन से आत्म दर्शन के अनन्तर जो स्वरूप स्थिति होती है उसी ओर माँ ने संकेत किया है। जब तक स्वरूप स्थिति का उदय नहीं होता, यहाँ तक कि आत्मसाक्षात्कार भी नहीं होता, तब तक कर्म-त्याग करने का कोई उपाय नहीं है। कर्म करना ही होगा, "मैं कर्म नहीं करूँगा" ऐसा निश्चय करने पर भी बाध्य होकर कर्म करना ही पड़ेगा, किये बिना गति नहीं। प्रकृति कर्मरूपा है—देह, प्राण, मन आदि प्रकृति के ही कार्य विशेष हैं। इसलिए जब तक आत्मा का देह, प्राण आदि के साथ अभिमानमूलक सम्बन्ध नष्ट नहीं होगा तब तक कर्म से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है। पर कर्म के अनेक प्रकार के भेद हैं, यह बात सच है। जिसका जिस प्रकार का अधिकार है, प्रकृति के राज्य में उसके लिए उसी प्रकार के कर्म की व्यवस्था है। सकाम कर्म की तो बात दूर रही, निष्काम कर्म को भी, अभाव का कर्म होने से, आत्मदर्शन की पूर्वावस्था के ही अन्तर्गत समझना चाहिए। तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, योग के विविध अंगों का अनुष्ठान, उपासना, भजन, साधन, अंत-र्योग, बहिर्योग, ज्ञानमार्ग का अनुशीलन, नैतिक जीवन को उत्कृष्ट बनाना, लौकिक व्यवहार, सब कर्म के अंतर्गत हैं। यद्यपि ये सब कर्म विविध विचित्रताओं से भरे पड़े हैं, इनके अनुष्ठान में भेद हैं, अधिकार में भी एकता नहीं है एवं लक्ष्य भी बहुधा सरसरी दृष्टि से पृथक् प्रतीत होता है, किन्तु तथापि सभी प्रकार के कर्म मूलतः एक ही अवस्था को यानी अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार के अभाव को सूचित करते हैं। और तो और, फलाकांक्षा से रहित निष्काम कर्म भी, स्वभाव की अनुल्लंघनीयता के कारण, फल उत्पन्न करता है और कर्मकर्ता को बाध्य होकर उक्त फलका ग्रहण करना पड़ता है। चित्तशुद्धि या भगवान् की प्रसन्नता निष्काम कर्म का फल है। जब तक आत्मदर्शन नहीं होता, तब तक स्वरूप स्थिति का अभाव होने के कारण आप्तकामता या पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिए

फल की ओर लक्ष्य न रहने पर भी जगत् के कार्यकारण नियम के प्रभाव से फल का उदय और कर्ता के साथ उसका योग भी अनिवार्य हो जाता है।

साधारण सकाम कर्म की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। उसके मूल में तो मलिन वासना अन्तःकरण में निहित रहती है। ऐहिक या पारलौकिक व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के उद्देश्य से अनुष्ठित बहुत बड़ा पुण्य कर्म भी सकाम की श्रेणी के अन्तर्गत है। वह भी मलिन वासना के स्पर्श से मुक्त नहीं है। गुरु के ऊपर निर्भर होकर बिना विचारे उनकी आज्ञा का पालन करना भी तो सकाम कर्म है। पर वहाँ पर वासना या कामना विशुद्ध है, क्योंकि केवल गुरु की इच्छा पूर्ण करने के लिए अन्तर में जो वासना होती है, वह वासना होने पर भी बुरी नहीं है। विद्वानों ने उसे ऊँचा स्थान दिया है। एक प्रकार से ऐसे कर्म को निष्काम भी कह सकते हैं। किसी-किसी आचार्य ने यह कहा भी है। वैष्णवाचार्यों ने जैसे कहा है कि भगवत् स्वरूप में प्राकृत या हेयगुण नहीं हैं, इसलिए श्रुति उनका निर्गुण रूप से वर्णन करती है। किन्तु उनमें सर्वथा ही कोई गुण नहीं है, उनके मन में निर्गुण शब्द का यह तात्पर्य नहीं है। अप्राकृत अनन्त कल्याण गुण नित्य ही उनमें विद्यमान रहते हैं, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु उनके रहते भी उनका जो निर्गुण रूप से बखान किया जाता है उसका उद्देश्य यह है कि वे सम्पूर्ण हेय गुणों से निर्मुक्त हैं। उसी तरह चित्त में तुच्छ कामना या हेय वासनाओं के रहने पर एक प्रकार से उसे निष्काम कह सकते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो उसे निष्काम कहना संगत न होगा।

कुछ लोग समझते हैं कि आत्मदर्शन हुए बिना निष्काम कर्म हो ही नहीं सकता—यह मत ठीक नहीं है। माँ इस बात की वास्तविकता स्वीकार नहीं करती हैं। क्योंकि आत्म-दर्शन होने पर कर्म रहते नहीं। द्वन्द्व के बिना कर्म होते नहीं—आत्म-दर्शन होने पर द्वन्द्वातीत पद में स्थिति हो जाती है। उस समय आत्मा से भिन्न कुछ भी दिखाई नहीं देता, उस समय कुछ आत्मरूप से प्रतिभासित होता है। उस समय न द्वन्द्व रहते हैं और न कर्म ही। जिस समय एक मात्र आत्मा ही रहता है-गुरु, मैं, प्रीति, कर्म—ये सब आत्मा से पृथक् रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते, उस समय कर्म की बात कैसे उठेगी ? जिस अवस्था में ये सब पृथक्-पृथक् रहते हैं, उस समय समझना होगा कि वास्तविक आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ। माँ कहती हैं, ये सब कर्म "वासना क्षय की चेष्टा में बाह्य कर्म है।"

आत्म साक्षात्कार के पहले यन्त्रवत् कर्म होता है। उस समय कर्म की गति भावी अभाव पूर्ति की दिशा समझनी चाहिए। आत्मदर्शन के पश्चात् स्वरूप स्थिति होने पर उक्त भाव नहीं रहता। इसलिए यन्त्रवत् कर्म भी उस समय नहीं होता, क्योंकि वह निर्मल मुक्त अवस्था है।

२–निष्काम कर्म का लक्षण

निष्काम कर्म का लक्षण है। साधारणतः जो कर्म निष्काम माना जाता है सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि वास्तव में वह निष्काम कर्म नहीं है। माँ कहती हैं–ग्रन्थि खुले बिना ठीक-ठीक निष्काम कर्म नहीं होता। ग्रंथि खुलने पर सुख-दुःख, स्तुति-निन्दा, या मान-अपमान कुछ भी अपना स्पर्श नहीं करते हैं। स्वभाव के प्रभाव में जो होने वाला होता है वह हो जाता है। किन्तु उससे चित्त में किसी प्रकार का विकास उत्पन्न नहीं होता। प्रतिष्ठारहित कर्म निष्काम कर्म है; उसमें अपने नाम और यश की आकांक्षा नहीं रहती है। और अन्य किसी प्रकार के फल की अभिलाषा भी नहीं रहती। क्षुद्र अहंभाव जब तक निवृत्त नहीं होता तब तक यह आकांक्षा नहीं हटती। कोई एक अच्छा काम मैंने किया है, पर लोगों को, वह काम मैंने किया है, यह ज्ञात नहीं है; वे जानते हैं कि दूसरे ने किया है, अथवा मैंने किया है यह जानकर भी लोग दूसरे ने किया ऐसा प्रचार करते हैं—इस जगह मेरा चित्त यह सब जानकर भी क्षुब्ध नहीं होता है या निर्विकार रहता है, ऐसी अवस्था में समझना होगा कि मेरी ग्रंथि खुल गयी है। यह निष्कामता का लक्षण है।

निष्काम कर्म में मेरा शरीर बनता है उनके हाथ का यन्त्र—वे उसे जिस प्रकार चलाते हैं वैसे ही वह चलता है। मानो मैं साक्षी या केवल द्रष्टा हूँ। अर्थात् मैं केवल देखता जाता हूँ कि शरीर कैसे चल रहा है—मैं उसका परिचालक नहीं, इस बात का खूब ज्ञान रहता है। केवल यही, नहीं—शरीर चाहे जिस प्रकार ही क्यों न चले मैं उससे विचलित नहीं होता। विचलित होने पर फिर साक्षिभाव कहाँ रहा? इस देखने में भीतर एक निर्मल आनन्द या प्रसन्नतामय भाव का स्फुरण होता है। यही गीता में वर्णित योगस्थ कर्म है। इस जगह दो विषय विचारणीय प्रतीत होते हैं—

(क) देह का परिचालक मैं नहीं हूँ, यह बोध जागरूक रहता है, इसलिए देह की क्रिया में ममता होती और कर्तृत्व ज्ञान भी नहीं रहता है।

(ख) देह द्वारा इस प्रकार अनुष्ठित कर्म का फलाफल भी मेरे देखने की वस्तु नहीं है, यह बोध रहता है। इसलिए सिद्धि-असिद्धि, भला-बुरा, स्तुति-निन्दा में समता का ज्ञान रहता है। वस्तुतः इस समत्व को ही योगस्थ कर्म का 'योग' जानना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि कर्म में जैसे ममत्व नहीं होता वैसे ही उसके फलाफल में भी ममता नहीं होती। यहाँ पर अच्छा लगने या न लगने का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्तिगत भोग-वासना न होने से ऐसा होता है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है, वह यह कि निष्काम कर्म योग्य आधार में अवसर पाकर अपने आप ही स्फुरित होगा। गुरु उसके लिए शिष्य को आदेश क्यों देते हैं? उसकी आवश्यकता ही क्या है? कर्म के मूल में रहता है प्रेरणा के रूप से कर्तव्यज्ञान या राग। संग या फलाकांक्षा का त्याग राग-त्याग का ही दूसरा नाम है। इसलिए यह रागमूलक कर्म नहीं है यह बात समझ में आती है। गुरु के आदेश या शास्त्र की आज्ञा अथवा महापुरुष के उपदेश से कर्म के कर्तव्यत्व का बोध होता है। वह बोध ही कर्म करने में सहायक होता है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि इस स्थान पर शिष्य साक्षीमात्र कैसे हुआ? यदि कोई कर्तव्यत्व ज्ञान द्वारा प्रेरित होकर कर्म का अनुष्ठान करे तो किसी न किसी प्रकार उसमें कर्तृत्व अवश्य ही प्राप्त होगा। इसके उत्तर में यही कहा जाता है कि शिष्य के स्वाधीन होने से कुछ पौरुष उसमें अवश्य ही है। जीव-मात्र में ही वह रहता है, बद्धावस्था में भी उसका अभाव नहीं होता। जिसमें जितना अधिक आवरण का पर्दा रहता है उसकी स्वतन्त्रता उतनी ही कम रहती है, किन्तु किञ्चित् स्वतन्त्रता उसमें रहती अवश्य है। यदि न रहे तो गुरु उसे आज्ञा देंगे ही नहीं, क्योंकि जड़ पदार्थ का कर्म में नियोग नहीं किया जाता। यह स्वतन्त्रता ही अधिकार भेद से इच्छा या कृति के रूप में जीव के हृदय में प्रकट होती है। गुरु शिष्य से मुख्य कर्ता बनने के लिए नहीं कहते हैं, निमित्तमात्र या यन्त्र-मात्र होने को कहते हैं। वे स्वयं कर्ता रहते हैं, जो कुछ करना होगा वे ही करेंगे। किन्तु जीव को, शिष्य को, गुरु के समीप आत्मसमर्पण द्वारा स्वेच्छा से उनका यन्त्र बनना होगा। तभी तो उनकी शक्ति इस यन्त्र का आश्रय लेकर कार्य करेगी। शिष्य स्वाधीन है, इसलिए यदि अपनी इच्छा को गुरु की इच्छा के साथ मिला न दे तो ऐसी स्थिति में फिर शिष्य का योगस्थ कर्म हो नहीं सकता। गुरु जो इच्छा पूर्ण होगी ही, किन्तु शिष्य उनकी इच्छा के साथ यदि अपनी इच्छा को न मिलावे तो गुरु के साथ युक्त नहीं हो सकता और

विश्वविधान के साथ समता की रक्षा भली-भाँति नहीं कर सकता। जितने दिन मोह और "मैं कर्ता हूँ" यह अभिमान प्रबल रहता है उतने दिन तक इस प्रकार का आत्मसमर्पण और योग नहीं हो सकता। गुरु जो चाहते हैं शिष्य भी यदि अपनी इच्छा को उनके अनुकूल बनाएँ एवं क्षेत्रविशेष में कृति या प्रयत्न द्वारा उसे पुष्ट करने के लिए तत्पर हों तो मालूम हो जायगा कि गुरु ने उसे ग्रहण किया एवं उसके देहादि को अपने यन्त्रों के रूप में चला रहे हैं। वह उस समय साक्षी बन कर अपने शरीर की इन सम्पूर्ण क्रियाओं को लीलाभिनय या भगवदिच्छा की पूर्ति के रूप में देखकर आनन्द रस में डूब जाता है। यही निष्काम कर्म और उसके आनुषंगिक आनन्द का रहस्य है।

सांसारिक दृष्टि से इस प्रसंग में एक विषय विचारणीय है। यदि जागतिक गुरु का आदेश न्यायविरुद्ध हो तो शिष्य के लिए यह पालनीय है या उपेक्षणीय है, यही प्रश्न है। शिष्य यदि जागतिक गुरु में भी वास्तविक गुरुभाव स्थापित कर सके तो इस समस्या का समाधान सहज है। शिष्य का गुरु की आज्ञा पर विचार-विमर्श नहीं चलता है। "आज्ञा गुरूणामविचारणीया।" इसलिए शिष्य बिना विचारे उस आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर होगा। यदि वह कार्य अनुचित होगा तो उसके अनुष्ठान में विघ्न बाधा प्राप्त होगी। यही ईश्वरीय विधान है। वहाँ पर शिष्य को गुरु आज्ञा के उल्लंघन का अपराध नहीं हुआ और अनुचित कार्य का आचरण भी नहीं हुआ। किन्तु जहाँ ठीक गुरुज्ञान नहीं रहता वहाँ पर आदेश के औचित्य के विषय में विचार उठने के कारण अपनी विचार शक्ति के द्वारा ही कर्तव्य का निर्णय करना पड़ेगा। क्योंकि वहाँ पर ठीक गुरुज्ञान न होने के कारण सद्विचार द्वारा चलने से गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता। इसलिए साधारण अधिकारी के लिए शास्त्र या गुरु-वाक्य के साथ युक्ति का समन्वय करने की आवश्यकता है। ऋषियों ने भी यही कहा है—"केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।" शास्त्र पर यथार्थतः भगवद्वाक्य या गुरुवाक्य के रूप में विश्वास कर सकने पर युक्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती।

माँ ने एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। उसके विश्लेषण से यह गम्भीर सत्य ज्ञात हो जाता है। बाबा भोलानाथ बहुधा उनसे बहुत कुछ करने को कहते—उसे माँ व्यवहारावस्था में गुरु-आज्ञा मान कर ग्रहण करतीं। इस सम्बन्ध में कभी भी उनके मन में विचार न उठता—उसका पालन करने की चेष्टा भी वे करतीं।

उचित-अनुचित का विचार वे न करतीं। किन्तु जब जिस आदेश का पालन न करना होता उस समय उनका शरीर अशक्त हो पड़ता एवं बाबा भोलानाथ भी अपना आदेश वापस ले लेते।

कभी-कभी अपने अन्तःकरण से भी सूक्ष्म वासना उदित हो कर अनुष्ठान करने की प्रेरणा दे सकती है। वहाँ पर उस अन्तःकरण के भाव का गुरु की आज्ञा के रूप में ग्रहण करके उसकी प्रेरणा का अनुसरण करना उचित प्रतीत नहीं होता है। कहा है—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

अर्थात् संदिग्ध विषय में हृदय की वृत्ति ही सज्जन के लिये प्रमाण रूप मानी जाती है। यह सत्य है। पर सन्त या साधुओं के लिए ही यह नियम लागू है। साधारण जीवों के लिए यह ठीक नहीं है। इच्छा का उदय पूर्व संस्कार वश होने पर भी उस इच्छा को व्यवहार और क्रिया में परिणत करना ठीक नहीं है। उसके लिए संयम की आवश्यकता है, जिससे इच्छा होने पर भी कृति न हो, कृति होने पर भी चेष्टा जिससे न हो। यही संयम का लक्ष्य है। जब तक "मैं कर्ता हूँ" ऐसा ज्ञान रहता है तब तक प्रत्येक को इस सम्बन्ध में दायित्व रहता है एवं उसका अनुभव करना उचित है। जो योगस्थ है, उसके मन में इच्छा का उदय होने पर भी वह कृति रूप में परिणत नहीं होगी, कृति होने पर भी चेष्टा तथा उसका विकास नहीं होगा, अन्तर्यामी पुरुष ही उसमें बाधा डाल देंगे।

३—आप्तकाम की क्रिया कर्म नहीं है

आप्तकाम की क्रिया वास्तविक रूप में कर्म नहीं है। वह स्वतन्त्रता का विलास या लीला मात्र है। वह क्रिया निष्काम कर्म में भी परिगणित होने योग्य नहीं है। निष्काम कर्म के समय जो स्वभाव का स्रोत बहता रहता है उसमें आत्मा द्रष्टा के रूप में विद्यमान रहता है किन्तु वह वास्तविक द्रष्टा का भाव नहीं है, क्योंकि उसमें एक शान्त और स्निग्ध आनन्द का आस्वाद प्राप्त होता है। उक्त अवस्था में सर्वत्र ही एवं सब प्रकार की क्रिया में ही एक गम्भीर रस की अनुभूति होती है। उस समय साधक अपने इष्ट अथवा गुरु की तृप्ति में अपनी तृप्ति समझता है एवं आनन्द में अपना आनन्द समझता है। वह निजस्व बोध का कर्म होने से यद्यपि साधारण सब प्रकार के कर्मों से विलक्षण है, तथापि वह कर्म

के रूप में ही गणना के योग्य है । क्योंकि उस समय भी वासना चित्त में विद्यमान रहती है । वासना न रहने पर पूर्वोक्त आनन्दका आस्वाद पाने की संभावना नहीं रहती । पर वह आनन्द होने पर भी वास्तव में सीमित आनन्द है, अबाधित अकुण्ठित भूमानन्द नहीं है । आत्म-दर्शन होने पर एकमात्र आत्मा का ही अस्तित्व रहता है । उस समय आदेश, उपदेश, पथ-प्रदर्शन आदि फिर नहीं रहते । आत्म-दर्शन के बाद किसी में भी वासना नहीं रह सकती । अतः स्वरूप-स्थिति होने पर भोक्ता और भोग्य भाव का अभाव हो जाता है, इसलिए भोग या रसास्वाद किसी एक विनिर्दिष्ट स्थान में बँधे नहीं रह सकते हैं । आत्मदर्शी के कर्म नहीं रहते, इसलिए उसमें परतन्त्रता नहीं रहती । अतएव उसको जिस समय जिस रूप का ख्याल होता है उस समय वह अपने आप में उस रूप के साथ ही क्रीड़ा कर सकता है । आत्मज्ञ चाहे जिस किसी रूप के साथ क्रीड़ा क्यों न करे वह उसे अपना निजी रूप ही समझ सकता है । जिस प्रकार और जिस रूप में ही वह क्रीड़ा करे सभी प्रकारों में वह अपने को लेकर ही अपनी क्रीड़ा करता है । उस समय वह एक और अभिन्न है, भिन्न रह कर भी अभिन्न है और अभिन्न रह कर भी भिन्नवत् है यही वह "तत् "स्व" है । इस खेल में उसका स्वरूपस्थिति का निश्चय अक्षुण्ण ही रहता है । उत्पलाचार्य ने कहा है—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तः जीवन्मुक्तो न संशयः ।।

आत्मज्ञानी महापुरुष सम्पूर्ण जगत् को क्रीड़ा या लीला के रूप में देखता रहता है और सर्वदा युक्त रहता है । वह जीवन-धारण करने पर भी, रूपधारी होने पर भी, मुक्त पुरुष है, इसमें सन्देह नहीं । आत्मदर्शन के पहले वह दृष्टि उत्पन्न नहीं होती ।

आत्मदर्शन जब तक नहीं हुआ तब तक अभाव की पूर्ति (आवश्यकता की पूर्ति) की आवश्यकता रही एवं प्रकृति के नियम से उसकी पूर्ति भी होती गयी । आत्मदर्शन होने पर अभाव न रहने के कारण अभाव की पूर्ति भी नहीं रहती, इसलिए कर्म की भी सम्भावना नहीं रहती । लोक-दृष्टि से वह कर्म प्रतीत होता है, पर वह कर्म नहीं है, चैतन्य शक्ति का विलास-मात्र है

४–भगवान् में नित्य योग

भगवान् के साथ जीव का नित्य ही योग रहता है किन्तु संसारासक्त बहि-

मुख जीव उसे समझ नहीं सकता, आत्म-विस्मृति या अज्ञान ही उसका एकमात्र कारण है। वास्तविक कर्म उसी का नाम है, जिसके द्वारा उक्त स्वभावसिद्ध योग का प्रकाश होता है अथवा ज्ञान का उदय होता है। यदि वह न हो तो वह कर्म वृथा कर्म है—उसकी अकर्म में गणना है। उसका नाम कर्म-भोग है। कर्म और अकर्म का यही पार्थक्य जानना चाहिए। कर्म से नवीन योग स्थापित नहीं होता—जो योग अस्फुट भाव से रहता है केवल मात्र उसी की अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में यह जो योग की अभिव्यक्ति है, यही आत्मदर्शन का सूत्रपात है, स्वरूपस्थिति इसी की पूर्ण प्रतिष्ठा है।

५–कर्म से ही कर्म-त्याग

माँ कहती हैं, ऐसी अवस्था में जिसमें कर्म के लिए ही कर्म का अनुष्ठान होता है, किसी फल की सिद्धि के लिए नहीं—अधिक क्या कहें कर्तव्यज्ञान की प्रेरणा से भी नहीं। वह कर्मकर्ता की प्रीति एकमात्र कर्म में ही लगी रहती है, लौकिक अथवा अलौकिक किसी प्रयोजन की सिद्धि की ओर वह आकृष्ट नहीं होता। वहाँ कर्म की प्रीति के लिए ही मानो कर्म किया जाता है—कर्म को साधन बना कर साध्य रूप से कोई दूसरा लक्ष्य कर्मकर्ता का नहीं रहता। वास्तव में वहाँ भगवान् ही कर्म का रूप धारण कर कर्मकर्ता के निकट प्रकट होते हैं। इसलिए कर्म करते-करते अपने आप ही कर्म निवृत्त हो जाता है। कर्मी केवल कर्म में अनुरक्त हो कर विवश की तरह कर्म करता है। जरा विचार कर देखनेपर समझमें आ सकेगा कि लोक-हित या विश्वकल्याण भी इस प्रकार के कर्मी का लक्ष्य नहीं रहता है। प्रश्न हो सकता है कि यह कर्म अपने आप ही कैसे कट जाता है? इसका रहस्य है। चाहे जिस किसी प्रकार से भी चित्त के एकाग्र होते ही ज्ञान का उदय अवश्यंभावी है। मूढ, क्षुब्ध और विक्षिप्त अवस्था में ज्ञान का उदय कभी नहीं होता, योगा-वस्था का भी प्रकाश नहीं होता। किन्तु एकाग्र अवस्था में स्वभावतः ही एकाग्रता के प्रभाव से इधर-उधर बिखरा हुआ तेज घनीभूत हो जाता है, इसलिए अन्तः-करण सहसा ज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठता है। उस समय हृदयग्रन्थि खुल जाती है, सब सन्देह कट जाते हैं एवं सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। महासत्ता सर्वत्र समभाव से विद्यमान है—हम लोग एकाग्र नहीं हो सकते हैं, इस कारण उनकी उपलब्धि नहीं होती है। जब केवल कर्म में ही लक्ष्य बँधा रहता है उस समय एकाग्रता के प्रभाव से कर्म-त्याग हो सकता है। उस अवस्था में अपकर्म की सम्भावना नहीं रहती। माँ कहती हैं, जिस किसी

भी प्रकार एक का अवलम्बन कर सकने पर कर्म कट जाने के लिए बाध्य होता है। वे ही तो एक हैं—जिस समय वे कर्म के रूप में प्रकाशित होते हैं उस समय कर्म विनष्ट होता है, जिस समय वे विषय रूप में प्रकट होते हैं उस समय विषय का विनाश होता है—उनके प्रकाशित होने पर वे ही रहते हैं और सब कुछ विलीन हो जाता है। उस समय प्रतीत होता है कि वे ही मैं हूँ, उनमें और मुझमें नित्य योग है।

६—सगुण साकार सक्रिय कैसे है ?

माँ कहती हैं, सगुण माने स्व-गुण, साकार माने स्व-आकार, सक्रिय माने स्वक्रिया। अर्थात् गुण रूप में स्वयं, आकार रूप में स्वयं और क्रिया रूप में स्वयं। जहाँ पर एक-मात्र स्वयं ही प्रकाशमान है वहाँ सब कुछ वही नित्य सिद्ध है। वे अकर्ता हो कर भी सब कुछ करते हैं, सब कुछ करके भी अकर्ता रहते हैं। ईश्वरीय प्रकाश का यही वैशिष्ठ्य है। वे अकर्ता हैं—एक-मात्र वे ही तो हैं, दूसरा कोई तो है नहीं, किसके प्रति वे कर्ता होंगे ?

७—चिन्मय अप्राकृत लीला

श्रीभगवान् की सभी लीलाएँ अप्राकृत और चिन्मय हैं। माँ कहती हैं, चिन्मय लक्ष्य न रहने पर इन सब लीलाओं का दर्शन किसी को भी नसीब नहीं होता। इन सब लीलाओं का अभिनय अनुकरण रूप से अन्तरंग भक्तों के रसास्वाद के लिए प्राकृत जगत् में किया जाता है। उनके दर्शन में भी अधिकार भेद है। शृंगार रस की लीला, विशेषतः रासलीला, माधुर्यमय होने के कारण श्रेष्ठ-लीला होने पर भी सबके देखने योग्य नहीं है। किन्हीं-किन्हीं के चित्त में इन सब लीलाओं के देखने या सुनने से सांसारिक भाव का उदय होता है। ऐसे स्थलों में समझना होगा कि इन सब लोगों में लीला देखने की योग्यता नहीं है। फिर भी यह साक्षात् भगवान् की लीला है ऐसा स्मरण रहने पर चित्त निर्मल रहता है तथा लीला देखने का अधिकार उत्पन्न हो सकता है। भगवान् की बाल्यलीला अति मधुर है। किन्तु उसका दर्शन होने पर भी अपने वात्सल्य के भाजन-स्वरूप परिचित बालकों का स्मरण हो आता है। साक्षात् रूप से भगवान् की कथा चिन्मय लक्ष्य न रहने पर समझ में नहीं आती।

८—मन का लक्ष्य और स्वभाव

मन का एकमात्र लक्ष्य है आनन्द—स्थायी आनन्द। उसी के लिए मन बन्दर

की तरह एक विषय से दूसरे विषय में निरन्तर दौड़ता रहता है। किन्तु विषयों में जिस आनन्द का वह आस्वादन प्राप्त करता है वह सदा रहता नहीं है। आस्वादन के दूसरे ही क्षण में क्षीण हो जाता है, तब फिर नये आनन्द की प्राप्ति के लिए वह विषयान्तर की ओर आकृष्ट होता है। यही उसकी चंचलता का मूल कारण है। मन इसी कारण सर्वदा अतृप्त रहता है। अमृत की प्यास जल से बुझती नहीं। माँ कहती हैं, यदि मन को शान्त करना हो तो उसे इस अमृत का पता, स्थायी आनन्द की झलक, दिखानी होगी। नित्य ब्रह्म के साथ उसका संबंध स्थापित करने पर वह अनित्य विषयों के पीछे अशान्त और पागल की तरह दौड़ कर वृथा कष्ट क्यों झेलेगा ? उस समय वह समाहित हो आत्मस्वरूप में विश्राम प्राप्त करेगा।

नानात्व की कल्पना या सृष्टि कर उस कल्पित नाना के साथ क्रीड़ा करना ही मन का स्वभाव है। पर वास्तव में एक ही है, नाना नहीं है। उस एक को जान लेने पर सर्वत्र सदा उसी का दर्शन होता है। उसके साथ ही रहना होता है—उस समय फिर भेद का इन्द्रजाल द्रष्टा को मुग्ध और विभ्रान्त नहीं कर सकता। उस समय फिर मानने न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। शास्त्रों में कहा है "यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।" मन चाहे जिस किसी ओर क्यों न जाए वह जिधर जाता है उधर ही उसी एक को देखता है और उसमें निमग्न हो जाता है। इधर-उधर दौड़ने-भागने की अपनी शक्ति खो बैठता है। उस समय वह सर्वत्र अपनी माँ को देखता है और उनके कण्ठ से निर्गत अमृत रस के पान करने का सौभाग्य प्राप्त करता है। संसार उस समय आनन्दमय हो जाता है। अवनि, गगन, सलिल, अनल, अनिल, शत्रु-मित्र सभी एक के ही लीलाविलास से आविर्भूत विभिन्न मूर्तियों के रूप में उसके सन्मुख अभिव्यक्त होते हैं।

वह एक सर्वदा सर्वत्र ही विद्यमान है। किन्तु जिस समय जिसके निकट जहाँ पर वह भासित हो उठता है उस समय वहींपर उसका मन शान्त हो जाता है। जब जहाँ पर ध्यान हुआ वहीं उसी दम वह दृष्टिपथ पर आरूढ होता है। देशगत अथवा कालगत भेद का कारण है धारक मन की योग्यता का तारतम्य। किन्तु एक बार ग्रहण होने पर फिर योग्यता का प्रश्न रहता नहीं। उस समय ज्ञात होता है कि यह एक ही है, यही था और यही रहेगा। और जो कुछ है

वह सब मन की वंचना है। अनन्त अथवा नाना में भी यह एक ही भासमान है। यह एक सत्ता ही विविध रूपों में नाना प्रकारों से अनेक समयों में नाना स्थानों में प्रकाशमान होती है। मन की एकाग्रता से एक के प्रकाशित होने पर मन रहता नहीं, मन के द्वारा कल्पित नाना भी नहीं रहता—अथवा सब कुछ ही रहता है, एक के ही लीलामय आत्मप्रकाश के रूप में। उस समय प्रतीत होता है कि वह एक ही सबका बीज है, केवल बीज ही नहीं, सर्वात्मक है। उसी से सब कुछ उत्पन्न होता है—वस्तुतः वही सब कुछ है। यही ज्ञान का स्वरूप है। उस समय प्रकाश-अप्रकाश, स्थिति-गति, अनन्त प्रकार के विरुद्ध धर्म इस महान् ऐक्य में ही समन्वित होते हैं। यह ऐक्य सूत्र ही आत्मा—वही एक सत्ता—स्वयं ही अपने में है—वह 'तत् स्व' है। माँ कहती हैं, एक ही अनन्त है, अनन्त ही एक है। प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पदमावत' नामक रूपक काव्य में कहा है—

आपु हि गुरु सो आपु हि चेला।
आपु हि सब और आपु अकेला।।
आपु हि मीच जियन पुनि, आपु हि तन मन सोई।
आपु हि आपु करे सो चाहे, कहाँ सो दूसर कोई।

अर्थात् इस दृष्टि के खुल जाने पर ज्ञात होता है कि स्वयं ही गुरु और स्वयं ही शिष्य, दोनों में कुछ भी भेद नहीं—स्वयं ही सब अथवा अनन्त है एवं स्वयं ही अकेला या एकमात्र अद्वितीय है—कोई भेद नहीं। स्वयं ही मृत्यु स्वयं ही जीवन या अमृत है—मृत्यु और अमृत उस एक के ही प्रकाशमात्र हैं। देह, मन आदि सभी वह एक ही—स्वयं ही है। उस समय स्वयं ही निज में जो ख्याल होता है, वही किया जाता है, दूसरा आवेगा कहाँ से? एकमात्र स्व है—द्वितीय या अन्य का कोई स्थान नहीं है। यही महास्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति है।

वास्तव में अन्त भी तो अन्त नहीं है, इसलिए सान्त भी अनन्त है। सीमा में असीम आत्मप्रकाश करने पर सीमा भी असीम है ऐसी धारणा होती है। माँ कहती हैं, 'वे सब रूपों में स्वयं ही हैं।' दूसरे का स्थान ही नहीं है। लक्ष्य यदि स्थिर न हो तो अनन्त मन में होता है। किन्तु स्थिर होने पर प्रतीत होता है कि अनन्त भी एक ही है।

९–सभी कर्म मुक्त हैं

माँ कहती हैं, वास्तव में एकमात्र नित्य वस्तु ही है। जिसमें उस नित्य को देखने की शक्ति नहीं वह नाना और अनित्य देखता है—अनन्त प्रकार के नाना। काल के प्रवाह में यदि देखा जाए तो यही परिवर्तन और जगत् का स्वभाव है। किन्तु परिवर्तन तो रहता नहीं—जगत् के बाहरी कर्म भी नहीं रहते, साधना के कर्म भी नहीं रहते। जो रहने वाला है वही रहता है—जो सदा ही विद्यमान रहता है, वही रहता है। इसलिए सभी कुछ तत् या मुक्त है। कर्म नित्य मुक्त है। अतएव सभी वास्तव में तत् या मुक्त हैं।

कर्म के नित्य मुक्त होने से सभी नित्य मुक्त हैं—कोई बन्धन ही नहीं रहता। जो कुछ पीड़ा है, वह क्षणिक है।

१०–भावासक्ति और कर्मसक्ति

भाव और कर्म दो ही तो रास्ते हैं। मगर दोनों का आपस में सम्बन्ध है। भाव में भी कर्म है, क्योंकि वास्तव में भाव भी कर्म ही है, और कर्म में भी भाव है। पर जिस समय जिसकी प्रधानता होती है उसके अनुसार नाम पड़ता है। भावासक्ति के स्थल में भाव प्रधान रहता है, उस समय हृदय भाव वश आनन्द से गद्गद होता है। किन्तु उस आनन्द का कोई मूल्य नहीं रहता। वह बाँधे रखता है—सम्पूर्ण जीवन ही उसके प्रभाव से बन्धन में रह सकता है। बन्धन होने पर भी आनन्द का ऐसा मोह होता है कि वह बन्धन बन्धन के रूप में प्रतीत नहीं होता। दीर्घकाल तक एक प्रकार से रहने से वही स्वाभाविक सा प्रतीत होता है—उस समय मनुष्य जीवन के पंथ पर अग्रसर नहीं हो सकता, भावातीत में जा नहीं सकता। इसका प्रधान कारण यह है कि भाव खण्ड है, पूर्ण नहीं है। भाव यदि परिपूर्ण होता है तो वह मनुष्य को बाँधता नहीं। कोई भी भाव पूर्ण होते ही हट जाता है और मार्ग छोड़ देता है—किसी के भी आगे बढ़ने में रुकावट नहीं डालता। भाव की पूर्णता भगवान् का स्पर्श हुए बिना नहीं होती। पूर्ण के स्पर्श से ही पूर्णता आती है। यदि कभी किसी के भाग्य में भाव की पूर्णता प्राप्त होती है तो फिर उसके लिए गतिरोध नहीं रहता।

कर्म के सम्बन्ध में भी यही एक नियम है। पूर्णता के प्राप्त होने पर कर्म भी फिर बन्धन का हेतु नहीं होता, स्वभाव की गति में बाधक नहीं होता। कर्म और भाव दोनों ही स्थलों में पूर्णता के बाद ही बन्धन कट जाता है।



चार

१–स्वरूपस्थिति और प्रारब्ध कर्म

साधारणतः कहा जाता है कि ज्ञान का उदय होने पर संचित कर्म जल जाते हैं एवं क्रियमाण कर्म कर्ता का स्पर्श नहीं कर सकते, किन्तु प्रारब्ध कर्म का निराकरण नहीं होता, वह एकमात्र भोग से ही निवृत्त होता है। भोग पूर्ण होने पर प्रारब्ध कर्म नहीं रहता, इसलिए प्रारब्धजनित देह भी नहीं रहता। देह-पात होने पर मनुष्य को विदेह कैवल्य प्राप्त होता है। यही वेदान्तादि शास्त्रों का साधारण सिद्धान्त है।

माँ कहती हैं—स्व-इच्छा, पर-इच्छा, अनिच्छा यह इच्छा का बन्धन नाना रूप से अलग बात है ही। यहाँ पर माँ ने वेदान्त के प्रचलित सिद्धान्त का अनुसरण किया है। वेदान्त में कहा है—इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम्। (पंचदशी ७।१५२)

कोई प्रारब्ध भोग की इच्छा उत्पन्न करके भोग कराता है, कोई प्रारब्ध भोग की इच्छा न रहने पर भी भोग कराता है एवं ऐसा भी प्रारब्ध है जो अन्य की इच्छा से भोग कराता है। अपथ्य सेवन करने वाला रोगी जो अपथ्य सेवन की इच्छा करता है वह यह अपथ्य सेवन रोगबृद्धि और जीवन-नाश का हेतु है, यह जानते हुए भी करता है। उसका प्रारब्ध कर्म ही उसके चित्त में इस प्रकार का कर्म करने की इच्छा उत्पन्न करता है। चोरी आदि अनुचित कर्म करने पर दण्ड अवश्य मिलेगा ऐसा ज्ञात रहने पर भी चोर की चोरी करने में प्रवृत्ति होती है। उसका प्रारब्ध कर्म ही उसमें इस प्रकार के कार्य में प्रवृत्त होने की इच्छा पैदा करता है। लम्पटता के कारण मैं शूली पर लटका दिया जाऊँगा, यह जानता हुआ भी स्वेच्छा से व्यभिचार करने के लिए उद्यत होता है, यहाँ पर भी उक्त इच्छा के मूल में उसका प्रारब्ध कर्म कारण रहा। यह मानना होगा। तीन प्रकार के प्रारब्धों में इच्छा-प्रारब्ध अत्यन्त भीषण है। बड़े-बड़े आचार्यों ने

कहा है कि ईश्वर भी उसका निवारण नहीं कर सकते ।[1]

गीता में भगवान् ने कहा है,—ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुरूप चेष्टा करते हैं। जिस प्रारब्ध कर्म से उनका शरीर बना है उसका उल्लंघन कर वे किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकते उस प्रकृति का नियन्त्रण करने की चेष्टा करने से कोई फल हासिल नहीं होता। पुराण आदि में वर्णित राजा नल और युधिष्ठिर की जीवनी से ज्ञात होता है कि तीव्र प्रारब्ध अथवा अवश्यंभावी भाव को रोकना सहज नहीं है। नल और युधिष्ठिर जुआ खेलने का परिणाम अनिष्ट-कारी है यह जानते हुए भी उसमें प्रवृत्त हुए थे एवं रामचन्द्र जी सुवर्णमय मृग का होना असम्भव है यह जानते हुए भी उसके अनुसरण में प्रवृत्त हुए थे।

अनिच्छा-प्रारब्ध उससे भिन्न है। प्रायः अपनी इच्छा न रहने पर भी प्रारब्ध वश बाध्य हो कर भोग करना पड़ता है अथवा नूतन कर्म में लगना पड़ता है।

स्वेच्छा एवं अनिच्छा इन दोनों ही प्रारब्धों से परेच्छा-प्रारब्ध भिन्न है। वहाँ पर अपनी व्यक्तिगत भोगेच्छा के रहने अथवा न रहने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। केवल दूसरे की इच्छा से, दूसरे की प्रसन्नता के लिए बाध्य हो कर सुख-दुख भोग करना पड़ता है। शास्त्रानुसार इसे परेच्छा प्रारब्ध का फल समझना चाहिए।

इस विचार-धारा के अनुसार प्रारब्ध-वश ज्ञानी व्यक्ति को भी इच्छा रह सकती है एवं उसके कारण भोग रहना भी असम्भव नहीं है। फिर भी उस इच्छा को भुने हुए बीज के तुल्य समझना चाहिए। जैसे भुने हुए बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही उस इच्छा से भी उत्कट व्यसन पैदा नहीं होते।

---

१. श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी जी का इस प्रकार का मत है। इसे एक प्रकार से अर्थवाद वाक्य के तुल्य समझना चाहिए। क्योंकि पूर्ण स्वातन्त्र्य सम्पन्न परमेश्वर की इच्छा अप्रतिहत है। उनकी इच्छा होने पर असम्भव भी सम्भव हो सकता है। श्रीरूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में श्री भगवान् का भक्तप्रारब्धध्वंसी कह कर उल्लेख किया है। अर्थात् यदि स्वयं भगवान् भक्त के लिए प्रसन्न हो जाते हैं तो भक्त का अत्युत्कट प्रारब्ध भी निवृत्त हो जाता है, यही उनका अभिप्राय है। अस्तु, इच्छा-प्रारब्ध किसी साधारण उपाय से निवृत्त नहीं हो सकता, इसी में विद्यारण्य स्वामी का तात्पर्य है।

सुख और दुख का निमित्त कारण प्रारब्ध कर्म है, यह पहले कहा गया है। इसका वेग चार प्रकार का है ऐसा शास्त्रकारों ने निर्णय किया है। इन चार वेगों के नाम क्रमशः तीव्र, मध्य, मन्द और सुप्त—इस प्रकार से शास्त्र में निर्दिष्ट हैं। द्रष्टव्य—अनुभूतिप्रकाश (४।७४-७८)। जिस समय वेग तीव्रतम होता है उस समय उक्त प्रारब्ध के भोग के समय जीवन्मुक्त पुरुष को भी पशु आदि के तुल्य आत्मविस्मृति हो पड़ती है। तीव्र प्रारब्ध को स्वेच्छा-तीव्र, परेच्छा-तीव्र और अनिच्छा-तीव्र भेद से तीन प्रकार से समझना चाहिए। पौराणिक साहित्य में इनके प्रत्येक प्रकार के दृष्टान्त दिखलाये गये हैं। स्वेच्छा-तीव्र प्रारब्ध के दृष्टान्त सौभरि मुनि हैं। सौभरि मुनि सुदीर्घ काल तक जल के अन्दर गाढ़ समाधि में मग्न रहे, पीछे यथासमय समाधि से व्युत्थित हो कर मछली के बच्चों की परस्पर क्रीड़ा देख कर वे विचलित हो पड़े। उस समय उनके चित्त में इस प्रकार की क्रीड़ा का भाव जाग उठा। कारण कि उस समय वे आत्मविस्मृत थे, इसलिए उनकी स्वाभाविक आत्मप्रीति आच्छन्न थी। उस समय जल से उठ कर उन्होंने राजा मान्धाताता की ५० कन्याओं के साथ विवाह किया। अपनी असाधारण योगशक्ति के प्रभाव से कायव्यूह रचना कर ५० अलग-अलग स्वरूप धारणपूर्वक वे ५० कन्याओं के साथ विहार में निरत हुए। चन्द्रमा गुरु के शाप से क्षयरोग से ग्रस्त हुए थे। एवं फिर गुरु की कृपा से वृद्धि को प्राप्त हुए। उसके कारण कृष्ण और शुक्ल पक्ष के भेद से उन्हें क्रमशः क्षय और वृद्धि दोनों की ही प्राप्ति करनी पड़ती है। माण्डव्य ऋषि समाधिकाल में ही शूली पर चढ़ाये गये थे तथा व्युत्थित हो कर उन्होंने प्रारब्ध फल का अनुभव किया था। इनका विस्तृत विवरण विभिन्न पुराणों में दिखाई देता है।

मध्यवेग प्रारब्ध भी स्वेच्छा आदि के भेद से तीन प्रकार का है। स्वेच्छा प्रारब्ध के उदाहरण राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त राजा अजातशत्रु हैं। वे राज्य का भोग करते थे, यह सत्य है, किन्तु बीच-बीच में राज्य से अवसर ग्रहण कर आत्मचैतन्य की स्मृति में डूबे रहते थे। परेच्छा-प्रारब्ध के उदाहरण राजा शिखिध्वज हैं। वे तत्त्वज्ञानप्राप्ति के अनन्तर भी रानी चूडाला की इच्छा से राजकाज में प्रवृत्त हुए थे एवं उन्होने राज्यसुख का भोग किया था। अनिच्छा प्रारब्ध के दृष्टान्त भगीरथ हैं। वे मुक्त श्वेत हस्ती से माला प्राप्त होने के कारण दूसरे के राज्य में अभिषिक्त हुए थे।

मन्दवेग प्रारब्ध तीन प्रकार का है। उनमें से ऋषभ के कवि आदि नौ

पुत्र स्वेच्छा-प्रारब्ध भोग के उदाहरण हैं। वे सभी योगी थे, इसलिए राजोचित भोग-विलास का त्याग कर आत्मानुसन्धान में रत हुए थे। परेच्छा प्रारब्ध के उदाहरण ध्रुव हैं। वे नारदजी के उपदेश से भगवद्दर्शन प्राप्त कर के तज्जन्य आत्मसुख को प्राप्त हुए थे। अनिच्छा प्रारब्ध के दृष्टान्त वामदेव आदि ऋषि हैं। वे माता के गर्भ में रहते समय ही तत्वज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हुए थे।

सुप्तवेग प्रारब्ध में परेच्छा और अनिच्छा प्रारब्ध के उदाहरण देखने में आते हैं। प्रथम के उदाहरण विन्ध्यपर्वत हैं, जिनका प्रारब्ध वेग अगस्त्य मुनि की इच्छा से स्तम्भित हुआ था। दूसरे को उदाहरण स्वयं पृथिवी हैं, जिनका प्रारब्ध भोग आविर्भाव-काल से ही सुप्त रहा है।

यह जो चौथे प्रकार में जीवन्मुक्त लोगों की बात कही गयी है, उन लोगों का प्रारब्ध वेग सुप्त रहता है, इस कारण वे अबाधित रूप से निरवच्छिन्न निर्विकल्प समाधि के आनन्द का उपभोग किये जाते हैं। वे विदेह मुक्त न होने पर भी विदेह-मुक्तों के समान द्वैतहीन हैं।

अतएव पूर्वोक्त विवरण के अनुसार प्रारब्ध कर्म को बारह प्रकार का समझना चाहिए।

माँ इच्छा, अनिच्छा, परेच्छा आदि सभी प्रारब्धों के सभी विभाग स्वीकार करती हैं। किन्तु वे जो कहती हैं उसका तात्पर्य यही है कि जीव की ऐसी भी एक स्थिति है जहाँ प्रारब्ध कर्म भी संचित कर्म के समान ज्ञानोदय के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध न रहने पर यदि प्रारब्ध-जनित देह न रहे तो उसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि जिस महाज्ञान के प्रभाव से प्रारब्ध तक नष्ट हो जाता है उसी की शक्ति से देह में आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है, यहाँ तक कि उसका सम्पूर्ण रूपान्तर संघटित हो जाता है। इसे एक प्रकार से देह का नाश माना जा सकता है। किन्तु माँ कहती हैं, यह भी स्वरूप के प्रकाश की स्थिति नहीं है। जिस स्थिति में स्वरूप का प्रकाश अनवच्छिन्न रहता है, उसमें देह के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। शुद्ध या परिवर्तित देह भी तो देह ही है। वहाँ भी देह-बोध का प्रश्न रह गया। किन्तु यथार्थ स्वरूप-प्रकाश में देह है या नहीं प्रश्न उठ ही नहीं सकता। क्योंकि उस स्थिति में रहने न रहने के बीच कोई अन्तर नहीं है।

ज्ञान की तीव्रता के तारतम्य के अनुसार प्रारब्धकी सत्ता और क्रिया नियन्त्रित होती है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रचलित सिद्धान्त किसी एक विशिष्ट दृष्टि का अनुसरण करके निर्धारित हुआ है। यदि ज्ञान अत्यन्त तीव्र एवं उत्कट होता है तो उसके तेज से प्रारब्ध कर्मों का भी विनाश हो सकता है, यह गीता में स्पष्ट ही कहा गया है। क्योंकि उसमें लिखा है कि सुसमिद्ध ज्ञानाग्नि कर्मों को भस्म कर डालती है। यह कहना व्यर्थ होगा कि प्रारब्ध भी सब कर्मों के अन्तर्गत है। संचित कर्म जिस अविद्या अथवा अज्ञान का अवलम्बन कर विद्यमान रहते हैं, प्रारब्ध कर्म का उपजीव्य भी वही अज्ञान है। अज्ञान के एक ओर से संचित कर्म का उद्भव होता है और दूसरी ओर से जन्म, आयु तथा भोग के नियामक प्रारब्ध का उदय होता है। पहला अज्ञान का आवरण-अंश है एवं दूसरा उसका विक्षेपांश है। प्रचलित मत से अज्ञान के आवरणांश के हटने के साथ ही मुक्ति का पूर्णरूप जाग उठता है। प्रारब्ध कर्म जीवन्मुक्त के भोग के निमित्त के रूप विद्यमान रहता है। प्रारब्ध रहने पर भी इस मत में उससे जीवन्मुक्ति में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।[1]

जीवन्मुक्ति एकमात्र तत्त्वदर्शन से आविर्भूत नहीं होती है। क्योंकि वासनाक्षय और मनोनाश हुए बिना तत्त्वज्ञान के उदित होने पर भी बुद्धिक्षेत्र में स्वरूप प्रकाश का होना सम्भव नहीं है। शरीर प्रारब्ध कर्म का फल है, उसके रहने पर भी मनोमय कोश एवं प्राणमय कोश के भली भाँति विशुद्ध होने पर जीवन्मुक्ति का उदय अवश्यंभावी है।

तान्त्रिक आचार्य कहते हैं कि पौरुष ज्ञान एवं बौद्धज्ञान के भेद से जैसे ज्ञान दो प्रकार का है, वैसे ही अज्ञान भी पौरुष और बौद्ध भेद से दो प्रकार का है। जीव अथवा पशु अनादि काल से पौरुष अज्ञान से आच्छन्न है। यद्यपि अद्वैत मत में यह अज्ञान स्वेच्छागृहीत तिरोधान-शक्ति का खेल है, तथापि जब तक स्वेच्छामूलक अनुग्रह शक्ति का व्यापार नहीं होगा, तब तक उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। सद्गुरु यथाविधि दीक्षा के द्वारा उस अनुग्रह-शक्ति का संचार करते हैं। उससे पशु अथवा जीव का पौरुषअज्ञान निवृत्त होता है। जीव की व्यक्तिगत

१. सिद्ध आचार्यगण अर्थात् रसायन सिद्ध, नाथमार्ग में सिद्धि-प्राप्त अथवा अन्य प्रकार के कायसिद्ध पुरुष जीवन्मुक्ति के जिस आदर्श को स्वीकार करते हैं, उसमें प्रारब्ध के लिए कोई स्थान नहीं है। यह प्रचलित वेदान्त-मत नहीं है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

साधना अथवा अन्य किसी प्रकार के उपाय के अवलम्बन द्वारा पौरुष अज्ञान की निवृत्ति की सम्भावना नहीं है। यह एकमात्र गुरुकृपा-सापेक्ष है, किन्तु पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी अर्थात् पशुत्व के स्वरूपतः निवृत्त होने पर भी साधक अपने को "शिवोऽहम्" रूप से अनुभव नहीं कर सकता, अर्थात् जीवन्मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। कारण यह है कि पशुत्व के निवृत्त होने पर भी पशुत्व निवृत्ति की अनुभूति तब तक नहीं हो सकती जब तक चित्त अथवा बुद्धि निर्मल न हो। उसके लिए विधिपूर्वक साधना की आवश्यकता है। इस साधना से चित्त शुद्ध होता है और बौद्ध ज्ञान का उदय होता है। बौद्ध ज्ञान का उदय होने पर बौद्ध अज्ञान निवृत्त हो जाता है। तब जीव, वास्तव में जो शिव रूपी ही है, उसका प्रत्यक्ष रूप में अनुभव कर सकता है। यही जीवन्मुक्ति है। उस समय भी प्रारब्ध कर्म रहता है एवं उसका फल स्वरूप भोगाभास भी रहता है। भोग की निवृत्ति तथा प्रारब्ध की निवृत्ति हो जाने पर पौरुष ज्ञान का उदय होता है एवं साधक शिवभाव से स्वरूप-स्थिति प्राप्त करता है।

वेदान्त मत तथा तान्त्रिक मत दोनों ही मतों में जीवन्मुक्ति की विशिष्टता देखी जाती है। वेदान्त में तत्त्व-ज्ञान के अनन्तर चित्त के परिकर्म और वासना की निवृत्ति जब तक नहीं होती, तब तक जीवन्मुक्ति नहीं होती, किन्तु विदेह-मुक्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती, कारण कि जीवन्मुक्ति न होने पर भी देहान्त में कैवल्य अवश्यंभावी है। तान्त्रिक मत में दीक्षा के द्वारा पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी अर्थात् पशुभाव (पशुत्व) के हट जाने पर भी जीवन्मुक्ति का उदय नहीं होता। क्योंकि पशुभाव की निवृत्ति का अनुभव देहस्थिति काल में बुद्धि क्षेत्र में ही हो सकता है। जब तक बुद्धि परिमार्जित नहीं होती तब तक उक्त अनुभव का उदय नहीं हो सकता। इस कारण दीक्षा का महत्त्व होने पर भी जीवन्मुक्ति के लिए साधन की आवश्यकता होती है।

२–पूर्ण सत्य में द्वैताद्वैत का विभाग नहीं है

पूर्ण सत्य में कल्पना का स्थान नहीं है। जब तक देह-दृष्टि है तब तक सीमाबद्ध भाव रहता है, इसलिए मन कार्य करता है एवं कल्पना का उदय होता है। इस पूर्ण सत्य का माँ ने अपनी अनुपम भाषा में 'चरम-परम' के नाम से उल्लेख किया है। जो बाहर से इस सम्बन्ध में आलोचना करता है वह द्वैत-भूमि में रह कर अद्वैत तत्त्व को समझने की चेष्टा करता है। अद्वैत की चर्चा

करने पर भी उसका लक्ष्य द्वैत में ही रहता है। देहात्म-बोध से जब तक छुटकारा नहीं मिलता तब तक यही स्वाभाविक है। किन्तु जो अद्वैत का साधक है, उसका लक्ष्य एक में ही बँधा रहता है। वह बहु में एक को ही देखने की चेष्टा करता है—बहु में जो एक अनुस्यूत है उस एक में ही उसका लक्ष्य रहता है। वह देखता है कि एक ने ही अनन्त रूपों में, अनन्त भावों में आत्मप्रकाश किया है। उसकी दृष्टि में अनन्त या नाना विचित्रताओं के रहते भी वस्तुतः वह एक ही है, क्योंकि उसकी दृष्टि में भंगि-भेद नहीं है। इसलिए वहां द्वैताद्वैत का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु जगत् के जीव साधारणतः द्वैत-भूमि में रहते हैं, इस कारण उनकी दृष्टि में भंगिभेद है। इसलिए उन लोगों की जब जहाँ जिस प्रकार की दृष्टि रहती है तब वहां उस प्रकार के दृश्य का उन्हें दर्शन होता है। सर्व व्यापक शाश्वत एक का दर्शन लाभ नहीं होता—अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता।

सर्वत्र 'तत्' को देखना—यही ब्रह्म दृष्टि है। यदि किसी दृष्टि में 'तत्' के सिवा और कुछ भासता है या प्रतीत होता है, तो जानना होगा कि वहाँ अविद्या या अज्ञान का खेल रह गया है। नाम, रूप, गुण—सभी उसी एक के हैं, केवल यही नहीं, सब कुछ ही वह एक ही है। वस्तुतः एकमात्र वह एक ही है—वही स्वयं प्रकाश रूप में अपने में आप प्रकाशमान है, दूसरे का भान नहीं है। यही ब्रह्मज्ञान है। दूसरे का भान रहने पर ही समझना होगा कि अज्ञान है और वह अपना कार्य कर रहा है।

यह जो एक है उसको जैसे स्वप्रकाश कहा जाता है वैसे ही उसे अव्यक्त या अप्रकाश भी कहा जा सकता है। क्योंकि दूसरा न होने के कारण वह किसके निकट प्रकाशित होगा। इसलिए वह सदा अव्यक्त, सदा 'निहितं गुहायाम्' है।

३—नित्य लीला क्या है

भगवान् निरन्तर स्वयं अपने साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। वे नित्य हैं, इसलिए उनकी लीला भी नित्य है। अज्ञान की क्रिया रहने पर इस नित्य लीला की कल्पना नहीं की जा सकती। पहले अद्वैत बोध में स्थिति प्राप्त करना आवश्यक है। तब दिखाई देता है कि एक ही नाना रूपों में सजकर अपने साथ आप ही सर्वदा क्रीड़ा कर रहे हैं। अनन्त प्रकारों में वह एक ही द्वितीय बनते हैं एवं अनु-रूप रस का आस्वादन करते हैं। भोक्ता वे हैं, भोग्य वे हैं और भोग भी वे ही हैं—द्वितीय के लिए स्थान नहीं है, फिर भी अनन्त प्रकारों से द्वितीय का स्वांग उन्होंने रचा रखा है। यह कृत्रिम द्वितीय वस्तुतः 'एकमेवाद्वितीयम्' है। अद्वैत

की एक दिशा है, वह लीलातीत है, निरंजन, निष्क्रिय है। यहाँ किसी शक्ति की क्रिया नहीं है। पृथक् रूप से शक्ति की सत्ता भी वहाँ नहीं है, सब शक्तियाँ वहाँ अन्तर्लीन हैं। उस समय वे अपने में आपही मगन हैं, सुषुप्त हैं। वह स्वयं-प्रकाश अथवा अप्रकाश हैं। उसकी दूसरी एक दिशा है। वह निरन्तर लीलामय और सक्रिय है। दोनों ही नित्य और दोनों ही सत्य हैं। वस्तुत: दोनों ही एक और अभिन्न हैं—क्योंकि अखण्ड में खण्ड अथवा विभाग की कल्पना का कोई अवकाश नहीं है। भगवान् अनन्तशक्ति सम्पन्न हैं, इसी कारण उनकी अनन्त लीलाएँ हैं। उनकी सभी लीलाएँ स्वरूपत: चिन्मय, आनन्दमय और अप्राकृत हैं। अविद्यातीत होने के कारण लीला अप्राकृत कही जाती है। वे एक होकर भी अनन्त हैं, इसीलिए उनकी क्रीडाओं की इयत्ता नहीं है। रसरूप से एक होने पर भी वे अनन्त हैं। इसीलिए उनके रसास्वादन के वैचित्र्य का भी अन्त नहीं है। स्मरण रखना होगा कि भगवान् की इस नित्य लीला में संकोच नहीं है, विभाग नहीं है, द्वन्द्व नहीं है और अज्ञान नहीं है-जिसका अस्तित्व प्रतीत होता है वह भी लीला का ही अंग है। इस कारण वह भी चिन्मय, अप्राकृत और आनन्दमय है। लीला केवल अभिनयमात्र है। रसास्वादन के बहाने से रंगमंच में उसका आयोजन होता है। माँ कहती हैं, "वे स्वयं हैं—वही जो स्वयं अपने साथ आप क्रीड़ा कर रहे हैं। यह नित्य लीला है। उसी स्थान में, जिस स्थान में जो प्रकाश है, सब चिन्मय राज्य का व्यापार है न! वहाँ का भाग-विभाग भी चिन्मय है, क्योंकि अप्राकृत है।"

शक्तिसूत्रकार ने कहा है "स्वेच्छया "स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" अर्थात् वे स्वयं अपने को भित्ति बना कर उसमें अपने से अभिन्न रूप में नित्य स्थित विश्व को भिन्न की तरह प्रकट करते हैं। उसमें उनकी अपनी इच्छा या स्वातन्त्र्य ही एकमात्र कारण है। यह उनका स्वभाव या लीलामात्र है। यहाँ दूसरे के लिए कोई स्थान नहीं है। निमित्त वे ही हैं, उपादान भी वे हैं—कर्ता वे हैं, कर्म वे हैं, करण वे हैं, यहाँ तक कि देश, काल आदि आधार भी वे हैं, केवल ये ही नहीं, क्रिया भी वे हैं। एक चैतन्यरूपी वे विविध स्वांग बना कर नाना प्रकारों से क्रीड़ा करते हैं, अपने साथ आप ही। और सब क्रीड़ाओं के मध्य में भी वे लीलातीत रूप से अपनी क्रीड़ा को स्वयं ही देखते हैं। लीला करते भी वे हैं, देखते भी वे हैं, अपनी क्रीड़ा के अतीत भी वे हैं। दूसरे किसी स्थल में कहा गया है—"तस्य पुनर्विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेवाखिलम् अभे-

देनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किंचिद् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपि तु स एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।"

अर्थात् ये विश्वातीत हैं, वे विश्वमय हैं, वे परमानन्दमय घनीभूत प्रकाश-स्वरूप हैं, सब कुछ उनमें अभिन्न रूप से स्फुरित हो रहा है, उनके पृथक् कोई ज्ञाता नहीं है, ज्ञान नहीं है—सब ज्ञाता वे हैं, सम्पूर्ण ज्ञेय भी वे हैं। एकमात्र वे ही अनन्त विचित्रताओं के साथ सर्वदा और सर्वत्र प्रतिभासमान हो रहे हैं। यह उनकी नित्य लीला है।

४–सब कुछ ठीक है

माँ कहती हैं, "जहाँ से जो कोई जो कुछ कहे उसका सब कुछ ठीक है। कुछ भी नहीं अटकेगा।" वास्तविक बात है, जहाँ अनन्त विरोधों का समन्वय होता है वहाँ द्विधा नहीं रहती है। जहाँ मिथ्या भी मिथ्या हो जाता है वहाँ भ्रम या विपर्यय नाम की वस्तु रह ही नहीं सकती है। जो कुछ है, जो कुछ भासता है, वह उनका आश्रय लेकर विद्यमान है एवं उनके आभास से ही भासमान है। जो जिस दृष्टि से उस ओर देखेगा वह वही देखेगा, एवं प्रत्यक्ष दृष्टिकोण से विचार करने पर वही सत्य ठहरता है। जो कहते हैं, अद्वैत में जीव जगत् सभी कुछ हैं, कुछ भी छूटता नहीं–द्वैत रह कर भी अद्वैत है, वे भी ठीक ही कहते हैं। और यह भी सत्य है कि जहाँ पर विशुद्ध अद्वैत है, वहाँ पर द्वैत का कोई स्थान नहीं है। जीव और जगत् वहाँ कुछ भी नहीं भासते। एक ही समय में दोनों बातें सत्य हैं, मगर दृष्टि के अनुसार। यदि दृष्टि का त्याग कर दिया जाए तो फिर कुछ भी कहना नहीं बनता। वह भी सत्य है। इसलिए कहा जाता है "प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च" अर्थात् ज्ञान के प्रस्थान विभिन्न प्रकार के हैं। इनमें प्रत्येक प्रस्थान अधिकार के अनुसार किसी-न-किसी के लिए श्रेष्ठ और हितावह है। अधिकार, रुचि और सामर्थ्य की विचित्रता के कारण उपदेश का भेद प्रतीत होता है।

५–भगवान् का अवतार होता है क्या ?

हमारे देश में अतिप्राचीन काल से ही किसी न किसी आकार में अवतार-वाद प्रचलित है। ख्रिष्टीय धर्म-समाज में भी (Descent of God as man) अर्थात् नर के रूप में भगवत्सत्ता का अवतरण होता है, यह सिद्धान्त प्रचलित है। इस्लाम धर्म में भी प्रकारान्तर से अवतारवाद नहीं है, सो बात नहीं है।

व्याख्या की निपुणता से समझाने की कोशिश करने पर भी किसी-न-किसी प्रकार से भगवत्शक्ति का अवतरण माना ही जाता है। बौद्धों में, विशेषतः त्रिकायवादी महायान बौद्धों में, निर्माणकाय के रूप में अवतारवाद ने स्थान ग्रहण किया है। इससे सिद्ध होता है कि एक प्रकार से प्रत्येक धर्म में अवतार तत्त्व स्वीकृत हुआ है साथ ही साथ उत्क्रमण-सम्बन्धी सिद्धान्त का भी अधिकांश कर्मों में ग्रहण हुआ है। हमारे देश में प्राचीन काल में स्पष्ट रूप से ही ज्ञानी भक्तों के उत्क्रमण का विषय वर्णित है। देवयान-गति के प्रसंग में भी प्रकारान्तर से उत्क्रमण का ही समर्थन है। अर्थात् ज्ञानी भक्त प्रारब्ध कर्म के अन्त में देह-त्याग के समय सुषुम्णा नाडी का सहारा लेकर ब्रह्मरन्ध्र का भेद करके सूर्य किरणों के सहारे सूर्यमण्डल में प्रवेश करते हैं एवं उसके अनन्तर सूर्यमण्डल का भेद करके ऊपर विरजा-जल तक जाते हैं। इस प्रकार क्रम से प्राकृत अथवा जड़ सत्ता से उनके स्वरूप की चित्त-सत्ता मुक्ति प्राप्त करती है। तब वे परम व्योम में अथवा महा-वैकुण्ठ में अपने भाव के अनुरूप भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं। अवतारवाद और उत्क्रमणवाद—उतरने और चढ़ने की बात है। अतएव जानना होगा कि ऐसी एक स्थिति है जहाँ देहगत और अवस्थागत भेद या विचित्रता के माने जाने के कारण उतरने और चढ़ने की सम्भावना होती है। कारण-जगत् अथवा महाकारण-जगत् से कार्य-जगत् में शक्ति का अवतरण होता है द्वितीय पक्ष में कार्यक्षेत्र से शक्ति अपना व्यापार सम्पन्न करके कारण अथवा महाकारण सत्ता में आरूढ़ होती है।

इस अवतरण और आरोहण व्यापार को अन्यान्य सकल सिद्धान्तवादियों के समान माँ भी स्वीकार करती हैं। किन्तु माँ कहती हैं यद्यपि विशेष स्थिति में उतरना और चढ़ना ये दोनों ही सत्य हैं, फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी भी स्थिति है जहाँ उतरने चढ़ने का प्रश्न ही नहीं रहता। वही परिपूर्ण स्थिति या परमस्थिति है, जिसका 'चरम परम' नाम से कभी-कभी वे निर्देश करती हैं। देह-सत्ता का ज्ञान रहने पर देह की गति का प्रश्न सार्थक होता है। किन्तु जिस स्थिति में देह है या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ उत्क्रमण अथवा अवतरण इन दोनों का ही कोई अर्थ नहीं निकलता। जहाँ पर एक और अखण्ड है वहाँ देश अथवा काल की या आकार की किसी तरह की सीमा या इयत्ता रह नहीं सकती। वह सत्ता, जो वास्तव में निरवच्छिन्न है, किसी विशिष्ट देश, काल अथवा आकृति के साथ सीमाबद्ध न होकर भी असंगरूप से प्रत्येक के अन्दर विद्यमान रहती है। इस दृष्टि से देखने पर समझा जा सकता है कि अव-

तरण-आरोहण है यह भी जैसे सत्य है, वैसे ही अवतरण भी नहीं आरोहण भी नहीं, यह भी सत्य है। मूल में यदि एक ही सत्ता है तो ऐसी परिस्थिति में जो उतरती है वही चढ़ती है, यह कहना ही पड़ेगा एवं जिस स्थान में अवतरण और आरोहण होता है वह भी उस सत्ता से भिन्न और कुछ नहीं है। केवल यही नहीं उतरना चढ़ना क्रिया भी स्थूल दृष्टि से परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह मूल में परम सत्ता का ही केवल प्रकाश-भेद है। इसलिए माँ ने कहा है— जो उतरते हैं, जहाँ से उतरते हैं, और जहाँ उतरते हैं—सभी एक हैं—उसके सिवा और कुछ नहीं है।

६—उनमें सब कुछ सम्भव है

शास्त्र के अनुसार अघटन घटनपटीयसी महाशक्ति का नाम माया है। अर्थात् जो शक्ति जो घटनेवाली बात न हो उसे भी घटित कर सकती है अर्थात् असम्भव को सम्भव कर सकती है, उसी का नाम माया शक्ति है। वास्तव में वह भगवान् की ही स्वातन्त्र्य शक्ति का नामान्तर है। जीव और जगत् की दृष्टि से कार्य-कारण शृंखला के नियम के अनुसार नियति के अमोघ शासन के रूप में जो प्रतीत होता है वह उनके लिए असम्भव तो नहीं ही है, बल्कि अति साधरण व्यापार के रूप में परिगणित होता है। उनकी इच्छा ही प्रकृति के नियम का मूल है। जगत् उक्त नियम के अधीन है। इसलिए जगत् और जीव उक्त नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। इसी कारण बद्धावस्था में यह नियम नियति के रूप में ही प्रतीत होता है। किन्तु जो इच्छा जागतिक नियम की मूल है उस इच्छा के समीप इस नियम का बन्धन नहीं रहता। इच्छा तीनों कालों में नियम के रूप में अपना स्वरूप प्रकट करती है। कारण से कार्य का आविर्भाव इसलिए सम्भव होता है। किन्तु जहाँ पर चैतन्यमय स्वातन्त्र्य विराजमान रहता है, वहाँ अतीत, अनागत का बन्धन नहीं है एवं कार्यकारणभाव भी नहीं रहता है। वहाँ नित्य वर्तमान काल रहता है, इसलिए वहाँ वह इच्छा ही अप्रतिहत स्वातन्त्र्य के रूप में अपना प्रकाश करती है। इस कारण सब जीव और जगत् माया के अधीन हैं। किन्तु भगवान् स्वयं माया के अधीश्वर हैं। सम्भव और असम्भव की सीमा-रेखा अल्पज्ञ और अल्पशक्ति जीव को प्रतीत होती है। किन्तु भगवान् की दृष्टि में असम्भव कोई बात ही नहीं है। एक भक्त ने विश्वजननी को लक्ष्य कर कहा था—"क्व वा वैधी सृष्टिः पतति यदि दृष्टिस्तव शिवे।" अर्थात् उसकी कृपा प्राप्त होने पर अघटित भी घट जाता है। इसी कारण अनेक जगह

बहुत से प्रसंगों में माँ ने भगवत्कृपा के ऊपर निर्भर रहने को कहा है। क्योंकि उससे सब कुछ सम्भव है।

७–बुद्धि से तो धारण नहीं किया जाता

माँ ज्ञान बुद्धि द्वारा तत्त्व समझने को 'बोझा' (समझ) शब्द से बहुधा श्लेषपूर्वक वर्णन करती हैं। बोझा शब्द से भार का भी बोध होता है। मनुष्य जब तक भाराक्रान्त रहता है तब तक उसे जीवन की सहज और सरल गति प्राप्त नहीं हो सकती। भार के निवृत्त होने पर जब स्वयं अपने को हल्का जानता है एवं आगन्तुक मल से आछन्न नहीं रहता तब अत्यन्त गम्भीर तत्त्व भी अनायास ही उसमें स्फुटित हो उठता है। पूर्व संस्कारों के अवलंबन से मन, बुद्धि और चित्त का जो व्यापार है उसी का नाम 'समझना' है। व्यक्तिगत संस्कार, रुचि के भेद, अनन्त वासनाएँ, विविध प्रकार की दृष्टिभंगियाँ, अधिकार-भेद, आशा और आकांक्षा के आकर्षण, राग-द्वेष की क्रिया इन सब भावों से अपने अन्तः-करण को पूर्णरूप से यदि निर्मुक्त न किया जा सके तो सत्य का दर्शन होना असम्भव है। सारांश यह कि पूर्व संस्कार अथवा वासनाओं के साथ उत्पन्न दृष्टिभंगी (Prejudice and pre-Conceived notion) से अपने को मुक्त न कर सकने पर अर्थात् रंजित दृष्टि से छुटकारा पाकर स्वच्छ सरल दृष्टि प्राप्त न कर सकने पर सत्य का स्वाभाविक रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। योगी और ज्ञानी पुरुष निर्विकल्प ज्ञान की जो प्रशंसा करते हैं उसका एक मात्र उद्देश्य यही है कि विकल्प से अपने को निर्मुक्त न कर सकने पर अविकृत सत्य रूप के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। इसीलिए अहंकार और ज्ञान के गर्व को हटाकर सरल बच्चे के समान स्वच्छ और संस्कारहीन चित्त से गुरु के समीप विद्याग्रहण के लिए जाना पड़ता है। अर्थात् ज्ञान से (Conceptual element) अर्थात् विकल्प का अंश यदि न हटाया जा सके तो वह ज्ञान बोध रूप सहज ज्ञान अथवा (Pure intuition) अवस्था में नहीं जाया जा सकता। विकल्प ही ज्ञान का 'बोझा' है। इस बोझे के त्याग के साथ ही साथ जो ज्ञानहीन सरल शिशु के भाव का उदय होता है, वही परमहंसों के उपयोगी महाज्ञान के धारण का योग्य आधार है।

८–चाहना ही स्वभाव है

माँ ने कहा है, यह चाहना ही स्वभाव है। वास्तव में जो स्वरूप ज्ञान 'आनन्द' है उसे चाहना। 'उपनिषदों में कहा है—'भूमा ही सुख है, अल्प में सुख नहीं है।' भूमा अनन्त अपरिच्छिन्न है जो किसी प्रकार की परिधि में बांधा

नहीं जाता। वस्तुतः यही आत्मस्वरूप है, वही आनन्द है, जहाँ परिच्छिन्नता या खण्डता अथवा सीमाबन्ध का भाव है वहाँ कोई न कोई आवरण रह गया ऐसा समझना चाहिए। मनुष्यमात्र में ही, केवल मनुष्य में ही क्यों, जीव-मात्र में ही अनादि-काल से ही यह चाहने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। जान-बूझकर हो, चाहे अनजान में हो, जिस तरह भी हो सभी उस एकमात्र वस्तु को ही चाहते हैं। जीवमात्र ही अभाव से ग्रस्त है। यह अभाव का ज्ञान स्पष्टरूप से हो, चाहे अस्पष्ट रूप से हो, सभी जीवों में विद्यमान है, एवं यही उनकी कर्म में प्रवृत्ति को उद्दीप्त करता है। वस्तुतः आनन्द ही एकमात्र प्राप्यवस्तु है एवं वह आनन्द से च्युत हुआ है अथवा च्युत न होते हुए भी च्युत हुआ है ऐसा वह बोध करता है; इसीलिए उसे प्राप्त करने के लिए सब प्रकार की चेष्टा करता है। अन्य वस्तु आनन्द के साधन के रूप से ग्राह्य होती है, किन्तु आनन्द किसी का साधन नहीं है। आनंद ही एक मात्र साध्य है। जब तक आनन्द की प्राप्ति नहीं होती तब तक चाह नहीं मिटती एवं मन की चंचलता की भी निवृत्ति नहीं होती। वास्तव में मनुष्य का मन इस आनन्द के रूप से अखण्ड रूप में आत्मसत्ता को प्राप्त करने के लिए भ्रमवश इधर-उधर भटकता है। बच्चा जैसे भूख के समय चंचल हो उठता है, मन की चंचलता भी वैसी ही है। बच्चे की भूख हट जाने पर उसमें फिर चंचलता नहीं रहती, वैसे ही मन भी अपनी भोग्यवस्तु अर्थात् स्वरूप आनन्द को प्राप्त होने पर फिर चंचल नहीं रहता। चाह चंचलता का ही लक्षण है एवं एक प्रकार से यह दुःख का हेतु है, ऐसा प्रतीत होने पर भी उसका उद्देश्य मंगलमय है। क्योंकि उसी से कर्म में प्रवृत्ति होती है एवं चरम अवस्था में प्राप्ति के आनन्द पर अधिकार होता है। खोई हुई मणि की खोज में अनादिकाल से मन व्यर्थ-ही भटक रहा है, ठीक वैसे ही जिसकी मणि खो गयी हो वह सर्प। गुरुजी की कृपा से एवं अपने पुरुषार्थों के बल से जब उस मणि का पता लग जायगा, तब कृत्यकृत्य हो जाएगा एवं उसकी सब प्रकार की चाह एक प्राप्ति से ही मिट जाएगी। माँ कहती हैं, 'अभाव न रहे तो यह चाह ही स्वभाव है।' इसलिए चाह उस परम मंगलमयी महाशक्ति का मंगल व्यापार है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। आपाततः विरुद्ध रूप से प्रतीत प्रतीत होने पर भी, कभी न कभी वह चाह ही मंजिल तक अर्थात् प्राप्ति तक पहुँचा देगी। वास्तव में जिसके अन्दर स्पष्ट रूप से चाह जागी नहीं है उसे अभी भी बहुत काल-यापन करना होगा। क्योंकि चाह हुए बिना चाह मिटती नहीं।



पांच

१–चूड़ाला और शिखिध्वज का उपाख्यान

यह उपाख्यान योगवासिष्ठ रामायण के निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्द्ध में विस्तार पूर्वक वर्णित है। इस प्रसंग में यदि उसका सारांश संकलित कर दिया जाए तो साधारण पाठकों को समझने में सुविधा होगी।

कहा गया है कि सप्तम मन्वतर के अन्तर्गत चौथे महायुग के द्वापर में राजा शिखिध्वज ने मालव देश के शासक के रूप में कुरुवंश में जन्म लिया था। युवा-वस्था के प्रारम्भ में सौराष्ट्र के राजा की कन्या परम सुन्दरी बालिका चूड़ाला के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ। वे बुद्धिमान् वीर तथा राजकार्य में निपुण थे एवं प्रजा को प्रसन्न रखना ही उनके जीवन का मुख्य व्रत था। नव-विवाहिता पत्नी के साथ विविध स्थानों में पर्यटन और आनन्द विहार में उन्होंने बहुत दिन व्यतीत किये। शिखिध्वज और चूड़ाला एक दूसरे के प्रति इतने अनुरक्त थे कि लोकसमाज में बातचीत के सिलसिले में वे बहुधा अर्धनारीश्वर कहे जाते थे। उस अवसर पर सत्संग और भगवत्कृपा-वश राजा और रानी का चित्त आध्यात्मिक विचार में विशेष-रूप से उलझा रहता था। उनमें से चूड़ाला के हृदय में पहले वैराग्य का उदय हुआ था एवं आत्मविचार की प्रधानता ने पूर्ण रूप से आसन जमाया था। एकमात्र अखण्ड महासत्ता या सर्वव्यापिनी चित्त-शक्ति ही समग्र विश्वलीला की मूल भित्ति स्वरूप है—इस विषय में चूड़ाला को अटलज्ञान प्राप्त हुआ था। क्रमशः वह ज्ञान परोक्ष अवस्था से अपरोक्ष आत्मानुभूति में परिणत हुआ। इस कारण सुदीर्घ संसार स्वप्न से प्रबुद्ध होकर चिर शान्तिमय आत्मस्वरूप में विश्राम प्राप्त करने में समर्थ हुई। कहना होगा, राजा शिखिध्वज उक्त सौभाग्य से वंचित रहे।

आत्मसाक्षात्कार के कारण चूड़ाला में जिस नित्यतृप्त और आत्माराम अवस्था का उदय हुआ था, उसके प्रभाव से उनकी अन्तःप्रकृति की तो क्या कहें, बाह्य शरीर तक अलौकिक शोभा और दीप्ति से समुज्ज्वल हो उठा था। अन्तः-

करण में प्रशान्त प्रेम और रागद्वेष के अभाव के सक्रिय रहने से चूड़ाला की मुख शोभा से ऐसी एक सर्वांग सुन्दर सुषमा का आविर्भाव हुआ था कि जिसे देखकर राजा शिखिध्वज तक विस्मित हो उठे थे। एक दिन उन्होंने चूड़ाला को एकान्त में बुलाकर उनकी इस अभिनव अनुपम शोभा का कारण पूछा। चूड़ाला ने स्पष्ट रूप से राजा को समझा दिया कि बाहरी किसी कारण से इस अपूर्व सौन्दर्य का आविर्भाव न हुआ है और न हो सकता है। जीवन के खण्ड भावों का परित्याग होने पर जो अखण्ड सत्ता भीतर और बाहर सर्वत्र समानरूप से असर करती है उसी से यह अपूर्व शोभा उत्पन्न हुई है। शिखिध्वज कुछ बहिर्मुख और तर्क-प्रधान थे, इसलिए वे चूड़ाला के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से विश्वास के साथ समझ नहीं सके। क्योंकि उन्होंने सोचा कि निराकर आत्मा का साक्षात्कार होने पर स्थूल और साकार शरीर में शोभावृद्धि किस प्रकार होगी। उन्हें विश्वास तो हुआ नहीं, उल्टे उन्होंने चूड़ाला के प्रति उपहासपूर्ण वाक्यों का प्रयोग किया। उनकी धारणा हुई कि चूड़ाला भाव में उन्मत्त तथा युक्तायुक्त-ज्ञानविहीन है। इसलिए उनका वाक्य उन्मत्त-प्रलाप के सिवा और कुछ नहीं है। चूड़ाला को जब यह ज्ञात हुआ कि मेरे जीवन का वैशिष्टच अत्यन्त गम्भीर है एवं उसके रहस्य को स्थूल-दृष्टि राजा समझ नहीं सक रहे हैं, तब उन्होंने स्वामी के साथ आपाततः उस विषय में अर्थात् आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में विचार करना छोड़ दिया।

उस समय ज्ञान के उदय से चूड़ाला को एक ऐसी सुशान्त और सुसमाहित अवस्था प्राप्त हुई थी, जिस अवस्था में साधारणतः अभावमूलक इच्छा उदित नहीं होती है। किन्तु स्वभाव की लीला ने नित्यतृप्त अवस्था में भी मन की मौज के अनुसार इच्छा का उदय हो सकता है। चूड़ाला का भी वही हुआ था। आकाश-गमन की अकारण इच्छा उस समय उनके हृदय में अधिकार जमा बैठी। तब उन्होंने ऐश्वर्य भोग का परित्याग कर कुछ समय के लिए एकान्त स्थान में गमन किया और आसन बाँध कर विधिपूर्वक प्राणायाम किया। उक्त विधिपूर्वक प्राणायाम के अभ्यास से उन्हें सिद्धि प्राप्त हो गयी। अनन्त योग सिद्धियाँ अल्प काल में उन्हें प्राप्त हो गयीं साधारणतः खण्ड-सिद्धि की तह में देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि की प्रधानता रहती है, किन्तु चूड़ाला को आत्मतत्त्व ज्ञात था, इसलिए उनको सिद्धिलाभ औरों की अपेक्षा सहज साध्य हुआ था। अणिमादि अष्टैश्वर्य, एक साथ बहुत से शरीरों की रचना एवं उनमें अनुप्रवेश अर्थात् कायव्यूह, पर कायाप्रवेश आदि योग विभूतियाँ सभी उनको प्राप्त हुई थीं।

चूड़ाला के महाज्ञान की प्राप्ति तथा इस प्रकार के योगैश्वर्य के लाभ का राजा शिखिध्वज को कुछ पता न था। चूड़ाला ज्ञान के उपदेशों के द्वारा सदैव स्वामी को प्रबुद्ध करने की चेष्टा करती थीं। किन्तु उस समय भी शिखिध्वज के जागने का समय आया न था। इसलिये वे सब उपदेश अरण्यरोदन के समान उनके निकट व्यर्थ हो जाते थे। वे अपने को बुद्धिमान समझते थे एवं अपनी पत्नी चूड़ाला को मूर्ख बालिका समझते थे।

दीर्घ काल तक मोह में मग्न रहने के अनन्तर भोग-वासना और अन्तःकरण में स्थित कषायों के परिपक्व होने के कारण अपने आप ही शिखिध्वज के मन में वैराग्य का उदय हुआ। उस समय इतना अधिक वैराग्य हुआ कि वे गृहत्याग के लिये अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उन्हें उस सम्बन्ध में विलम्ब सहन न हो सका। चूड़ाला से कहने पर इस विषय में चूड़ाला ने उनसे युवावस्था के अपने कर्तव्यों तथा राजधर्म के पालन का परित्याग करके चले जाने का निषेध किया। किन्तु शिखिध्वज चूड़ाला के निषेध-वाक्य पर दृष्टिपात न करके एक दिन अर्धरात्रि में सुप्तावस्था में अंकशायिनी चूड़ाला को छोड़ कर पारिवारिक सुखसम्पत्ति के साथ राज्य का त्याग कर घर से निकल पड़े। नाना देशों में भ्रमण करने के अनन्तर उन्होंने दक्षिण देश में मन्दर पर्वत की तटभूमि पर गहन जंगल के बीच एक छोटी सी पर्णकुटी बना कर तपस्वी वेष में रहना आरम्भ किया।

उस समय उनका सम्पूर्ण समय कठोर तपस्या में व्यतीत होता था। सन्ध्या-वन्दन, जप-अनुष्ठान, पुष्प चुनना, स्नान, देवपूजन, कन्दमूल भोजन और दूसरी बार जपादि का अनुष्ठान, इस प्रकार उनकी दिनचर्या नियन्त्रित होने लगी।

इधर चूड़ाला ने निद्रा से जाग कर जब देखा कि शिखिध्वज उनका त्याग कर चले गये हैं तब वे उदास होकर उनकी खोज में बाहर निकल पड़ीं। वे योग-सिद्धा थीं, इसलिये एक छोटी सी खिड़की से निकल कर आकाश-मार्ग से भ्रमण करने लगीं। आकाश से भ्रमण करते समय आकाश से ही उन्होंने देखा कि मेरे स्वामी गहन जंगल में हाथ में एक खड्ग लेकर उन्मत्त के समान इधर-उधर घूम रहे हैं। उस समय उनकी इच्छा हुई थी कि मैं आकाश-मण्डल से उतर कर उनके निकट उपस्थित होऊँ एवं उन्हें अपना परिचय दूँ। किन्तु नियति का खेल दूसरे ही प्रकार का दिखाई दिया। उन्हें भविष्य का चित्र स्पष्ट रूप से अंकित दिखाई दे रहा था, उन्होंने सोचा कि अभी राजा के साथ मेरे मिलने का समय नहीं

आया है। अभी भी उस समय के आने में कुछ विलम्ब है। नियति के विरुद्ध चलना उचित नहीं, यह सोच कर उस समय वे राजधानी में लौट आईं एवं पति के प्रतिनिधि के रूप में राज-कर्मचारियों की सहायता से राज्यकार्य-निर्वाह करने लगीं।

इस तरह सुदीर्घ काल—अठारह वर्ष—बीत गया। उस समय शिखिध्वज जरा-जर्जर हो गये थे और उनके वासनादि परिपक्व हो गये थे। चूड़ाला समझ गयीं कि मेरे कार्य का यही शुभ अवसर है। पति को आत्मज्ञान प्रदान करना ही था उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य। इतने दिनों तक उसका अवसर उपस्थित नहीं हुआ था। इसलिये बहुत प्रयत्न करने पर भी उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। किन्तु अब अवसर उपस्थित था। तदुपरान्त योगसिद्धि के प्रभाव से चूड़ाला पुनः आकाशमार्ग से भ्रमण करते-करते मन्दराचल गयीं एवं शिखिध्वज के समीप उपस्थित होने के लिए मन-ही-मन उन्होंने संकल्प किया। किन्तु उन्हें प्रतीत हुआ कि पत्नी के रूप में इस समय उनके निकट उपस्थित होने पर कार्य-सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि उनके ज्ञानपूर्ण वाक्य कहने पर भी पति के निकट वे पत्नी के साधारण वाक्य के रूप में उपस्थित हों, ऐसी सम्भावना है। इस कारण उन्होंने योगबल से ब्रह्मतेजः सम्पन्न, अखण्ड ब्रह्मचर्य के मूर्तिमान विग्रहरूप, एक तपस्वी ब्राह्मण-बालक का रूप धारण किया एवं उक्त तेजोमय दीप्त स्वरूप लेकर वे तपस्वी शिखिध्वज राजा के समीप उपस्थित हुईं।

शिखिध्वज चूड़ाला को देख कर उसे अपनी पत्नी के रूप में पहिचान न सके, उन्होंने उन्हें एक बाल-ब्रह्मचारी समझा एवं समुचित आदर सत्कार कर उनको बैठने के लिये आसन दिया; तब चूड़ाला ने वहाँ बैठ कर पूछा—'आपका तपः साधन किस प्रकार चल रहा है।' शिखिध्वज ने बाल ब्रह्मचारी के रूप और तेज से मुग्ध होकर उनका वास्तविक परिचय जानने की इच्छा प्रकट की।

ब्रह्मचारी ने कहा—"एक समय ब्रह्मपुत्र नारदमुनि सुमेरु पर्वत की गुफा में ध्यान-मग्न थे। ध्यान टूटने के अनन्तर उन्होंने समीपस्थ गंगा की धारा में जल-क्रीड़ा कर रही बहुत सी नग्न सुन्दरी अप्सराओं को देखा। देखते ही उनके प्रति उनकी आसक्ति हो गयी तथा उसके कारण चित्त विकृत और प्राण क्षुब्ध होने से बिन्दु स्खलित हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि नारद वीतराग और निष्काम जीवन्मुक्त पुरुष थे। तथापि प्रबलतम प्रारब्ध के प्रभाव से उनका विवेक नष्ट हो गया था।" इस प्रकार की घटनाएँ किस तरह सम्भव हो सकती हैं यह चूड़ाला ने राजा को भली-भाँति समझा दिया। इस प्रसंग में उन्होंने राजा से मानव शरीर

से सम्बद्ध नाडीचक्र के विज्ञान का विचार और स्वभाव तत्त्वका विश्लेषण किया। उन्होंने आगे कहा—'नारद मुनि ने उस वीर्य को निकटवर्ती एक स्फटिक कुम्भ में रख दिया। समय पर वह गर्भ रूप में परिवर्तित हुआ और सर्वांग पूर्ण होकर पुत्र के रूप में वह घड़े से निकला। कुम्भ से निकलने के कारण पितामह ब्रह्माजी ने बालक का नाम रखा कुम्भ।" ब्रह्मचारी ने आगे कहा—"मैं ही वह कुम्भ हूँ। मैं पिताजी के साथ ब्रह्म-लोक में निवास करता हूँ। चार वेद मेरे मित्र हैं, सरस्वती मेरी माता हैं और गायत्री मेरी मौसी हैं। मैं स्वेच्छानुसार बेरोकटोक समस्त विश्व में विचरण करता हूँ। यह लीलामात्र है, क्योंकि मैं किसी प्रयोजन के वश में नहीं हूँ। मेरे चरण भूमि का स्पर्श नहीं करते और पृथिवी की धूलि से मैले नहीं होते हैं। मेरा शरीर सदैव ग्लानिरहित रहता है।"

शिखिध्वज ने भी उनको अपना सारा वृत्तान्त बतलाया तथा अपनी अवस्था के उपयोगी कर्मोपदेश की उनसे प्रार्थना की। इस पर कुम्भ ने क्रिया की अपेक्षा ज्ञान की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में राजा को एक वक्तव्य दिया। उन्होंने बतलाया, ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है। ज्ञान के अभाव में क्रिया की उपादेयता स्वीकार-योग्य होती है। तदनन्तर वासनातत्त्व को समझाया। शिखिध्वज के व्याकुल होकर ब्रह्मज्ञान की प्रार्थना करने पर कुम्भ ने उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। राजा की समझ में आ गया कि ब्रह्मज्ञान के लिए सबका त्याग करना आवश्यक है, यहाँ तक कि तपस्या का भी त्याग करना चाहिये। पहले वे राज्य, घर, देश, स्त्री—सबका त्याग कर चुके थे। इस समय राज्य के बदले वन में निवास कर रहे थे। इस बार वन का भी त्याग किया। उन्होंने तपस्या के सभी उपकरणों की आहुति दी। कुम्भ ने समझाया, वस्तु का त्याग वास्तविक त्याग नहीं है, क्योंकि वस्तु तो किसी की भी अपनी नहीं है। वस्तु की वासना का त्याग ही वास्तविक त्याग है। इस बार शिखिध्वज को यथार्थ रूप से वासना का त्याग करने के लिये प्रस्तुत होना पड़ा। कुम्भ राजा के मुख की ओर चुपचाप ताकते रहे। राजा ने अपनी सारी सामग्री जला डाली। सामग्री में थे जप की माला, बैठने का आसन अर्थात् मृगचर्म और कमण्डलु। जप-माला और मृगचर्म अग्नि में डाल दिये और कमण्डलु एक श्रोत्रिय ब्राह्मण को दे दिया। भोजन के पात्र आदि भी त्याग दिये। निष्क्रिय होने के लिये क्रियायोग्य सभी पदार्थों का विसर्जन कर दिया। तब देह-त्याग की इच्छा प्रबल हुई—उन्होंने सोचा कि भृगुपतन द्वारा देह का भी विसर्जन कर दूँ।

कुम्भ ने उसमें बाधक होकर कहा—"नहीं, देह-त्याग नहीं करना चाहिए। चित्त का त्याग करो। चित्त-त्याग ही सर्व-त्याग है, देह-त्याग सर्वत्याग नहीं है। मन ही सबका बीज है—देह का भी बीज वही है। मन का त्याग करो। मन का त्याग करने पर ही सर्वत्याग होगा। सबका त्याग होने पर सर्वप्राप्ति अवश्यं-भाविनी है। क्योंकि सर्वत्याग से आत्मप्रसाद और उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान का उदय होता है। जो कुछ चाहता नहीं और कुछ लेता नहीं, उसी को सब कुछ दिया जाता है। यदि सर्वत्याग निष्पन्न करना हो तो त्याग के अभिमान का भी त्याग करो। वासना ही चित्त का स्वरूप है, इसलिये वासना का त्याग ही चित्त-त्याग या सर्वत्याग है। चित्त का बीज अहंकार है, 'मैं कौन हूँ' इस आत्मविचार द्वारा वह नष्ट होता है। क्योंकि विचार से यह ज्ञात होता है कि अहंकार का कार्य कोई भी दृश्य पदार्थ मैं नहीं हूँ। आत्मा स्वच्छ चिन्मात्र है। अहंकार उसका मूल है। अहंकार से ही ममता होती है। उसका त्याग करना चाहिये। चित्त चेत्योन्मुख होने पर ही दुःख का हेतु होता है। चेत्य का उपशम ही शान्ति है। चेत्यभाव का कारण पदार्थसत्ता का बोध है। किन्तु वह बोध भ्रान्तिमात्र है। क्योंकि एकमात्र चिदात्मा ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं है। ब्रह्म वस्तुतः कारण नहीं है, कार्य नहीं है, कर्ता भी नहीं है। आत्मा शुद्ध और मुक्त है, बन्ध और मोक्ष काल्पनिक है।"

शिखिध्वज धीरे-धीरे सब समझ सके—उन्हें ज्ञात हुआ कि ब्रह्म कर्ता नहीं है, इसलिये कार्यरूप जगत् भी वस्तुतः नहीं है—अहन्तादि भी नहीं है। तब उन्होंने 'नमो मह्यम्' कह कर अपने को स्वयं प्रणाम किया। "चेत्य नहीं है" इस बोध के साथ एक मुहूर्त के लिये उन्हें विश्रान्ति प्राप्त हुई। यह निर्वि-कल्प अवस्था का उन्मेष है। कुम्भ ने उन्हें जगाया। उस समय स्वभावतः शिखिध्वज के मन में प्रश्न उठा कि इस परम शान्त पद में द्रष्टा-दृश्य-दर्शनरूप त्रिपुटी का कैसे उदय हुआ, विश्व का स्फुरण क्यों होता है? कुम्भ ने उन्हें सम-झाया—"अहन्ता और इदन्ता स्वभाव से उद्भूत होती हैं। वास्तव में एकमात्र ब्रह्म ही है।" इस तरह धीरे-धीरे दृढ़ता के साथ राजा को कृतकृत्यता प्राप्त हुई। तब राजा के मन में प्रश्न उठा कि इस अमररूप आत्मपद को मैं पहले प्राप्त क्यों नहीं हुआ? कुम्भ ने उन्हें समझाया कि भोगेच्छा न रहने से मन के शान्त होने पर और सब इन्द्रियों के कषाय के परिपक्व होने पर निर्मल गुरुवाक्य चित्त में स्थान प्राप्त करता है। कषाय के परिपक्व होने के अनन्तर गुरुवाक्य ने

उसे प्रबुद्ध किया है, उसके अज्ञान का विनाश किया है और उसके चित्त को विनष्ट किया है। हृदय में जब तक मन की सत्ता रहती है तब तक अज्ञान निवृत्त नहीं होता है। इसके बाद कुम्भ ने राजा को समझाया कि जीवन्मुक्त पुरुष चित्तशून्य होने पर भी सत्त्वहीन नहीं होते हैं, इसलिए वे स्वेच्छा विहार कर सकते हैं। क्योंकि वासना दो ही प्रकार की हैं—घन वासना और तरल वासना। घन वासना ही मलिन होने के कारण पुनर्जन्म की हेतु है। यही वासना चित्त है। जीवन्मुक्त में यह वासना नहीं रहती है, किन्तु तरल या शुद्ध वासना रहती है। उसका नाम सत्त्व है। उससे विहार किया जा सकता है। मूढ़ चित्त ही 'चित्त' है, प्रबुद्ध चित्त सत्त्व कहलाता है।

तदुपरान्त कुम्भ अन्तर्हित हुए और चूड़ाला का रूप धारण कर राजधानी में पहुँचकर पहले की तरह राजकार्य चलाने लगे। कुछ समय के अनन्तर चूड़ाला फिर योग-बल से कुम्भ-शरीर धारण कर शिखिध्वज के निकट लौट आईं। आकर उन्होंने देखा कि राजा निर्विकल्प समाधि में मग्न हुए हैं। तब उन्होंने पर-काय-प्रवेश की प्रणाली से उनके शरीर में प्रवेश करके उन्हें जगा कर उठाया। स्वयं भी पुनः कुम्भ-रूप धारण कर निकट में ही एक जगह सामगान करने लगीं। इधर उस गान का स्वर सुनकर व्युत्थित राजा शिखिध्वज के मन में अहंकार और पूर्वस्मृति का उदय हुआ। उन्होंने नेत्र खोल कर कुम्भ को देखा। उस समय दोनों में विविध प्रकार के वार्तालाप हुए।

यहाँ तक राजा के जीवन की कृतकृत्यता का इतिहास है। इसके बाद कुम्भ और राजा ने कुछ दिन एक साथ व्यतीत किये तथा नाना स्थलों में भ्रमण किया। इस बीच में कुम्भ ने कुशलता के साथ राजा की परीक्षा ली। उन्होंने कहा कि किसी कारणवश दुर्वासा के शाप से मैं रात्रि के समय स्त्री-मूर्ति बन जाता हूँ और दिन में बाल-ब्रह्मचारी कुम्भ के रूप में ही रहता हूँ। इसके अनन्तर कुम्भ की प्रेरणा से महेन्द्र पर्वत पर दोनों का विवाह हुआ और पति-पत्नी के रूप में दोनों कुछ दिन रहे। इस प्रकार राजा की अनासक्ति की दृढ़ता की परीक्षा हुई। बाद में क्रोध की परीक्षा हुई। कुम्भ ने मदनिका के रूप में स्वयं प्रकाशित होकर योग संकल्प से विनिर्मित किसी पर-पुरुष के साथ घनिष्टता बढ़ाने का अभिनय शिखिध्वज को दर्शाया। शिखिध्वज के मन में किसी विरोधी भाव का उदय

होता है या नहीं, यह परीक्षा लेना ही उक्त अभिनय का उद्देश्य था। देखने में आया कि शिखिध्वज के चित्त में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हुआ।

इस प्रकार राग-द्वेष की परीक्षा समाप्त कर चूड़ाला जान सकीं—

नैनं हरन्ति ते भोगा न महत्योऽपि सिद्धयः।
न सुखानि न दुःखानि नापदो न च सम्पदः॥

तब उन्होंने राजा शिखिध्वज को अपना असली परिचय दिया। उन्होंने बतलाया कि मैंने ही योगबल से कुम्भ आदि शरीरों का निर्माण कर आपको समय पर ब्रह्मज्ञान प्रदान किया है और आपकी दृढ़ता की परीक्षा ली है। ध्यान योग से शिखिध्वज ने स्वयं भी सब अतीत वृत्तान्त देख लिये। उन्होंने चूड़ाला को गुरु के रूप में पहचानकर 'गुरुर्मे नमोऽस्तु ते' कह कर उनको प्रणाम किया। सत्य-प्राप्ति के अनन्तर शिखिध्वज की अवस्था का इस प्रकार वर्णन हुआ है—

न तुष्टोऽस्मि न खिन्नोऽस्मि नायमस्मि न चेतरत्।
न स्थूलोऽस्मि न सूक्ष्मोऽस्मि सत्यमस्मि च सुन्दरि॥

यह राजा की अपनी उक्ति है। चूड़ाला ने राजा से पूछा—"राजन्, इस समय आपको क्या अच्छा लगता है? आपकी क्या आकांक्षा है?" राजा ने कहा—"मैं अच्छा बुरा नहीं पहचानता, जो आज्ञा होगी वही करूँगा। चित्त से इष्ट-अनिष्ट भाव हट गया है। जिस समय जो उपस्थित हो जाता है वही करो।" अच्छा प्रतीत होता है, स्तुति नहीं, निन्दा भी नहीं। तुम्हें जो इच्छा है वही।

तदनन्तर उठ कर चूड़ाला ने सात समुद्र के जल से भरे हुए रत्नकलश से राज्याभिषेक का संकल्प कर उस मंगल कलश से पूर्वाभिमुख राजा का स्वराज्य में अभिषेक किया। स्वर्णसिंहासन पर विराजमान राजा से उन्होंने कहा, 'अब आपको मुनियों के योग्य शान्त कर्म का त्याग करके अष्ट लोकपालों का तेज धारण करना होगा।' राजा ने वह स्वीकार किया। महाराज ने तब चूड़ाला को स्नान करा के महारानी के पद पर अभिषिक्त करके पटरानी बनाया। राजा के आदेश से चूड़ाला ने इच्छा-शक्ति के प्रभाव से क्षणभर में विराट् और विशाल सेना की रचना की। तदनन्तर दोनों आडम्बर के साथ महेन्द्र पर्वत से अपनी

राजधानी को गये। सात दिन नगरोत्सव करके शिखिध्वज ने सुदीर्घ काल तक राज्य कार्य सम्पादन कर अन्तिम अवस्था में मोक्षलाभ किया।

२–देह का रहना क्या है

माँ कहती हैं, ज्ञान होने पर फिर संशय-संसार नहीं रहता है, शरीर भी नहीं रहता है। संसार न रहने पर शरीर रहा, यह बात नहीं कही जा सकती। संशय ही संसार है। जब तक हृदय-ग्रन्थि भेद नहीं होता तब तक संशय नहीं छूटता है संशय निवृत्त हुए बिना कर्मक्षय हो गया है, यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ग्रन्थिभेद, संशय-निवृत्ति और सर्वकर्मक्षय एक ही अवस्था की केवल विभिन्न दिशाएँ हैं। परमतत्व का साक्षात्कार होने पर ही इस अवस्था का उदय होता है। तब संसार नहीं रहता है, शरीर भी नहीं रहता, यहाँ तक कि 'नहीं रहता है' यह जो बोध है, वह भी नहीं रहता है। अज्ञान की दृष्टि से शरीर में शरीर के रहने न रहने का प्रश्न उठता है, किन्तु ज्ञानी की स्वरूप-दृष्टि में इस प्रश्न की कोई सार्थकता नहीं है। माँ ने अपनी अनुपम भाषा में समझाया है, 'दो दो—यह अभाव ही तो देह है' इससे देह के रहने का अर्थ है अभाव-ज्ञान का रहना। अभाव ज्ञान के रहने पर उसकी निवृत्ति भी आवश्यक है। जहाँ पर वह नहीं है, वहाँ अभाव की निवृत्ति के लिए कर्म भी नहीं है। वह संसार की अतीत अवस्था है। वह संशयहीन परम स्थिति है—वही स्वभाव या स्वरूप में स्थिति है। यहाँ का द्वन्द्व कोलाहल वहाँ पहुँच नहीं सकता है, वह नित्य निरंजन अवस्था है। इसलिए माँ कहती हैं, 'एकदम धोया पोछा'—'नहीं भी नहीं है'। प्रपंच–निवृत्ति निवृत्ति मात्र है प्रपंचमिथ्या मिथ्या मात्र है। किन्तु जहाँ पर निवृत्ति निवृत्ति हो जाती है एवं मिथ्या भी मिथ्या हो जाता है, वहाँ कुछ कथनीय रहता ही नहीं—उसी का नाम 'धोई पोंछी' अवस्था है, वहाँ 'नहीं' भी रहता नहीं, 'नहीं' नहीं हो जाता है। पहले 'नीगेशन', उसके अनन्तर 'नीगेशन' का 'नीगेशन', मनुष्यों की भाषा में इससे अधिक स्पष्ट रूप से चरम तत्त्व का वर्णन नहीं हो सकता। अतएव शिखिध्वज ने जो चूड़ाला के उपदेश से ज्ञान होने के अनन्तर राजपाट किया था यह कहा जाता है, वह सांसारिक दृष्टि से है, स्वरूप-दृष्टि में तो इस तरह की बात उठ ही नहीं सकती।

३–धारा, धरा और अधरा

माँ कहती हैं—'धारा' (मार्ग) के रहने पर ही 'धरा' (ग्रहण) है, और

'धरा' (ग्रहण) के रहने पर ही 'अधरा' (अग्रहण) भी है, यदि पकड़ना हो तो किसी-न-किसी पद्धति या उपाय का अवलम्बन करना होगा।

यदि अनुपाय मार्ग का भी शास्त्रों में वर्णन आया है, यह सत्य है, तथापि यह स्मरण रखना होगा कि इस जगह भी अनुपाय का भी उपाय के रूप में अवलम्बन हुआ है। अनुपाय शब्द से 'उपाय का अभाव' यह अर्थ प्रतीत नहीं होता। 'अत्यन्त क्षुद्र उपाय' यही अनुपाय शब्द का तात्पर्य है। इसी कारण अनुपाय का भी उपाय के रूप में प्रतिपादन किया गया है पद्धति अथवा मार्ग का अनुसरण करके चलते रहने पर कभी-न-कभी उनकी (भगवान् की) कृपा का उदय होता है। उस समय वे सहसा अपने को 'धरा' (पकड़ा) देते हैं। धारा (पद्धति) का अनुसरण कर कितने समय तक एवं किस प्रकार चलना होगा, यह बतलाना कठिन है, क्योंकि सबके अधिकार एकसे नहीं होते हैं। फिर भी यह सच है कि यदि गम्य स्थान पर पहुँचना हो तो मनुष्य की ओर से धारा (पद्धति) का अवलम्बन अवश्य होना चाहिए। हाँ, उनकी अहैतुकी कृपा के कारण, धारा (पद्धति या मार्ग) का अवलम्बन न करने पर-धारा-अवलम्बन करने के फल की प्राप्ति नहीं हो सकती हो, ऐसी बात नहीं। किन्तु यहाँ पर, उसकी आलोचना को आवश्यकता नहीं है। जीव का कर्तव्य है, किसी-न-किसी मार्ग का अवलम्बन करके उनको (भगवान् को) लक्ष्य में रखकर चलना। लक्ष्य-भ्रष्ट न हो, यही उसका प्रथम ध्येय विषय है, लक्ष्य स्थिर रहने पर 'धरा' (ग्रहण) अवश्यम्भावी है। वस्तुतः 'धरा' नाम की पृथक् कोई वस्तु नहीं है—एकमात्र 'अधरा' ही सर्वातीत भाव से विराजमान रहते हैं। किन्तु जब साधक धारा का अवलम्बन करके चलता है उस समय वह विश्वातीत अधरा ही कृपा-परवश हो कर उतर आते हैं एवं दुर्बल साधक के हाथ अपने को पकड़ा देते हैं। साधक जब कोई प्रश्न करता है तब किसी-न-किसी धारा का अवलम्बन करके ही करता है। क्योंकि हरएक मनुष्य का अपना एक दृष्टिकोण रहता है। जहाँ से जो प्रश्न करता है, वहीं से उसके प्रश्न का समाधान होता है। इसी कारण जगत् में विविध मतों का उदय हुआ है—"नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।" वास्तव में किसी को गलत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रत्येक मत किसी-न-किसी धारा से उत्पन्न हुआ है। इसलिए सभी धाराएँ अपेक्षाकृत सत्य हैं। एक धारा जिस प्रकार सत्य है, दूसरी धारा भी ठीक उसी प्रकार सत्य है, एवं साथ ही साथ यह भी सत्य है कि सब 'धरा' के मूल में वही एक ही 'अधरा' निहित है। वास्तव में 'अधरा' ही अपने

को 'धरा' देते हैं,—'धरा' हो कर—इष्ट होकर विभिन्न साधकों के निकट विभिन्न भावों में प्रकाशित होते हैं। 'धरा' और 'अधरा' एक महासत्ता की दो दिशाएँ हैं। एक दिशा में परिधि का घेरा है, भाव की सीमा-रेखा है और वर्ण की सजा-वट है। दूसरी दिशा में परिधि नहीं है, इसलिए वह नित्य-मुक्त है, भावातीत है, इसलिए असीम है; वर्ण नहीं है, इसलिए सदा स्वच्छ है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने पर भी दोनों ही एक (अभिन्न) हैं। फिर ऐसी स्थिति भी है, माँ कहती हैं, जहां पर 'धरा' और 'अधरा' का प्रश्न नहीं है, एकमात्र 'वही' अर्थात् जहाँ 'धारा' है वहाँ 'धरा' है, इसीलिए साथ ही साथ अथच असंगरूप से 'अधरा' भी है, एवं जहां 'धारा' का प्रश्न नहीं है वहाँ 'धरा' कहाँ है ? 'अधरा भी कहाँ है ? और वह प्रश्न ही कहाँ है ? कुछ भी नहीं है अथवा सभी कुछ है। रहने न रहने का विरोध जहाँ पर नहीं है, वही 'तत्' है, वही 'वही' है। वहाँ मत-मतान्तर के लिए अवकाश नहीं है।



छह (क)

१–ध्यान करना और ध्यान होना

माँ कहती हैं, "चित्त के अपने आप ध्यानोन्मुख होने पर, ध्यान होता है, ध्यान तो होना चाहिए।" इसी से ज्ञात हो सकता है कि स्वाभाविक रूप से ध्यान होने की एक अवस्था है। उक्त अवस्था का उन्मेष होने पर प्रयत्नपूर्वक ध्यान नहीं करना पड़ता है, चित्त अपने आप ही ध्यान में मग्न हो जाता है उस अवस्था का माँ ने "ध्यान पाना" नाम दिया है। मनुष्य को जिस समय नींद आती है उस समय जैसे प्रयत्नपूर्वक सब इन्द्रियों से उनके विषयों से लौटाना नहीं पड़ता है, सब स्वभावतः ही अपने आप अन्तर्मुख हो जाती हैं, वैसे ही अपने आप ध्यान होने की अवस्था है। नींद न आने पर भी प्रयत्नपूर्वक नींद नहीं बुलाई जाती है ऐसी बात नहीं है, पर उसमें समय लगता है और वह कष्ट साध्य है। नींद आने के लिए चेष्टा करने का अभ्यास करते-करते फिर चेष्टा के बिना ही नींद आ जाती है। ध्यान के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही समझना चाहिए। चित्त के स्वतः ध्यान के उन्मुख होने की यदि अवस्था न हो तो यथार्थ ध्यान नहीं होता, यह सत्य है, किन्तु पहले से ही यह अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती, इसलिए अस्वाभाविक होने पर भी कृत्रिम उपाय से ध्यान के लिए चेष्टा करनी पड़ती है।

योगसूत्र के रचयिता भगवान् पतंजलि ने साधारणतः समाधियोग और क्रियायोग के भेद से योग का दो श्रेणियों में विभाग किया है। जिस साधक का चित्त व्युत्थित अर्थात् बहिर्मुख हो उसे क्रियायोग करना चाहिए। किन्तु जिसका चित्त अन्तर्मुख अथवा समाधि की ओर झुकाव रखने वाला हो, केवल उसी के लिए समाधियोग उपयुक्त है। पतंजलि ने क्रिया योग के रूप में तपस्या, स्वाध्याय अर्थात् जप और सद्ग्रन्थपाठ तथा ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् भजन, इन तीनों का उल्लेख किया है। इन तीनों का साधन चाहे समान रूप से चाहे गौणमुख्य-रूप से अनुष्ठान होने पर क्रियायोग सिद्ध होता है। चित्त की प्रकृति के अनुसार किसी

की साधना में तपस्या मुख्य रहती है किन्तु अन्य दो साधन के अंग भी गौण रूप से उसमें रहते हैं। किसी की साधना में स्वाध्याय की प्रधानता रहती है अथवा भजन की प्रधानता रहती है। परन्तु उसमें भी गौणरूप से अन्य दो अंगों का सन्निवेश रहता है। मगर किसी विशेष व्यक्ति द्वारा तीनों ही अंगों का समभाव से भी अनुष्ठान हो सकता है। दीर्घ काल तक यथाविधि अपने-अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट प्रक्रिया से क्रियायोग के मार्ग में अग्रसर हो सकने पर उसके प्रभाव से चित्त क्रमशः व्युत्थित भाव यानी बहिर्मुखता का त्याग कर शान्तभाव धारण करता है एवं अन्तर्मुख होता जाता है। उस समय वह समाधि-योग का अभ्यास कर सकता है। समाधियोग के अभ्यास में ध्यान की प्रधानता रहती है। चित्त जब तक चंचल रहता है तब तक अन्तर्मुखता नहीं आ सकती। इसलिए वास्तविक ध्यान के मार्ग में अग्रसर होना सम्भव नहीं। किन्तु फिर भी साधक को ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए किसी न किसी प्रकार की क्रिया का अवलम्बन कर साधन-पथ पर आगे बढ़ना चाहिए। वह भी योग है, साक्षात्-रूप से योग न होने पर भी वह परम्परारूप से योग है।

क्रियायोग से चित्त एक ओर चंचलता का परित्याग करता है और अन्तर्मुख होता है, जिससे अनायास प्रज्ञा अथवा ज्ञान का उदय हो सकता है। किन्तु क्रिया-योग का मुख्य फल है चित्त में स्थित अज्ञान आदि सब क्लेशों को तनु (सूक्ष्म) करना। साधक के चित्त में अनन्त क्लेश संस्काररूप में संचित रहते हैं। क्लेशों के अनन्त होने पर भी समझने तथा समझाने की सुविधा के लिए वे प्रधानतः पाँच श्रेणियों में विभक्त किये जाते हैं। उनके नाम हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अज्ञानमूलक सभी संस्कार किसी न किसी रूप में इन पाँच क्लेशों के अन्तर्भूत हैं। ये सब क्लेश कभी-कभी अभिव्यक्त अवस्था में वृत्तिरूप से कार्य करते हैं, और कभी-कभी अव्यक्त अवस्था में संस्काररूप से रहते हैं। अव्यक्त क्लेश को हम लोग सहसा क्लेश के रूप में पहिचान नहीं पाते। किन्तु जब तक वे क्रिया-विशेष के प्रभाव से क्षीण नहीं होते तब तक उनका बल और अस्तित्व पूर्ण रूप से ही विद्यमान रहता है। इसलिए अव्यक्त क्लेश सुप्त अथवा विच्छिन्न माने जा सकते हैं, अथवा साधनों के प्रभाव से क्षीण हो जाने के कारण तनु (सूक्ष्म) भी कहे जा सकते हैं। पूर्व में जो क्रियायोग का वर्णन किया गया है उसका समुचित रूप से अनुष्ठान होने पर क्लेश या संस्कार सब तनु (सूक्ष्म) अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उनकी विक्षेप शक्ति अथवा आवरण शक्ति

निर्बल होकर मन्द पड़ जाती है। क्रियायोग के अलावा और किसी भी उपाय से क्लेशों का क्षय होना सम्भव नहीं है। अन्य चाहे जिस किसी उपाय का अवलम्बन किया जाए उससे क्लेशों को दबा कर रखा जा सकता है, जिसके कारण क्लेश उन्मुख होकर तत्काल अपना काम नहीं कर सकते। किन्तु क्लेशों का अस्तित्व और गुरुत्व पहले की तरह ज्यों का त्यों ही रहता है। किसी प्रकार की उत्तेजना या उद्दीपक कारण के उपस्थित होते ही वे सब सुप्त क्लेश प्रबल वेग से दुर्दान्त रूप धारण करते हैं एवं मनुष्य को बहुधा गलती करने के लिए बाध्य करते हैं। ये सब सुप्त क्लेश अत्यन्त भीषण हैं, क्योंकि उनका अस्तित्व दिखाई नहीं देता एवं उनमें तीव्रता और विरोधी भाव प्रबल रहता है। क्रियायोग में ऐसी शक्ति है कि वह उनके बल को क्षीण कर सकता है। इनका प्रताप तब मन्दा पड़ जाता है, फिर भी निश्शेष नष्ट नहीं होते। क्योंकि क्रिया के प्रभाव से संस्कार नष्ट नहीं होते। संस्कारों के नाश का मात्र उपाय ज्ञानरूप अग्नि है। पर क्रिया ज्ञान की उद्बोधक होने के कारण परम्परा से उसका कारण है, यह सत्य है।

क्रियायोग चाहे जिस किसी प्रकार का क्यों न हो, उसके द्वारा चित्त क्रमशः ध्यानोन्मुख होता है। जिसका मन पहले से ही अन्तर्मुख रहा उसके लिए क्रियायोग की उतनी आवश्यकता नहीं भी रह सकती, किन्तु जो पहले-पहल साधन-मार्ग में पदार्पण करते हैं उनके लिए, जिस किसी धारा का अवलम्बन करके ही क्यों न हो, क्रियायोग अवश्य ही ग्रहणीय है। चित्त में ध्यान के लिए उन्मुखता जाग्रत होने पर चित्त बिना प्रयत्न के ही ध्यानस्थ हो जाता है एवं क्रमशः ध्यान की गहरी तह में मग्न होने में समर्थ होता है। चंचल चित्त से प्रयत्नपूर्वक ध्यान करने की कोशिश की जाए तो ऐसा नहीं होता है। इसीलिए माँ ने कहा है, "ध्यान पाने पर ध्यान होता है।" वही वास्तविक ध्यान है, वही होना आवश्यक है। प्रथम अभ्यासी के लिए कृत्रिम ध्यान भी सराहनीय है। पर वह प्राथमिक अवस्था है। क्रमशः वह कृत्रिम ध्यान स्वाभाविक ध्यान में परिणत हो जाता है।

इसी प्रसंग में किसी के मन में प्रश्न उठ सकता है कि कृत्रिम ध्यान तथा स्वाभाविक ध्यान में क्या अन्तर है? दोनों की प्रक्रिया तथा लक्ष्य में कोई भेद है क्या? इन प्रश्नों का समाधान करना हो तो पहले संक्षिप्त रूप से ध्यान के तत्त्व पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

अति प्राचीन काल में जब कि भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ था उस समय वैदिक धर्म के अनुयायी ऋषियों की तरह बहुत बड़ी संख्या में बौद्ध योगियों का आविर्भाव हुआ था। अन्यान्य साधनों की अपेक्षा वे ध्यान की साधना में अधिक मनोयोग देते थे। क्योंकि ध्यान के सब गूढ़ रहस्यों की चित्त के विश्लेषण के साथ उन्होंने जैसी विशद व्याख्या की है वैसी अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देती। इसी प्रसंग में हम अति प्राचीन योगि-सम्प्रदाय के मत की आलोचना-पूर्वक ध्यान-तत्त्व के ऊपर प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं।

साधना-मार्ग में तीन मूल तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं—प्रथम शील, द्वितीय समाधि एवं तृतीय प्रज्ञा। प्रज्ञा अथवा निर्मल ज्ञान की प्राप्ति ही साधक-जीवन का लक्ष्य है। किन्तु जब तक चित्त समाहित न हो और संस्कार-विहीन न हो तब तक चित्त प्रज्ञारूप विशुद्ध ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता। पक्षान्तर में यह भी सत्य है कि जब तक चित्त शील और संयम के अनुशीलन के प्रभाव से भली-भाँति परिशोधित नहीं होगा तब तक वह शान्त भी नहीं होगा और समाहित भी नहीं होगा। इसलिए आचार्यों ने पंचशील अथवा दश शीलों की व्यवस्था की है। योगियों के यम, नियम आदि इन्हीं के अन्तर्गत हैं। वर्तमान समय में समाज में जो असंयत और उच्छृंखल जीवन की धारा बह चली है उससे संयम का आदर्श दूर से भी दूर हो कर प्रायः अस्तंगत हो पड़ा है। संयमव्रत के द्वारा हो चाहे प्रकारान्तर से ही हो, जीवन को कतिपय नियमों के द्वारा नियन्त्रित रखना चाहिए। जब तक बन्धन स्वीकार नहीं किया जायगा तब तक बन्धन से मुक्ति नहीं मिल सकेगी। एकान्त में निवास, गुरु द्वारा उपदिष्ट क्रम के अनुसार विविध प्रकार के संयमों का अनुष्ठान तथा उत्कण्ठा, भय, प्रलोभन आदि भावों से रहित होकर निष्ठा के साथ अविच्छिन्न रूप से दीर्घ काल तक किसी एक निर्दिष्ट साधना का यथाविधि अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है।

इस अभ्यास में दृष्टांत के रूप में हम दृष्टि-अभ्यास को ले रहे हैं। क्योंकि दृष्टि के स्थिर होने पर सब इन्द्रियों की वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं एवं मन में भी स्थिरता प्राप्त होती है। आचार्य दृष्टि को स्थिर करने के लिए अभ्यासी साधकों के लिए किसी एक अवलम्बन को ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। दृष्टि के सन्मुख उस अवलम्बन को स्थिर रूप से रखकर दृष्टि की स्थिरता का अभ्यास करना आवश्यक है। उक्त अवलम्बन कोई भी वस्तु हो सकती है। क्योंकि 'यथा-

भिमतध्यानाद् वा' यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है। फिर भी व्यक्ति-विशेष के अधिकार तथा योग्यता के तारतम्य-वश विभिन्न साधकों के लिए उक्त अवलम्बन का तारतम्य रहता है। स्थिर दृष्टि से उस अवलम्बन को देखने के लिए चेष्टा करनी पड़ती है। जो लोग त्राटक का अभ्यास करते हैं, उनकी साधना भी एक प्रकार से इसी के अन्तर्गत है। दृष्टि के पलक गिरते समय चित्त में उस अवलम्बन की अनुरूप छाया को यथायथ रूप से देखने का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह पुनः पुनः अभ्यास करते-करते ऐसी एक अवस्था का उदय होता है जिस समय आँखें बन्द करके भी अन्तर्दृष्टि से वह अवलम्बन ठीक चाक्षुष प्रत्यक्ष के समान ही दिखाई देता है। योगी लोग उस अवलम्बन को "निमित्त" कहते हैं। जिस समय प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य अवलम्बन का दर्शन कर भीतर उसके अनुरूप छाया के चिन्तन का प्रयत्न किया जाता है उस समय उस अवलम्बन का "परिकर्म निमित्त" नाम पड़ता है। साधारणतः हर-एक साधक उससे परिचित हैं। किन्तु जिस समय नेत्र बन्द करके भी पहले की तरह वह अवलम्बन चित्त में विद्यमान दिखाई देता है उस समय उसका पारिभाषिक नाम पड़ता है "उद्ग्रह निमित्त"। जिस अवस्था में उद्ग्रह निमित्त का आविर्भाव होता है, उस अवस्था में बाहरी अवलम्बन की फिर आवश्यकता नहीं रहती है। फोटोग्राफिक कैमरे के द्वारा कोई चित्र लेने पर वह जैसे फोटोग्राफिक प्लेट पर स्थायी रूप से अंकित हो जाता है किन्तु साधारण दर्पण में प्रतिबिम्बित चित्र वैसा नहीं होता है, वैसे ही परिकर्म निमित्त और उद्ग्रह निमित्त का अन्तर समझना चाहिए। अर्थात् परिकर्म निमित्त अस्थायी अंकन है एवं उद्ग्रह निमित्त स्थाई अंकन है। उद्ग्रह निमित्त की प्राप्ति होने के अन्तर वास्तविक ध्यान का कार्य प्रारम्भ हुआ यह कथन संगत होता है। किन्तु वह निम्न स्तर का ध्यान है; इसमें सन्देह नहीं है। उद्ग्रह निमित्त ही धारणा है, क्योंकि उस अवस्था में ही चित्र चित्त में ठहरता है, चला नहीं जाता।

तदन्तर सुदीर्घ काल तक उद्ग्रह निमित्त रूप अवलम्बन को अन्तर्दृष्टि द्वारा लक्ष्य में रखने पर ऐसा एक समय आता है जिस समय वह हट जाता है। उस समय एक अभूतपूर्व ज्योतिर्मय प्रकाश का आविर्भाव होता है। उसका पारिभाषिक नाम "प्रतिभाग निमित्त" है। मनोमय क्षेत्र में उस अन्तर्निहित ज्योति के उन्मेष के साथ साथ विज्ञान का पथ खुल जाता है। जो सब दोष और विघ्न चित्त में रहकर चित्त के एकाग्र होने में बाधा डालते हैं, वे सब दोष और विघ्न

उक्त प्रकाश के आविर्भाव के साथ ही साथ निर्बल हो जाते हैं। वे सबके सब उसी समय नष्ट नहीं होते, किन्तु उनकी उत्थान शक्ति नष्ट हो जाती है। योगियों ने उन सब विघ्न बाधाओं को समझने की सुविधा के लिए पाँच श्रेणियों में विभक्त किया है।

उक्त प्रकाश का उदय होने के अनन्तर वास्तविक ध्यान की अपेक्षाकृत उच्च अवस्था का उदय होता है। उसका नाम 'उपचार ध्यान' है वह भी ध्यान की पूर्णावस्था नहीं है। क्योंकि ध्यान की पूर्णावस्था होने पर एकाग्रता का आविर्भाव अवश्यंभावी है एवं क्षणभर के लिए भी यदि एकाग्रता की प्राप्ति हो जाए तो ऐसी स्थिति में अनन्त काल के लिए चित्त का रूपान्तर हो जाता है। अर्थात् लौकिक चित्त दिव्य चित्त में परिवर्तित हो जाता है। चित्त के जिन नैसर्गिक विघ्नों की चर्चा की गयी है, उनका यहाँ पर विस्तारपूर्वक उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी यह सत्य है कि ध्यान के प्रत्येक अंग की परिपूर्ण होने के साथ ही साथ उसके प्रतिपक्ष रूप (विरोधी) सब अन्तराय हट जाते हैं। चित्त की पंचम अवस्था में एकाग्रता सिद्ध होती है। किन्तु उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए वितर्क, विचार, प्रीति और सुख—इन चार अवस्थाओं को क्रमशः प्राप्त करके फिर धीरे-धीरे उनका परिहार कर आगे बढ़ना चाहिए। सुख के परि-हार के साथ सुख-दुःख के अतीत साम्य-भावमय उपेक्षा का उदय होता है। तभी चित्त की यथार्थ एकाग्रता होती है। चित्त में एकाग्रता के जागने पर चित्त की चंचलता चली जाती है, कामना, वासना, आदि चित्त पर फिर आक्रमण नहीं करते हैं, एवं अखण्ड चित्त एकाग्र अवस्था में आलम्बन अथवा निमित्त को पूर्ण-रूप से आत्मसमर्पण करता है। उस समय ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता है। उसी का नाम अर्पणा है, उसी को समाधि कहते हैं। उस अवस्था का अतिक्रमण न कर सकने पर विशुद्ध ज्ञान के प्रकाश का उदित होना असम्भव है।

ऊपर लिखे गये विवरण से यह जाना जा सकता है कि ध्यान करना और ध्यान होना—इनमें क्या अन्तर है। परिकर्म-निमित्त का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है वह वास्तव में ध्यान ही नहीं है, फिर भी उसे ध्यान कहा जाता है। वह ध्यान करने की अवस्था है। उद्ग्रह-निमित्त के अवलम्बन से जो ध्यान होता है वह इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु यह भी ध्यान करना है, स्वाभाविक ध्यान नहीं है। क्योंकि जब तक प्रतिभाग निमित्त का उदय नहीं होता तब तक

स्वभाव का विकास नहीं होता है, आवरण नहीं हटता है एवं प्रकाश का उन्मेष नहीं होता है। अतएव प्रतिभाग निमित्त का अवलम्बन करके जो ध्यान होता है, जिसका नामान्तर उपचार ध्यान है, वही वास्तविक ध्यान है, भले ही वह निम्न स्तर का ध्यान है। वह वास्तविक ध्यान के अन्तर्गत होने पर भी आभासरूप है। उक्त अवस्था में ध्यान के साथ ज्ञान का उन्मेष होता रहता है एवं थोड़ा-थोड़ा करके धीरे-धीरे चित्त के मल और विक्षेप का नाश होता रहता है। 'उपचार' ध्यान के बाद 'अर्पणा' का उदय होता है, वही यथार्थ ध्यान है। वह स्वभाव का खेल है। उसमें कृत्रिमता ज़रा भी नहीं रहती है। उस अवस्था में चित्र पूर्ण रूप से बदल जाता है। ऐसा होने पर फिर पूर्व-अवस्था की प्राप्ति अर्थात् पतन प्रकृत स्थल में नहीं हो सकता।

२–ध्यान और मन का लक्ष्य

कुछ लोगों का मत है कि ध्यान करते-करते मन का लय हो जाता है। क्रमशः ध्यान का अभ्यास बढ़ने एवं शास्त्रोक्त विधि के अनुसार ध्यान करने पर एक ऐसी अवस्था का उदय होता है जिसमें चित्त अवलम्बन का त्याग कर निरालम्ब अवस्था को प्राप्त होता है। चित्त की वृत्ति और संस्कार ये दो ही अवस्थाएँ हैं। जब चित्त ज्ञेय विषय के सम्पर्क से परिणत अवस्था को प्राप्त होता है, उस समय वह विषयों से रंग जाता है तथा तदाकाराकारित हो जाता है। (उसी आकार को स्वयं ग्रहण कर लेता है) वह रंग जाना साधारणतः प्रारम्भिक अवस्था में इन्द्रियप्रणाली द्वारा ही होता है। किन्तु परिणत अवस्था में इन्द्रियों का सहकार उतना आवश्यक नहीं है। वायु के हिलोरों से जैसे शान्त समुद्र विक्षुब्ध होकर तरंगों के रूप में परिणत होता है ठीक वैसे ही विषय-सम्पर्क से चित्त भी परिणाम को प्राप्त होकर विषयाकार धारण करता है। उसी का नाम चित्तवृत्ति है। किन्तु चित्त सदा वृत्ति-अवस्था में स्थित नहीं रहता है। वृत्ति की निवृत्ति होने पर वह संस्कार रूप से अथवा वासना के रूप से चित्तक्षेत्र में बीज का आकार धारण करके रहता है। वस्तुतः उस समय वृत्ति-रहित चित्त संस्कार रूप से ही स्थित रहता है। उद्दीपक कारण की प्रेरणा से वे सब संस्कार फिर जाग्रत होकर वृत्ति का रूप धारण करते हैं। वृत्ति और संस्कार का चक्र इस प्रकार निरन्तर चलता रहता है। चित्त चाहे किसी अवस्था में क्यों न रहे, वह पूर्णतः स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह परिणामशील होने के कारण सदैव चंचल रहता है। यहाँ तक कि संस्कार-अवस्था में भी चित्त का वह सूक्ष्म स्पन्दन

निवृत्त नहीं होता है । एकमात्र आत्मस्वरूप में स्पन्दन नहीं रहता—वह संस्कारातीत अवस्था है । ध्यानावस्था में चित्त क्रमशः सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर अवलम्बन का आश्रयण कर निवृत्ति की ओर अग्रसर होता रहता है । जैसे स्थूल अवलम्बन के प्रभाव से चित्त स्थूल आकार में प्रकाशित होता है, वैसे ही सूक्ष्म अवलम्बन के प्रभाव से चित्त सूक्ष्म अवस्था धारण करता है । ये दोनों स्थूल और सूक्ष्म अवलम्बन ध्यान के विषयीभूत ग्राह्य वस्तु के सिवा और कुछ नहीं हैं ।

वितर्कानुगत समाधि में अवयवी रूप स्थूल अवलम्बन विद्यमान रहता है । किन्तु उसके अन्तर सूक्ष्म अवलम्बन का ग्रहण करने पर परमाणु से लेकर सूक्ष्मतर सभी तत्त्व प्रकाशित होते हैं । उस समय प्रकृति के अन्दर की सूक्ष्म ग्राह्य सत्ता साधक के सन्मुख प्रकट होती है । वस्तुतः वह स्थूल और सूक्ष्म सत्ता समाहित योगियों के चित्त का ही स्थूल और सूक्ष्म रूपमात्र है । उसके बाद करणरूपी अवलम्बन का आश्रय कर ध्यान प्रवर्तित होता है और गाढ़ होते-होते वह सानन्द समाधि में पर्यवसित हो जाता है । उस अवस्था में चित्त स्थूल और सूक्ष्म विषयों के आकार का भेदन कर स्वयं ही ज्ञान के करण-रूप में प्रकट होता है ।

उस समय प्रज्ञा के सन्मुख ज्ञेय रूप में पृथक् कोई सत्ता नहीं रहती है । वह करण-रूप में परिणत चित्त सत्त्व में विलीन हो जाता है । उसके बाद भी चित्त अपने स्वरूप में अर्थात् ज्ञाता के रूप में विश्राम लेता है । यही सम्प्रज्ञात समाधि में उच्चतम अवस्था है । उस अवस्था में एकमात्र 'मैं हूँ' इस प्रकार से प्रकाशमान सत्ता का केवल बोध रहता है । उस समय बाहर में ग्राह्य कुछ भी नहीं रहता एवं करणरूपी ग्रहण भी नहीं रहता है । दोनों ही ग्रहीता चित्तस्वरूप में विलीन हो जाते हैं । एकमात्र चित्त ही उस समय 'अस्मि' रूप में अपने में आप ही विराजमान रहता है । वही विश्व की बीज-अवस्था है । ज्ञान आदि अनन्त विभूतियाँ उस अणुरूप अस्मिताका अवलम्बन कर ही प्रकाशित होती हैं । वह अस्मिता ही अभिव्यक्त सम्पूर्ण सृष्टि का केन्द्र अथवा बिन्दु है । चित्त में एकाग्र वृत्ति का चरम उत्कर्ष होने पर उस बिन्दु में स्थिति होती है । उसके बाद फिर चित्त के पुनः प्राप्त होने की सम्भावना नहीं रहती है । इस अस्मिता रूप ग्रन्थि का हृदयग्रन्थि के रूप में महापुरुषों ने वर्णन किया है । सांसारिक दृष्टि से यह उच्चतम अवस्था होने पर भी वास्तव में अविवेक या अज्ञान की ही अवस्था है । चित् और अचित् की अविवेकरूपा इस मूल ग्रन्थि के उच्छिन्न हुए बिना चित्त वृत्ति

की अवस्था से संस्कार अवस्था में नहीं पहुँच सकता है। जिसे सर्वज्ञत्व या सर्व-विषयक ज्ञान का उदय कहते हैं उसका परिचय इस अस्मिता क्षेत्र में ही प्राप्त होता है।

अस्मिता का विनाश करने वाला विवेकज्ञान सर्वज्ञत्व के भी अतीत की अवस्था है। क्योंकि उस अवस्था में चित्त क्रमशः निरोध की ओर अग्रसर होता रहता है। विवेकज्ञान का क्रमविकास वास्तव में चित्त-निवृत्ति की ही क्रमवृद्धि का इतिहासमात्र है। उसका पर्यवसान एक मात्र विवेकख्याति के अन्तिम क्षण में प्राप्त होता है, जिसके बाद इस महाख्याति का भी निरोध होने से आत्मा गुण-मुक्त हो कर निज स्वरूप में स्थिति को प्राप्त होता है।

पूर्वोक्त विवेचन से विदित होता है कि ध्यान अथवा समाधि की पूर्णतावश प्रज्ञा अथवा ज्ञान का उदय होता है। चित्त या मन उस समय भी विद्यमान रहता है। उसके बाद असम्प्रज्ञात समाधि की चरम अवस्था में पूर्वोक्त प्रज्ञा का भी निरोध हो जाता है, अर्थात् ज्ञान का उदय होने से अज्ञान की निवृति हो जाने पर ज्ञान का भी निरोध हो जाता है। ज्ञान के निरोध के साथ चित्त का अतिक्रमण होता है और आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। इसलिए ध्यान से ज्ञान और ज्ञान से स्वरूपस्थिति यही शास्त्रोक्त स्वाभाविक क्रम है।

जिसका कुछ लोग चित्त के लय के रूप से उल्लेख करते हैं वह इसी प्रणाली के अन्तर्गत केवल एक अवान्तर स्थितिमात्र है। चित्त का लय स्वीकार करने पर व्युत्थान भी अवश्य मानना होगा। किन्तु भगवान् के परमधाम अथवा आत्म-स्वरूप में स्थिति प्राप्त होने पर व्युत्थान की कोई आशंका नहीं रहती है, यही शास्त्र का सिद्धान्त है—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इस दृष्टिकोण से विचार करने पर समझ में आ सकेगा कि चित्त के लय की चाह नहीं होनी चाहिए। ज्ञान के उदय से चित्त के आत्यन्तिक विरोध की ही चाह होनी चाहिए। वस्तुतः लय की अवस्था केवल दबे रहने की अवस्थामात्र है। उसमें अज्ञान और अनर्थ ज्यों के त्यों ही रह जाते हैं, किन्तु ज्ञान के उदय से चित्त जले हुए वस्त्र की सी अवस्था को प्राप्त होता है—उस समय वह रहने पर भी न रहने के समान है।

ज्ञान के सिवा अन्य किसी भी उपाय से उक्त जले हुए वस्त्र की सी अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए एक ज्ञान ही प्रार्थनीय है, जिसके प्रभाव से मन

रहने पर भी न रहने के समान हो जाता है। वास्तव में मन उस समय निर्बीज भाव को प्राप्त हो जाता है। केवल मन के लय को साधक अथवा योगी कोई भी नहीं चाहते हैं। क्योंकि मन का लय होने पर पुनः उसका व्युत्थान होगा ही। भगवान् शंकराचार्य के परमगुरु गौडपाद मुनि ने इसीलिए विक्षेप के तुल्य लय का भी अन्तराय के रूप में उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है—

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत् ॥

अर्थात् चित्त को लीन न होने दे कर सदा उसे जगाये रखना होगा। उस प्रकार के चित्त को विक्षिप्त न होते दे कर उसे शान्त रखना चाहिए एवं चित्त को रागद्वेष और मोह रूप दोष से दूषित न होने दे कर विवेकज्ञान के द्वारा चेतन किये रखना चाहिए। उन्होंने और भी कहा है—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥

अर्थात् जब चित्त में लय नहीं रहता है, विक्षेप नहीं रहता है, चंचलता नहीं रहती है एवं जब चित्त में विषय का आकार प्रतिभासमान नहीं होता है, तब वह चित्त नित्य सिद्ध ब्रह्मस्वरूप में प्रकाशमान होता है। इससे विदित होगा कि चित्त वास्तव में ब्रह्म से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किन्तु जब तक उससे पूर्वोक्त सब दोष हटते नहीं हैं, तब तक वह चित्त कहलाता है। चित्तलय और मनोनाश का रहस्य ऊपर लिखे हुए संक्षिप्त विवरण से कुछ-कुछ समझ में आ सकेगा।

चित्त के रहने पर भी न रहने के तुल्य हो सकता है एवं चित्त के न रहने पर भी चित्त के कार्य चल सकते हैं यह बात ज्ञानी और योगी जन सहज में ही समझ जाएँगे। इसी कारण बौद्ध योगी कहते थे कि अर्हत् अथवा जीवन्मुक्तों का चित्त केवल क्रियाचित्तमात्र है। वह अत्यन्त दुर्लभ आध्यात्मिक सम्पत्ति है। अर्हत् अवस्था के पूर्व की अनागामी अवस्था में भी इस प्रकार के क्रियाचित्त का उदय नहीं होता है। बुद्धगण जिस समय धर्मोपदेश देते हैं उस समय वे लोग उस क्रियाचित्त का अवलम्बन करके ही उपदेश देते हैं। क्रियाचित्त कहने से यही

ज्ञात होता है कि चित्त में क्रिया है, पर उस क्रिया का कुछ विपाक नहीं होता है। जब तक चित्त में कुशल अथवा अकुशल (भले या बुरे) संस्कार विद्यमान रहते हैं तब तक क्रिया से विपाक पैदा होता है। अर्थात् कर्मबीज अंकुरित हो कर क्रमशः अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं। साधारणतः चित्त में सुप्त तृष्णा या अनुशय सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है। उसी से भविष्य में अनुरूप फल का विपाक पैदा होता है। किन्तु जब राग, द्वेष और मोह के हटने के साथ-साथ चित्त से अनुशय नष्ट हो जाता है तब उस चित्त में क्रिया के रहने पर भी उससे शुभ अथवा अशुभ फल उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार का चित्त चित्त होकर भी अचित्त है। उसी को दार्शनिक भाषा में क्रियाचित्त कहा जाता है। मनोनाश का वास्तविक तत्त्व क्या है यह इससे कुछ-कुछ समझ में आ जाएगा।

छह (ख)

व्याख्या

३—साधना कितने दिनों तक करनी चाहिए

सिद्धि की प्राप्ति के लिए साधना आवश्यक है। यद्यपि देखने में आता है कि किन्हीं-किन्हीं को साधना किये बिना भी अथवा भली-भाँति साधना पथ पर अग्रसर हुए बिना भी फल-प्राप्ति हुई है, तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि वह फल-प्राप्ति भी अकारण नहीं है। एवं अधिकांश स्थलों में वह कारण साधन के जन्मान्तर के साधन के रूप से ही गृहीत होता है। हम यहां पर अहेतुक कृपा या उससे उत्पन्न होने वाले फल-लाभ की चर्चा नहीं कर रहे हैं। क्योंकि वह भगवान् की स्वतन्त्रता पर निर्भर है इसलिए वह हमारी आलोचना के अन्तर्गत नहीं है। यहाँ पर जो कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि यदि सिद्धि प्राप्त करनी हो तो साधन पथ का अवलम्बन कर विधिपूर्वक दीर्घकाल तक आदर के साथ साधन-कार्य का सम्पादन करना उचित है। साधन कभी व्यर्थ नहीं जाता है। एक जन्म में यदि फल न भी दे तो वह संस्कार के रूप से चित्त में रहता है एवं क्रम से पुष्ट होते-होते दूसरे जन्मों में फल उत्पन्न करता है। एक ही जन्म में हो, चाहे

बहुत से जन्मों में हो, जब तक साधन पूरा न होगा तब तक सिद्धि अथवा फल की आशा करना अत्यन्त निरर्थक है। किसी-किसी को थोड़े ही काल में फल-प्राप्ति हुई है यह बात सुनकर कोई लोग यह धारणा कर बैठते हैं कि बिना साधन के ही आकस्मिक रूप से इस प्रकार की फल-प्राप्ति हुई है। उन सब जगहों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर समझ में आ सकेगा कि उस फल-प्राप्ति के पीछे पूर्वजन्म की कठोर साधना का इतिहास विद्यमान है।

ऊपर लिखे गये विवरण से भली भाँति समझ में आ सकता है कि साधना करना नितान्त आवश्यक है। उसके बिना सिद्धिलाभ की कोई सम्भावना नहीं। अवश्य यह लौकिक दृष्टि की बात है। किन्तु प्रश्न होता है कि साधना कितने दिनों तक करनी चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में माँ ने कहा है—"जब तक प्रकाश न हो, निरन्तर किये जाओ। व्यवधान नहीं पड़ना चाहिए। व्यवधान पड़ने से गांठ पड़ जाती है। जैसे कहते हो तैलधारावत्। तुम्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि निरन्तर अखण्ड धारा से किये जाना।" माँ ने जो कहा है उसमें पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर सूक्ष्मरूप से निहित है। माँ ने किसी काल का निर्देश नहीं किया है। कारण कि काल की एक दृष्टि से बाहरी पदार्थ के रूप में गिनती होने पर भी वास्तव में वह केवल आभ्यन्तरिक भाव ही है। इसलिए जिस काम की सिद्धि निर्दिष्ट क्रम के अनुसार एक महीने में होती है वह यदि अत्यन्त तीव्र वेग के साथ किया जाये तो एक दिन में अथवा किसी का उससे भी कम समय में सम्पन्न हो सकता है। संवेग की तीव्रता के अनुसार काल का विस्तार जानना चाहिए। अतएव स्थूल दृष्टि से काल का निर्देश कथमपि सम्भव नहीं है। क्योंकि साधक के प्राणों का आवेग बढ़ने पर बाहरी काल का संकोच स्वभावतः ही हो जाता है। किन्तु वास्तविक पक्ष में काल एक ही है। परन्तु इस सूक्ष्म काल की एकमात्र योगी अथवा महाज्ञानी के सिवा दूसरा कोई धारणा नहीं कर सकता। इसलिए कितने दिनों तक साधना करनी चाहिए इस प्रश्न के उत्तर में माँ ने काल का कोई निर्देश न कर केवल यही कहा है कि जितने दिनों तक प्रकाश न हो उतने दिनों तक अविच्छिन्न रूप से एकाग्रता पूर्वक साधना किये जाना चाहिए। किस कारण से फलप्राप्ति में बिलम्ब होता है और किस कारण से तीव्र फल प्राप्ति होती है यह जानना अज्ञानी साधक के लिए सम्भव नहीं है एवं जानने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। जिस कर्म से जिस फल का विकास अवश्यंभावी है उस फल का जब तक उदय न हो तब तक श्रद्धा के साथ उस

कर्म को पूरे मनोयोग से पकड़े रहना चाहिए। यही माँ के उपदेश का तात्पर्य है। वास्तव में फल अथवा सिद्धि की ओर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। क्रियमाण साधन-कर्म गुरु के आदेश के अनुसार यथार्थरूप से अनुष्ठित हो एकमात्र इसी ओर ध्यान देना उचित है। इससे कर्म या साधना भी उत्तम होती है एवं फल की ओर दृष्टि न रहने के कारण फलप्राप्ति का समय भी निकट हो जाता है।

पतंजलि ने कहा—दीर्घकाल तक नैरन्तर्य और आदर के साथ साधना का अभ्यास करने पर साधक की भूमि दृढ़ होती है। नैरन्तुर्य कहने से निरवच्छिन्न साधना की प्रशंसा की गयी है, यह समझना चाहिए। साधना की धारा में विच्छेद अथवा व्यवधान पड़ने पर प्रकृति का पर्दा आकर साधन-धारा को आच्छन्न और मलिन कर डालता है। सत्कार शब्द का यह तात्पर्य है कि साधकगण जो भी साधना क्यों न करें उसे यदि श्रद्धा के साथ नहीं करेंगे तो भूमि दृढ़ नहीं होगी। विश्वास ही सिद्धि का प्रधान लक्षण है। इसलिए योगियों ने उपाय मार्ग के आरम्भ में ही श्रद्धा को स्थान दिया है। गीता में भी कहा है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।' मूल में श्रद्धा, विश्वास और सत्कार एक ही वस्तु है। तदनन्तर दीर्घकाल का स्थान है, यह भी भूमि सिद्धि के लिए आवश्यक है। अवश्य ही यह दीर्घकाल वेग के तारतम्य वश बाह्य दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूपों में भासित हो सकता है। बुद्धदेव जिस समय बोधिवृक्ष के नीचे तपस्या करने बैठे थे, उस समय 'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्' यह कह कर दृढ़ संकल्प से पूर्ण विश्वास के साथ उन्होंने आसन ग्रहण किया था। 'मन्त्र का साधन या शरीर का पतन' यही उनका उद्देश्य था। उन्होंने कहा था—मेरे त्वचा, अस्थि, स्नायु आदि सूख जाएँ, शरीर के रुधिर, मांस आदि सूख जाएँ, जो होने वाला है वह हो, किन्तु उद्यम अथवा पराक्रम तब तक न छोड़ूगा जब तक उद्यमलभ्य वस्तु प्राप्त न हो। बौद्धों की दस पारमिताओं में से एक प्रधान पारमिता का नाम वीर्य है। पंतजलि के मत में भी उपाय-मार्ग में श्रद्धा के बाद ही वीर्य का स्थान है। इसलिए बौद्धगण कहते हैं, 'अत्ताहि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया' अर्थात् आत्मा ही आत्मा का प्रभु है, दूसरा आत्मा का प्रभु नहीं हो सकता है। इस तरह मन में दृढ़ता करके आसन पर बैठना चाहिए। माँ कहती हैं—'कितनी भी सांसारिक प्रतिबन्धक बाधाएँ क्यों न आवें, मन का लक्ष्य अखण्ड की ओर रहे। ऐसा होने पर कभी न कभी अखण्ड का स्पर्श मन की गति से लग जाएगा। स्पर्श लगने पर एक क्षण में

पूर्ण की प्राप्ति हो जाती है। उस समय एक क्षण और सब क्षणों में कोई भेद नहीं रहता। क्योंकि प्राप्ति काल के द्वारा परिछिन्न नहीं है।'

वह महाक्षण किसको कब प्राप्त होगा यह कहा नही जा सकता। उस महाक्षण के आविर्भाव के साथ ही साथ पूर्णस्वरूप अखण्ड रूप से अपने को प्रकट करता है। तब प्रकाश खुल जाता है। अप्रकाश तनिक भी नहीं रहता है। जब तक इस महाप्रकाश का आविर्भाव नहीं होता तब तक इसी की ओर लक्ष्य रख कर यथाशक्ति साधन करना ही चाहिए। क्षण का आविर्भाव होने पर काल का बंधन कट जाता है।

४—एकांश को लेकर ध्यान आरम्भ

प्रश्न उठता है कि एकांश ध्यान से सर्वांश ध्यान कैसे होगा? इस शंका का समाधान यदि यथोचित् रूप से हृदयंगम करना हो तो एकांश और सर्वांश के परस्पर सम्बन्ध का अनुसरण करना आवश्यक है। साधारणतः प्रतीत होता है कि जिस अंश का चित्त अवलम्बन के रूप में ग्रहण करता है उस अंश से अतिरिक्त कोई अंश अथवा सत्ता चित्त में प्रकट नहीं हो सकती है। किन्तु यह सत्य नहीं है। लौकिक दृष्टान्त द्वारा यह हृदयंगम किया जा सकता है कि एक के साथ दूसरे का भेद-सम्बन्ध है। यद्यपि अंश और अंशी मूल में अभिन्न हैं इसलिए इस भेद के मूल में अभेद-सम्बन्ध भी है, तथापि भेद का ही प्राधान्य जानना चाहिये। ऐसी परिस्थिति में एक अंश का ध्यान कर सबको धारण करने की कोई सम्भावान नहीं है। किन्तु योगिगण कहते हैं—"जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकम्"—अर्थात् चाहे जिस किसी जाति की वस्तु क्यों न हो उसका दूसरी किसी भी जाति की वस्तु के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् सब में सब है। ऐसी स्थिति में जो प्रधान होता है वह बाह्य दृष्टि में परिस्फुट होता है। शेष सब बाह्य दृष्टि के अगोचर में प्रच्छन्न रहते हैं। किन्तु जिसकी दृष्टि अन्तर्मुख है उसकी दृष्टि में प्रचछन्न या गुप्त कुछ भी नहीं रह सकता। वही स्पष्टतया देखता है कि प्रत्येक वस्तु में समस्त विश्व भासमान है, हर एक कार्य के पीछे परम कारण निहित है। इसलिये माँ ने कहा है—गुरुशक्ति के प्रभाव से पूर्वोक्त आवरण के कट जाने पर सभी वस्तुओं में सब वस्तुओं की सत्ता दिखाई देती है। गुरुशक्ति के सिवा उस आवरण को काटने का दूसरा उपाय नहीं है। गुरुशक्ति के अनुग्रह की प्राप्ति के लिये निर्विकार चित्त से गुरु की आज्ञा का पालन किये जाना चाहिये। तदुपरान्त

एकांश के ध्यान से सर्वांश का किस प्रकार आविर्भाव हो उठेगा यह प्रश्न फिर चित्त में उदित नहीं होता है।

५—वास्तविक ध्यान किसे कहते हैं

ध्यान शब्द बहुत से अर्थों का वाचक है। बहुत से साधकों ने बहुत सी अवस्थाओं का ध्यान के रूप में प्रतिपादन किया है। अपनी दृष्टि के अनुसार उन्होंने ठीक ही किया है। किन्तु फिर भी कहना होगा कि ध्यान का एक वास्तविक और अवास्तविक भेद है। साधारण साधक-समाज में प्रचलित बहुत से ध्यान तदनुसार अवास्तविक ध्यान के अन्तर्गत हैं ऐसा प्रतीत होता है। एक आनन्द का आस्वाद तथा गम्भीर तन्मयता रहने पर ही ध्यान वास्तविक हो जाता है सो बात तो नहीं है। अनेक बार ध्यान से चित्त आनन्दरस में मग्न हो जाता है। अनेक बार मन आत्मविस्मृत विभ्रान्त हो उठता है। वे सब वास्तविक ध्यान के लक्षण नहीं हैं। इन सबको ध्यान के विघ्नरूप समझना चाहिये। यह आनन्द-रस एक प्रकार के सांसारिक रस के ही अन्तर्गत है। इसका त्याग कर यदि ऊपर न उठा जा सके तो मूल का स्वाद नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त अज्ञान-जनित कोई भी भाव वास्तविक ध्यान में नहीं रह सकता। उसमें एक सचेतन और जाग्रत भाव सदा ही अक्षुण्ण रहता है। जडत्व और निद्रा सचेतन भाव के विघ्नभूत हैं। सुषुप्ति में जैसे—'न किंचिदवेदिषम्' अर्थात् मैंने कुछ भी नहीं जाना, इस प्रकार का अनुसन्धान व्युत्थान के समय उत्पन्न होता है। इस प्रकार का भाव सचेतन ध्यान में नहीं रहता है। क्योंकि अज्ञान या शून्यता जड़ का लक्षण है, चैतन्य का लक्षण नहीं है। वेदान्त के सुप्रसिद्ध दृष्टान्त सुषुप्ति अवस्था के परिचायक के रूप में दो धर्मों का अनुसन्धान मिलता है। एक है 'सुखमहमस्वाप्सम्' अर्थात् मैं खूब आनन्द से सोया एवं दूसरा है 'न किंचिदवेदिषम्' अर्थात् मैंने कुछ भी नहीं जाना। एक रसास्वाद है और दूसरा है अज्ञान। वास्तविक ध्यान में इन दो में से एक भी नहीं रहता है। क्योंकि वह रसास्वाद एक प्रकार से भोग के अन्तर्गत है एवं कुछ न जानना अज्ञान का स्वरूप लक्षण है। यथार्थ ध्यान में आनन्द नहीं रहता हो सो बात नहीं है, किन्तु वह स्वरूप की दिशा का आनन्द है, भोगानन्द नहीं है, माँ की भाषा में 'मूल का स्वाद' है। इसलिये वास्तविक ध्यान के बाद सांसारिक सब प्रकार के आनन्द यहाँ तक कि सुषुप्ति अथवा ब्रह्मलोक का आनन्द भी अत्यन्त फीका प्रतीत होता है। इसलिये सांसारिक आनन्द की ओर स्वाभावतः ही चित्त विरक्त हो जाता है। अर्थात् वैराग्य का उदय हो जाता है। वास्तविक

ध्यान का यही एक परिचायक लक्षण है। जितनी इस ध्यान की गाढ़ता बढ़ती है उतना ही सम्पूर्ण विश्व के, यहाँ तक कि विश्व की मूलभूत प्रकृति अथवा गुणमयी सत्ता के प्रति स्वभावतः वैराग्य का उदय होता है। नित्य और अनित्य का विवेक अपने आप ही अभिव्यक्त हो उठता है।

६–मन की पुष्टि

देह की पुष्टि के लिए जैसे आहार आवश्यक है वैसे ही मन की पुष्टि के लिये भी उसका उपयुक्त आहार चाहिये। मन एकमात्र परम वस्तु के सिवा अन्य किसी से भी पुष्ट नहीं होता है। जब तक वह परम वस्तु प्राप्त नहीं होगी तब तक उसकी चंचलता दूर नहीं हो सकती है। सांसारिक किसी रस से मन की जो तृप्ति होती है वह सामयिक तृप्ति है। वह तृप्ति दीर्घकाल तक नहीं रहती है। कुछ समय बाद फिर चंचलता जाग उठती है। किन्तु परम वस्तु की प्राप्ति होने पर मन स्थिर हो जाता है, व्युत्थानरहित हो जाता है। निष्क्रिय परम शान्त रूप से परम सत्ता के साथ एकरस हो जाता है। परम वस्तु के रस की प्राप्ति होने पर स्वभाव की धारा में मन पड़ जाता है। तब वह फिर बाहर की ओर आकृष्ट नहीं होता है। स्वभाव की धारा में ही अन्तर्मुख हो बहता रहता है। मन के यथोचित पुष्टिलाभ करने पर जड समाधि आदि का सम्भव नहीं है। तब पुष्ट हुआ मन अपने को जानना चाहता है एवं उसके फलस्वरूप किसी शुभ मुहूर्त में वह अपने को ही परम वस्तु के रूप में पहचान जाता है।

६–क्षण का रहस्य

क्षण का रहस्य अत्यन्त जटिल भी है और सरल से सरल भी है। हम लोगों की चित्तवृत्ति काल के अधीन होकर संस्कार वश निरन्तर आन्दोलित हो रही है। इसलिये वह स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म सत्ता को धारण नहीं कर सकती है। योग-शास्त्र में क्षण की महिमा का विशेषरूप से वर्णन आया है। काल क्षणों की समष्टि है। वस्तुतः काल नाम का बुद्धि से अतिरिक्त पृथक् कोई पदार्थ नहीं है। काल की वास्तविक सत्ता योगी लोग नहीं मानते हैं। क्षण ही वास्तव में सत्य है। काल बुद्धि से कल्पित एक पदार्थमात्र है। क्षण के आनन्तर्य से ही काल का ज्ञान उत्पन्न होता है एवं मूल स्पन्दन के प्रभाव से एक ही क्षण आन्दोलित अवस्था में बहुत क्षणों के रूप में बुद्धि में अवभासित होता है, इसलिये विस्तार विशिष्ट काल की प्रतीति होती है। समग्र काल के पृष्ठभाग में एकमात्र क्षण विद्यमान है। उस एक ही क्षण में

अनन्त विश्व के अनन्त परिणाम संघटित हो रहे हैं। क्षण में क्रम नहीं है। क्रम काल का धर्म है। इसीलिये क्षण का आश्रय करके जो महाज्ञान उदित होता है उसमें भी क्रम नहीं रहता है। जब उस महाज्ञान का उदय होता है तब वह क्रमशः नहीं होता। क्रम का उल्लंघन कर सर्वविषयक सर्वाकार ज्ञान एक ही क्षण में प्रकट होता है। उसी का नाम सर्वज्ञत्व है। वह ज्ञान एक ही संग सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान दोनों ही है। इसीलिये उस ज्ञान का उदय होने पर फिर कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रहता है। ज्ञान अनन्त रूपों से प्रकाशित होता है, इसलिये ज्ञेय उस समय ज्ञान के अन्तर्भूत हो जाता है। योगी का विवेकज ज्ञान जिसे प्रातिभ ज्ञान भी कहा जाता है, इस महाज्ञान का ही एक दिग्दर्शनमात्र है। स्तर के बाद स्तर यों क्रम का अवलम्बन कर पूर्ण ज्ञान का उदय नहीं होता है। अखण्ड ज्ञान का जब उदय होता है तब अकस्मात् एक क्षण में ही उदय हो जाता है, खण्डशः नहीं होता।

काल के मध्य में क्षण का पता सहसा नहीं लगता है। क्योंकि काल क्षण को ढक कर अपने ऐश्वर्य को प्रकट किये है। यद्यपि काल की सत्ता में प्रच्छन्न रूप से सर्वत्र क्षण निहित है तथापि सन्धि के बिना उसका आविष्कार नहीं किया जा सकता है। दिन में काल में अवयवों की सन्धियाँ स्थूलमान से तीन अथवा चार या आठ भागों में विभक्त होती हैं। त्रिसन्ध्या, चतुःसन्ध्या, अष्टकाल आदि इन विभागों के ऊपर कल्पित हैं। वैष्णवों की अष्टकाल की लीला का स्मरण भी इन आठ क्षणों को पकड़ने के लिये ही है। त्रिसन्ध्या या चतुःसन्ध्या का अनुष्ठान भी इसी सन्धि क्षण को हस्तगत करने के लिये है। चाहे जिस किसी प्रकार से भी हो एक बार उस महाक्षण की प्राप्ति होने पर फिर उसके खो जाने की सम्भावना नहीं है। कारण कि उस समय काल में सर्वत्र ही उस महाक्षण का साक्षात्कार हो जायगा। एक बार स्वरूप में आत्मदर्शन होने पर अथवा इष्टदर्शन होने पर जैसे जगत् की प्रत्येक वस्तु में आत्मदर्शन या इष्टदर्शन सहज होता है वैसे ही एक बार वह महाक्षण यदि मिल जाय तो फिर किसी काल में भी उसके अभाव का अनुभव नहीं होता। इसीलिये माँ ने कहा— "क्षण में सब क्षण रहते हैं। उस क्षण का स्पर्श लगने पर तुम सब क्षणों को पा जाओगे।" महाक्षण एक ही है सही, किन्तु एक होने पर भी वह सबमें एक ही समय प्रकाशित नहीं होता है। इसलिये प्रत्येक को ही प्रकट होने तक लगे रहना पड़ता है। और एक बात है। वह यह कि प्रत्येक मनुष्य ने एक विशेषता लेकर जन्म ग्रहण किया है। स्थूल

दृष्टि से उस विशेषता को जन्मान्तर में कर्म संस्कार की विचित्रता द्वारा जानने की चेष्टा की जाती है। किन्तु वास्तव में कर्मवैचित्र्य भी मूल कारण नहीं है। मूल कारण का जन्म कालीन क्षण का सम्बन्ध है। अर्थात् जन्म के समय जो क्षण प्रबल रहता है वही क्षण समग्र जीवन को नियमित करता है। साधारण जीव के लिए उसका अतिक्रमण करना सरल नहीं है। माँ ने कहा है—"जो जिस क्षण में पैदा हुआ है उसका सारा जीवन उसी रूप में नियन्त्रित चलता है न।" गर्भाधान के समय की स्थिति अथवा भूमिष्ठ होने के समय की स्थिति सम्पूर्ण जीवन की धारा का निर्देश करती है।

८—वास्तविक वैराग्य किसे कहते हैं

वैराग्य कहने से साधारणतः वितृष्णा का बोध होता है। योगशास्त्र के अनुसार पर-वैराग्य और अपर-वैराग्य के भेद से वैराग्य दो प्रकार का है। भोग्य वस्तु अथवा काम्य पदार्थ के ऊपर वितृष्णा ही अपर-वैराग्य का स्वरूप है। इसी जगत् में हो चाहे लोक लोकान्तरों में ही हो किसी स्थान पर भोग्य वस्तु के प्रति आसक्ति का उदय न हो तो समझना होगा कि वैराग्य का उदय हुआ। यह अनासक्ति वास्तव में जगत् के प्रति अथवा बाह्य विषयों के प्रति विरक्ति अथवा तुच्छत्वबुद्धि नहीं है। यहाँ तक कि द्वेष भी नहीं है। इस भोगाकांक्षा के पूर्ण होने के फलस्वरूप अथवा कारणान्तर से पैदा हुई चित्त में एक उदासीनता होती है। शरीर और मन के उपादान इस तरह परिवर्तित हो जाते हैं कि उनमें फिर विषय सम्बन्ध का सहन नहीं होता। विषय का लेशमात्र संस्पर्श यहाँ तक कि संस्पर्श की सम्भावना भी चित् को व्याकुल कर डालती है। भीतर आग जल उठने पर बाहर की शीतलता उसे तृप्ति प्रदान नहीं कर सकती है। जिसके हृदय में वास्तविक वैराग्यरूपी अग्नि धधकी हो उसके लिए सांसारिक सुख से तृप्ति होना असम्भव है। वास्तविक वैराग्य के वर्णन के प्रसंग में माँ ने इसीलिए कहा है—"वैराग्य से सांसारिक वस्तुओं में वैराग्य या उपेक्षा नहीं होगी, ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि शरीर लेता नहीं है, विरक्ति अथवा क्रोध नहीं होगा।"

इस अपर-वैराग्य के ऊपर पर-वैराग्य का स्थान है। जिस प्रकृति के गुण से लोक-लोकान्तर और सब भोग्य पदार्थ रचित हैं। जब चित्त केवल भोग्य पदार्थों के ऊपर विरक्त न होकर और भी ऊपर के परिणामशील जगत् के मूल उपादानों के ऊपर वैराग्य को प्राप्त होता है तब उसकी इस गुणवितृष्णा को पर-वैराग्य

संज्ञा दी जाती है। पर-वैराग्य होने पर लोक लोकान्तर के ऐश्वर्य तो दूर रहे, सम्प्रज्ञात समाधि और उससे उत्पन्न प्रज्ञा के, यहाँ तक कि विवेक ज्ञान के ऊपर भी वैराग्य हो जाता है। गुण-संश्लिष्टरूप से आत्मस्वरूप का दर्शन न होने तक पर-वैराग्य का आविर्भाव नहीं होता है। पर वैराग्य के बाद संस्कारात्मक चित्त का निरोध अवश्यंभावी है। इसलिए उसके अव्यवहित काल में (अर्थात् अविलम्ब) ही चित्स्वरूप आत्मा की स्वरूपप्रतिष्ठा हो जाती है।

९–विषय किसे कहते हैं

माँ कहती हैं:—"जिसमें विष होता है अर्थात् जो हानि पहुँचाता है और मृत्यु की ओर खींच कर ले जाता है वही विषय है"। जिसमें विषय की गन्ध नहीं उसका प्रकाश ही निर्विष है, अर्थात् अमृत। वस्तुतः विषय कुछ भी नहीं है। एकमात्र ज्ञान ही अखण्ड रूप से सर्वत्र विराजमान है। किन्तु मनुष्य जब तक समय के अधीन रहता है तब तक उस ज्ञान को कुछ अंश में संस्कारवश विषय के रूप में ग्रहण करने का बाध्य होता है। किन्तु सब बन्धनों के कट जाने पर एकमात्र अखण्ड ज्ञान ही विराजमान होता है। उस समय फिर विषय का अस्तित्व नहीं रहता। ज्ञान को विषय के रूप में सजाने पर भी ज्ञान ज्ञान ही रहता है। उसका रूपान्तर सिद्ध नहीं होता। यही अमरत्व का निदर्शन है। चैतन्य शक्ति को यदि जगाया जा सके तो यही स्वाभाविक है।

१०–गुरु और धारा

माँ कहती हैं,—"किसकी कौन धारा है यह गुरु जानते हैं।" साधक की व्यक्तिगत प्रकृति अर्थात् उसके जन्मान्तर के संस्कार, रुचि, सामर्थ्य एवं अधिकार के अनुसार उसके साधनपथ अथवा अध्यात्म जीवन की धारा निरूपित होती है। साधक स्वयं भी अपनी वास्तविक धारा को नहीं पहचान सकता है। रोगी जैसे साधारणतः अपने रोग की विशेषता को हृदयंगम नहीं कर सकता एवं निदान के सम्बन्ध में चिकित्सक की विचारशक्ति के ऊपर निर्भर होने को बाध्य होता है वैसे ही ज्ञानहीन साधक भी अपने साधनपथ का निरपेक्ष रूप से निर्णय करने में समर्थ नहीं होता है, इसलिए सदा गुरु के ऊपर ही निर्भर रहने को बाध्य होता है। एकमात्र गुरु ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, इसलिए उनकी सहायता के बिना अल्पज्ञ जीव अपने व्यक्तिगत जीवन की धारा का भी ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पाता। माँ और भी कहती हैं—"लाइन तो गुरु बतलाते हैं, लाइन का निर्देश गुरु करते हैं, गुरु ही साधना की शिक्षा देते हैं। करते-करते फलप्राप्ति

अपने आप प्रकट होती है।" साधक का कर्तव्य है बिना विचारे गुरु के आदेश का पालन किये जाना। गुरु ने जिससे जो करने अथवा जो न करने के लिए निर्देश किया है उस निर्देश के अनुसार यथाशक्ति चलने की चेष्टा करना ही उसका एकमात्र कर्तव्य है। तैलधारा के समान अविच्छिन्न प्रवाह से अर्थात् अखण्ड भाव से साधक को गुरुप्रदत्त सावनसम्पत्ति का विकास करने के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए। यदि अखण्ड को पाना हो तो दो विषयों में सावधान होना आवश्यक है। पहला है—लक्ष्य को एकमात्र अखण्ड की ओर लगाना। खंड सत्ता की ओर लक्ष्य होने पर हजारों साधनाओं से भी अखण्ड की उपलब्धि नहीं हो सकती है। समुद्र चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो, छोटा घड़ा समुद्र से जल ले जाते समय अपने परिमाण के अनुसार ही जल ले जाता है। अतएव लक्ष्य जिससे अखण्ड की ओर बँधा रहे उसके लिए अपने आधार को तैयार करना आवश्यक है। दूसरा है—अखण्ड को यदि पाना हो तो साधक की व्यक्तिगत चेष्टा भी अखण्ड भाव से ही होनी चाहिए। चेष्टा की धारा में कोई एक भी सूत्र यदि विच्छिन्न हो जाए तो लक्ष्य अखण्ड में बँधा रहने पर भी अखण्ड की अनुग्रहप्राप्ति बहुधा कठिन हो जाती है। चेष्टा नियमित रूप से एवं अटूट निष्ठा के साथ अक्षुण्ण पद्धति का अवलम्बन करके करनी चाहिए। बीच में अन्तर पड़ने पर पीछे के साथ आगे का सम्बन्ध बहुधा टूट जाता है एवं बहुत दिनों का संचित साधन-संस्कार सामयिक असावधानता वश बाह्य जगत् की विरोधी शक्ति के प्रभाव से दब जाता है। उसके लिए माँ ने उद्यमशील साधकों को सावधान कर दिया है। कहा है—"व्यवधान से गाँठ पड़ जाती है।" जिस तरह व्यवधान न पड़े अर्थात् पूर्वापर साधनाओं के बीच नैरन्तर्य नष्ट न हो उसके लिए चेष्टा करना उचित है। क्योंकि गाँठ पड़ जाने पर गाँठ सुलझाने में व्यर्थ बहुत समय नष्ट हो जाता है।

साधना करते-करते कभी न कभी किसी मंगलमय महामुहूर्त में वह मंगलमय महाप्रकाशमय सत्ता स्वयं ही फलस्वरूप में साधक के अन्दर अभिन्न रूप से प्रकाशित होती है। जिसका ग्रहण नहीं किया जा सकता, जो सब साधनों के अगोचर है वह स्वयं ही तब अपने को पकड़ा देती है, अपना ग्रहण करा देती है। इसी का नाम अधर का (अग्राह्य का) ग्रहण करना है। वस्तुतः वह स्वयंप्रकाश सत्ता का ही आत्मप्रकाशन है। एकमात्र गुरु में ही यह शक्ति है। इसीलिए कहा जाता है। गुरु ही धारा बतलाते हैं एवं गुरुभक्ति स्वभाव की गति में साधक को प्रेरित करती है। इसी का नाम है—"युक्त स्थिति के महाक्षण का स्पर्श"। एक बार

उस स्पर्श की प्राप्ति होने पर फिर कुछ पाने को शेष नहीं रहता है। क्योंकि यद्यपि वह एक क्षण का व्यापार है फिर भी उस एक क्षण में ही अनन्त क्षण रहते हैं। किसके जीवन में कब उस महाक्षण का आविर्भाव होता है, यह कहा नहीं जा सकता। अपने निर्दिष्ट कर्मों के अधिकार और शक्ति के अनुसार यथा-सम्भव विशुद्धभाव से सम्पन्न कर सकने पर एवं उचित धैर्य के साथ प्रतीक्षा कर पाने पर वह 'क्षण' कभी न कभी अवश्य आवेगा ही। सब साधकों के कर्म की प्रकृति एक नहीं होती। जिसकी जो दिशा अपूर्ण रहती है कर्म द्वारा उसे उस दिशा की पूर्ति करनी पड़ती है। इसलिए साधकों में सब के कर्मों की व्यवस्था एक प्रकार की नहीं होती है। किसका किस दिशा में कर्म आवश्यक है, गुरु ही इसका निर्देश करते हैं।

११—करते-करते ज्ञान होता है

कुछ लोग समझते हैं, कर्म करते-करते ज्ञान का उदय होता है। किन्तु माँ कहती हैं—"वास्तव में कर्म से ज्ञान नहीं होता।" ज्ञान साध्य वस्तु नहीं है, वह नित्य सिद्ध स्वयंप्रकाश वस्तु है। वह उत्पन्न नहीं होता एवं एक प्रकार से कहा जा सकता है कि वह आविर्भूत भी नहीं होता है। इसलिए वस्तुतः वह अन्य-निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र होने से स्वयंप्रकाश है। किन्तु स्वयंप्रकाश होने पर भी साधक के निकट उसका प्रकाश या आविर्भाव होता है। साधक का अन्तःकरण विविध प्रकार के आवरणों से आच्छन्न (ढका) रहा है, इसलिए यह नित्य सिद्ध प्रकाश भी उसके प्रति तिरोहित रहा। क्रिया से साधक के चित्त का आवरण नष्ट होता है। इसलिए क्रिया की सार्थकता सर्वतोभावेन स्वीकारयोग्य है। पर क्रिया ज्ञान की कारण नहीं है यह भी सत्य है।

१२—समय और स्व-मय

साधक कालराज्य में समय के अधीन रहता है। इसलिए एक ही वस्तु समय के भेद से उसके निकट भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होती है। कालराज्य में भेद ज्ञान की प्रधानता रहती है। इस कारण उस समय सर्वत्र स्वमय भाव नहीं हो सकता है। किन्तु कालराज्य में भेदज्ञान के रहने पर भी साधनपथ पर अग्रसर होते रहने पर क्रमशः परमार्थ की ओर गति होती है, इस कारण भेदज्ञान में भी क्रमशः एक प्रकार के उत्कर्ष का अनुभव होता है। इसलिए पहले जिन सब तत्त्वों का प्रकाश होता है उसके ऊपर के स्तर पर चढ़ने पर अधिकतर व्यापक

तत्त्वों का प्रकाश होता है ! उस समय प्रतीत होता है कि भेदज्ञान क्रमशः अभेद-ज्ञान की ओर अग्रसर हो रहा है । चरम अवस्था में जब अखण्ड महातत्त्व का प्रकाश होता है । तब उस एक तत्त्व के साक्षात्कार द्वारा सब तत्त्वों की मीमांसा-सुचारुरूप से सम्पन्न हो जाती है ।

१३–अभाव की गति और स्वभाव की गति

जीवन की धारा का विचार करने पर इन दो गतियों के साथ हमारा परिचय होता है, एक है अभाव की गति और दूसरी है स्वभाव की गति । साधारणतः सांसारिक जीव अभाव की गति का अवलम्बन करके ही चलते हैं । प्रतिनियत विभिन्न प्रकार के अभावों के ज्ञान को जगाना इसका स्वभाव है । केवल वही नहीं, अभाव का बोध जगाने के साथ ही साथ उस अभाव के पूरण की चेष्टा भी होती है । केवल चेष्टामात्र ही होती है, किन्तु उससे विशेष कोई फल-लाभ नहीं होता । कारण कि अभावों की पूर्ति होना भी ठीक पूर्ति नहीं है । प्यास से सूखे हुए कण्ठ में सुशीतल जल से सेक करने पर सूखा हुआ कण्ठ आर्द्र होता है एवं प्यास भी निवृत हो जाती है, यह सत्य है । किन्तु यह प्यास की निवृत्ति स्थायी नहीं होती । फिर कुछ समय के अनन्तर ही पहले की तरह प्यास की पीड़ा से कण्ठ सूख जाता है । अभाव के जगत् में जीव है इसलिए अभाव की गति काम करती है । कोई भी अभाव पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से पूर्ण नहीं होता है, फिर अभाव का उदय हो जाता है । प्यास के तुल्य सभी प्रकार के अभाव एक ही तरह के समझने चाहिये । अभाव की धारा में रहने पर अभाव-रहित होने का कोई उपाय नहीं है । सारा जगत् इस अभाव की गति में स्थित है । इसलिए वह अभाव के ज्ञान से चिरशान्ति-लाभ का उपाय नहीं खोज पा रहा है । किन्तु माँ कहती हैं, "हर एक में अभाव की गति के तुल्य दूसरी भी एक गति है, वही स्वभाव की गति है । वही महागति है । प्रत्येक जीव में स्वभाव की धारा विद्यमान है एवं कार्य कर रही है । किन्तु हम लोगों का चैतन्य अभाव के संस्पर्श से जड़ीभूत है, इसलिए स्वभाव की धारा का कोई अनुसंधान नहीं करता है । फल्गु नदी की धारा जैसे भूमि के अन्दर बहती है वैसे ही स्वभाव की धारा भी अत्यन्त गुप्त तथा भीतर ही भीतर अपना काम करती है । गुरुकृपा से एवं अपने धैर्य और अध्यवसाय के फलस्वरूप यदि इस धारा में पड़ा जाए तो ऐसी स्थिति में अनन्त काल के लिए अभाव के उत्पीड़न से मुक्तिप्राप्ति का मार्ग मिल जाता है । अभाव की धारा में जैसे अभाव या अपूर्णता का ज्ञान ही स्वाभा-

विक है, वैसे ही स्वभाव की धारा में परिपूर्ण की प्राप्ति होना स्वाभाविक है। स्वभाव में स्थिति प्रदान करना और स्वभाव के कर्म की पूर्णता सिद्ध करना ही स्वभाव की धारा की विशेषता है। एक बार उस धारा का स्पर्श प्राप्त होने हर मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है। क्योंकि शीघ्र ही चाहे विलम्ब से हो यही धारा उसको स्वभाव में अथवा पूर्णता में पहुँचा देगी एवं उसकी सब प्रकार की अपूर्णताओं को दूर करेगी। प्रश्न हो सकता है कि जीव को स्वभाव की गति कब प्राप्त होती है? माँ ने उसके उत्तर में समझाया है—यद्यपि स्वभाव की गति प्रत्येक जीव में गुप्त रूप से सदा विद्यमान है तथापि वह तब तक अपने को प्रकट नहीं करती, जब तक जीव सांसारिक विषयों के प्रति अनासक्त नहीं होता। माँ कहती हैं—जब हृदय में वास्तविक वैराग्य का उदय होता है जब इस जगत् की कोई भी वस्तु मन को शान्ति प्रदान नहीं कर सकती, जब चारों ओर अविच्छिन्न एवं असह्य ज्वाला और ताप का अनुभव होता है। तभी स्वभाव की गति अपने आप जाग उठती है। जब तक सांसारिक आनन्द फीका प्रतीत नहीं होता, सांसारिक ऐश्वर्य और शक्ति के मन से दूर हुए बिना जीव स्वभाव के आकर्षण का अनुभव नहीं कर सकता। स्वभाव की गति का अनुभव करना जो है, नित्य सिद्ध गुरु की अनुग्रह शक्ति का संचार भी वही है। कारण की स्वभाव की धारा में जीव को प्रेरित करना ही गुरु की अनुग्रहशक्ति का प्रधान कार्य है।



सात

१–विकृतक्षण और महाक्षण

क्षण के सम्बन्ध में पहले भी कुछ प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः क्षण एक ही है, उसमें सब क्षण रहते हैं। जिसे महाक्षण कहा जाता है वह भी उसी में रहता है एवं जिसका कहीं-कहीं पर माँ ने विकृतक्षण के नाम से उल्लेख किया है वह भी उसी में है। मूल में क्षण एक के सिवा दो नहीं हैं। इसीलिए योग-भाष्यकार व्यासदेव ने कहा है "एक एव क्षणः, तस्मिन् एकस्मिन्नेव क्षणे सर्वं जगत् परिणामम् अनुभवति।" अर्थात् केवल एक ही क्षण है, दूसरा क्षण नहीं है। उस एक ही क्षण में सारा जगत् अनन्त प्रकार के परिणामों को प्राप्त होता है। जिस समय मनुष्य का जन्म होता है, अर्थात् माता के गर्भ में जिस समय मनुष्य के अस्तित्व का संचार होता है अथवा देह की परिपुष्टि होने के अनन्तर माता के गर्भ से जिस समय वह भूमि पर आता है, वह क्षण मनुष्य-जीवन का मूल क्षण माना जाता है। वह अत्यन्त मूल्यवान् है, क्योंकि उसी का सम्पूर्ण जीवन पर नियन्त्रण रहता है। वास्तव में सम्पूर्ण जीवन में उसी एक क्षण की विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। उस मूल क्षण में सम्पूर्ण जगत् की आपेक्षिक सम्बन्धमूलक सत्ता विद्यमान रहती है। उसमें जो शक्तियाँ निगूढ़ रूप से विद्यमान रहती हैं, जीवनपथ पर चलते-चलते क्रमशः उन्हीं की अभिव्यक्ति होती है। जैसे बीज में वृक्ष और फूल, फल आदि सब सामग्रियाँ अति सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती हैं, वैसे ही उस एक क्षण में ही विस्तार को प्राप्त हुए समग्र जीवन की सारी विचित्रताएँ विद्यमान रहती हैं। जिसकी हम लोग काल के नाम से व्याख्या करते हैं, वह योगी की दृष्टि में उसी क्षण का बहुत्वमूलक कल्पित विस्तारमात्र है। यदि यह क्षण भलीभाँति स्वायत्त किया जा सके तो उससे सम्बद्ध सारा जीवन और उसके अन्तर्गत कर्म और भोगवैचित्र्य सब कुछ स्वायत्त हो जाता है। यह पूर्ण सत्ता की ओर से अर्थात् प्राकृत गुणमय एवं अनित्य प्रकाश की ओर से कहना हुआ। दूसरे पक्ष में साधक की साधना के प्रताप से तथा समुदित सौभाग्य के प्रभाव से जिस क्षण का आविर्भाव होता है वह महाक्षण है। वही उसे उसके

पूर्णत्व की ओर साथी के रूप में प्रेरित करता है। उस क्षण का स्पर्श होने पर मनुष्य के सामने नित्यसत्य का प्रकाश हो जाता है एवं उसकी सब क्रियाएँ पूर्ण हो जाती हैं। उस समय मनुष्य के सामने उसके निज स्वरूप से पृथक् कुछ भी नहीं भासता अर्थात् उस समय सब कुछ एक अद्वैत के रूप में प्रतिभासित होता है एवं साथ ही साथ जहाँ पर पार्थक्य का कुछ भान नहीं रहता वहाँ भी पार्थक्य का स्फुरण स्पष्ट ही प्रतीत होता है। उस अवस्था में महासत्य —विकल्प हीन, अखण्ड, अबाधित सत्य—अपना प्रकाश करता है, इसलिए भेद-अभेद में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं रह सकता। उस समय भेद में भी स्पष्टतः अभेद दिखाई देता है एवं अभेद में भी अनन्त विचित्रताएँ निखर उठती हैं। विरुद्ध धर्मों के प्रभाव से परस्पर का (सहावस्थान) संभव होने पर भी अखण्ड प्रकाश की स्फूर्ति होने पर वह असम्भवता भी भली-भाँति सम्भव हो जाती है। इसीलिए पार्थक्य अथवा भेद जैसे सत्य हैं वैसे ही अभेद और साम्य भी सत्य है। वास्तविक महासत्य वही है जिसमें विरुद्ध धर्माक्रान्त दो खण्ड सत्ताएँ समन्वित हो कर एक ही महासत्य रूप से अपने को अपने से प्रकट करती हैं। विकृत क्षण और महाक्षण में यही भेद है।

२–महाप्रकाश की महिमा

योगी के निकट आवरण रहते हुए भी नहीं रहता अर्थात् सांसारिक जीव की दृष्टि जहाँ आवरण से आच्छन्न (ढकी) हो जाती है योगी की निर्मल दृष्टि को वहाँ आवरण नहीं दिखाई देता है। दूसरी ओर लौकिक दृष्टि में जहाँ किसी प्रकार का आवरण अनुभूत नहीं होता, योगी वहाँ पर भी आवरण की सृष्टि कर सकता है। यही जो आवरण में अनावृत भाव है एवं अनावृत खुले हुए स्वरूप में भी आवरण की सृष्टि है, इन दोनों की जड़ में उस महाप्रकाश की महिमा है। पर्दा अथवा आवरण इन दो के सम्बन्ध में दो प्रकारों से समझना चाहिए अर्थात् आत्मा का ज्ञान या दृष्टिशक्ति एवं कर्म या क्रियाशक्ति इन दो दिशाओं से ही आवरण रहने अथवा न रहने की बात कही जा रही है। आगम में स्पष्ट निर्देश किया गया है कि मूलतः ज्ञान और क्रिया में कोई अन्तर नहीं है। प्रधानता के अनुसार तथा वक्ता की विवक्षा के अनुसार केवल भेद की कल्पना की जाती है। किन्तु जो अखण्ड चैतन्य है उसमें ज्ञान और क्रिया—दोनों रहते हैं। केवल यही नहीं दोनों ही वहाँ पर अभिन्न हैं। इसलिए सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञान का आवरण पृथक् है और उस आवरण की निवृत्ति भी क्षेत्र के भेद से पृथक्-पृथक्

है । क्योंकि ज्ञान का आवरण अपसारित होने पर भी खण्ड दृष्टि के सामने कर्म का आवरण अक्षुण्ण रह सकता है। दूसरी ओर कर्म का आवरण कट जाने पर भी स्थूल दृष्टि में ज्ञान का आवरण रह सकता है । किन्तु महाक्षण का स्पर्श होने पर अर्थात् महाप्रकाश का उदय होने पर ज्ञान और कर्म का आपाततः प्रतीयमान विरोध कट जाता है, इसलिए आवरण-निवृत्ति भी मूल में एक ही है। इसीलिए एक साथ दोनों आवरण निवृत्त हो जाते हैं। इसलिए इस दृष्टि से माँ ने कहा है—"जिस योग में पर्दे का व्यवधान उसके 'कर्म' में बाधक नहीं हो सकता है यह देखना भी उसी प्रकार का है।" केवल यही नहीं, लौकिक दृष्टि से गति और स्थिति के परस्पर विरुद्ध होने पर भी वही है। किन्तु महाप्रकाश की ऐसी महिमा है कि गति में स्थिति अथवा गति ही स्थिति दिखलाई देती है। पक्षान्तर में स्थिति में गति अथवा स्थिति ही गति दिखलाई देती है। माँ ने कहा है—'जो देख सकता है उसके निकट गति और स्थिति में भेद होने पर भी वे भिन्न नहीं हैं। वहाँ पर सब कुछ सम्भव है।' जो देख नहीं सकता है अर्थात् जिसकी सम्यक् दृष्टि खुली नहीं है, वह गति में गति ही देखता है एवं स्थिति में भी स्थिति ही देखता है। किन्तु गति में स्थिति यदि देखना हो अथवा गति को स्थिति के रूप में देखना हो तो महाप्रकाश का स्पर्श आवश्यक है। क्योंकि विरुद्ध में अविरुद्ध का दर्शन महाप्रकाश के बिना नहीं हो सकता। वस्तुतः अविरुद्ध और अखण्ड सत्ता के वक्ष पर ही विरुद्ध और खण्डसत्ता का खेल चलता है। लौकिक दृष्टि स्वभावतः ही खण्ड-सत्ता को देखती है। खण्डसत्ता अपूर्ण है। किन्तु अपूर्णता भी पूर्ण के वक्ष में नित्य विकास पाती है। इसीलिए पूर्ण दृष्टि का उदय होने पर सर्वव्यापक महा-सत्ता तो दिखलाई ही देती है, परन्तु उसके साथ ही साथ अपूर्ण खण्ड सत्ता भी दिखलाई देती है। वही अविरोधी सत्ता है। उसका अभाव कहीं भी नहीं है एवं हो भी नहीं सकता। इसीलिए इस महासत्ता का साक्षात्कार होने पर सांसारिक सब तरह का विरोध विरुद्ध रहकर भी अविरुद्ध के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतएव जिसमें पूर्ण सत्ता के दर्शन की शक्ति पैदा हो गयी उसके निकट कोई भी विरोध विरोध नहीं है अर्थात् उसकी सब के लिए विरोध रूप से प्रतीति होने पर भी, उसके लिए अविरुद्ध रूप में ही प्रतीति होती है। इसका एकमात्र कारण उस महाप्रकाश की महिमा ही है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार के अविरुद्धदर्शी पुरुष का ही बुद्धिमान्, युक्तयोगी तथा कृत्स्नकर्मकृत् के रूप में वर्णन किया है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।

इसका भावार्थ यही है कि जो कर्म में अकर्म देख सकता है और अकर्म में कर्म देख सकता है वही बुद्धिमान् है, उसी को युक्तयोगी कहना उचित है। उसके लिए देखने और करने में कोई अन्तर नहीं रहता है अर्थात् इस तरह देख सकने पर ही सब कर्मों का अनुष्ठान हो जाता है । इस प्रकार की दृष्टि प्राप्त होने पर कुछ भी करने के लिए अवशिष्ट नहीं रह जाता है। वह नित्यसिद्ध महायोगी की अवस्था है। क्योंकि उस समय किसी के भी साथ उसका व्यवधान नहीं रहता है। महाक्षण का प्रकाश ग्रहीत होने से प्रकाश की महिमा में असम्भव भी सम्भव हो जाता है, अघटित भी घट जाता है। इसीलिए माँ ने उस स्थिति का चमत्कार-राज्य के नाम से निर्देश किया है। उन्होंने कहा है 'महाक्षण में यह स्थिति और अस्थिति रहने पर भी नहीं है एवं है भी'। केवल यही नहीं, महाक्षण और विकृतक्षण का जो भेद है वह भी उस समय नहीं रहता है। क्योंकि उस अखण्ड में खण्ड रूप से कुछ नहीं है, इसलिए खण्ड भी वहाँ उसके साथ अभिन्न रूप से अपने को प्रकट करता है।



आठ

१—क्षण और समय

माँ कहती हैं, "क्षण माने समय", किन्तु तुम्हारा यह समय नहीं। समय माने स्व-मय, जिसमें अपने सिवा और कुछ भी नहीं है।" माँ के इस संक्षिप्त विवरण से क्षण का तत्त्व और भी अधिक परिस्फुट हुआ है। साधारणतः समय अथवा काल का कल्पित सूक्ष्मतम अंश क्षण कहा जाता है। योगियों के सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि जिस समय एक परमाणु एक प्रदेश का त्याग कर अन्य देश का आश्रयण करता है समय के उस क्षुद्रतम काल के अवयव को व्यावहारिक भाषा में क्षण कहते हैं। वास्तव में यह परिभाषामात्र है। विचारशील दार्शनिकों में किन्हीं ने काल को अखण्ड-दण्डायमान और नित्य मान कर क्षण को उसी का एक कल्पित अंश माना है। क्रिया का आश्रय लेकर ही इस अवयवविभाग की कल्पना का सम्भव हुआ है। क्योंकि निष्क्रिय सत्ता में विभाग नहीं रहता है। यह एक पक्ष का मत है। दूसरे पक्ष में क्षण को ही मूल सत्ता के रूप में ग्रहण करके काल को उससे आविर्भूत बौद्ध सत्ता माना गया है। अर्थात् काल का अस्तित्व बुद्धितत्त्वपर्यन्त ही स्वीकृत है। जहाँ बुद्धि की क्रिया नहीं रहती है वहाँ बौद्ध पदार्थ काल का भी अस्तित्व नहीं रहता है। वह अवस्था वास्तविक सत्य है। जिसमें पूर्वापर भाग नहीं है, एकमात्र सत्ता ही विराजमान रहती है, वही क्षण है। दृष्टिकोण के भेद से क्षण और काल के सम्बन्ध में इस प्रकार की भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ उठी हैं। इनके सिवा और भी अनेक प्रकार की कल्पनाएँ हैं। इस जगह उनकी आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है। माँ कहती हैं, क्षण कहने से वही महासत्ता समझनी चाहिए जिसमें स्व से भिन्न दूसरी कोई सत्ता अनुभव में नहीं आती है अर्थात् जिसमें एक के सिवा दूसरी किसी सत्ता का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता है। वह महाप्रकाशमय सत्ता ही समग्र विश्व-प्रकृति के मूल में अपने स्वभाव से विराजमान रहती है। वस्तुतः वही सब पदार्थों का स्वरूप या स्वयंरूप अर्थात् निजरूप है। क्षण कहने से इसी 'स्वमय' भाव को समझना चाहिए। वस्तुतः यह भाव है या भावातीत है..यह भी ठीक-ठीक नहीं

कहा जा सकता है। वस्तुतः जहाँ विभाग नहीं है एवं पूर्वापर का विरोध नहीं है वही परम अद्वय स्वप्रकाश एवं स्वसंवेद्य स्थिति 'स्व' है। महाक्षण का यही तात्पर्य है। पहले क्षण के सम्बन्ध में जो कहा गया है उसी की यह प्रकारान्तर से अभिव्यक्ति है।

२—महायोग किसे कहते हैं ?

यह जो क्षण की आलोचना की गयी है उसी से महायोग का तत्त्व भी कुछ-कुछ समझा जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी धारा में चलता रहता है। किन्तु जिस धारा में जो चले, उसको अपनी धारा के अनुसार ऐसा एक क्षण पाना होगा, जिससे कि 'वह सर्वत्र सब महासत्ताओं के साथ समान रूप से युक्त है'—इस महासत्य की उपलब्धि सम्भव हो। इसी का नाम महायोग का प्रकाश है। क्षण मूल में एक होने पर भी व्यक्तिगत धाराओं के भेद से भिन्न-भिन्न साधकों के निकट भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होता है। किन्तु यह प्रकाश यदि वास्तविक प्रकाश हो तो यह महाप्रकाश के रूप में प्रकट हो उठता है। खण्ड भाव से अखण्ड भाव का उन्मेष ही क्षण का प्रधान परिचय है। धारा भिन्न होने पर भी धारा के परिणाम का पूर्ण पर्यवसान इस महाप्रकाश का उदय है। यह महाप्रकाश ही वस्तुतः महायोग का प्रकाश है। योग नित्यसिद्ध है, वह साधना का फल नहीं है एवं किसी क्रिया का परिणाम भी नहीं है। यदि उसको व्यक्तिगत रूप से देखा जाए तो उसे अव्यक्त कहना पड़ेगा किन्तु तब भी वह है, उसको बनाना नहीं पड़ता। क्षण का सम्पर्क प्राप्त होने पर ही वह अव्यक्त अथच, चिरव्यक्त महाप्रकाश साधक के निकट स्वप्रकाश रूप में प्रकट होता है। उस समय देखने में आता है कि यह महायोग समग्र विश्वब्रह्माण्ड के अणु परमाणु के साथ ही नहीं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब अवस्थाओं के साथ एवं अतीत, अनागत और वर्तमान सब कालों के साथ अभिन्न रूप में नित्य सम्बद्ध है। केवल यही नहीं, इस महाप्रकाश में सत् और असत् का वैकल्पिक भेद भी अस्तंगत हो जाता है। इस स्थिति में विरोध रह कर भी अविरोध के साथ एकाकार होकर प्रकाशित होता है। माँ ने इस अवस्था के वर्णन के प्रसंग में एक स्थान पर कहा है, "यह है, नहीं है, नहीं भी नहीं है और है भी नहीं है" अर्थात् इसे सत् भी कह सकते हैं, असत् भी कह सकते हैं और यह सत् भी नहीं कहा जा सकता है और असत् भी नहीं कहा जा सकता है, सब कुछ एक ही समय में। माँ के इस वर्णन से शून्यवादी बौद्धाचार्य नागार्जुन की प्रसिद्ध कारिका याद आती है

"चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।" अर्थात् जो यथार्थ तत्त्व है उसका "है" यों भी वर्णन् नहीं किया जा सकता, "नहीं है" ऐसा भी वर्णन नहीं किया जा सकता है एवं एक ही समय में 'है' तथा 'नहीं' यों दो प्रकार से भी वर्णन नहीं किया जा सकता है एवं इन दो प्रकारों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की कल्पना करके भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। व्यवहारभूमि में यदि वर्णन करना हो तो किसी एक धारा का आलम्बन करके ही वर्णन करना पड़ता है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर इन चारों प्रकारों में से किसी प्रकार से भी उसके स्वरूप का परिचय नहीं दिया जा सकता। नागार्जुन के तुल्य प्राचीन वेदान्ती भी इस प्रकार की बहुत सी बातें बहुत-से स्थलों पर कह गये हैं। किन्तु वास्तविक सत्य यह है कि जहाँ पूर्ण अद्वय स्वरूप की चर्चा हो रही है वहाँ एक पक्ष से जैसे कुछ भी कहा नहीं जा सकता है कि यह सत्य है। वैसे अन्य दृष्टि से देखने पर जो जिस भाव से कहना चाहता है वह उसी भाव से कह सकता है एवं वह कथन भी सत्य माना जाना चाहिए। इसीलिए माँ कहती हैं, उसे जो जो कहता है वह वही है। महायोग उसी का प्रकाशमात्र है।

हम पहले महाक्षण और विकृतक्षण की चर्चा कर चुके हैं। विकृतक्षण वही है जो हमारे खण्ड जीवन को नियन्त्रित करता है। यह बात भी पहले कही जा चुकी है। वह क्षण मूलाविद्यारूप गाढ़ अन्धकारमय अज्ञान का क्षण है। उस समय "अहंभाव" प्रकाशित होता है सही, पर प्रकाश के साथ उसका कोई सम्बन्ध अपनी उपलब्धि में नहीं रहता है। इसीलिए इस क्षण से जीवन की जो धारा नियन्त्रित होती है उसमें चाहे कितना ही ज्ञान का विकास क्यों न हो, पर अपने स्वरूपज्ञान का उदय नहीं होता है। साधना से हो या कृपा से हो अथवा दोनों के सम्मिलित प्रभाव से ही हो जब महाक्षणप्राप्ति हो जाती है तब बिजली की क्षणिक प्रभा के तुल्य एक क्षण में अखण्ड रूप से क्रम के बिना साधक समग्र महासत्तारूपी अपने प्रकाश को अपने स्वरूप के रूप में पहचान सकता है। यह अवस्था स्वयं अपना "आश्चर्यवत्" दर्शन करना है, जिसकी चर्चा गीता में आत्म-साक्षात्कार के प्रसंग में की गयी है। यही आत्म-दर्शन है। यह क्रमशः नहीं होता है, खण्ड खण्ड करके भी नहीं होता है एवं काल के मध्य में भी नहीं होता है। यह समग्र अक्रम साक्षात्कार स्वप्रकाशमय आत्मा का ही साक्षात्कार है। इस अवस्था में और कुछ भी दर्शनीय शेष नहीं रहता है। इसीलिए इस भाव से अपने को जानने पर अथवा देखने पर और दूसरा कुछ जानने या देखने को शेष

नहीं रहता। एक ही अनन्त है और अनन्त ही एक है यह प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है। इसीलिए कहा जाता है, अपनी प्राप्ति होने पर ही विश्व ब्रह्माण्ड प्राप्त हो जाता है।

३–अभाव और स्वभाव

जो अभाव है वही स्वभाव है। मूल में एक के सिवा दूसरा नहीं है। वैचित्र्य चाहे कितना ही क्यों न रहे, वह एक का ही विलास है, केवल विलास नहीं एक ही है, उसका प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है। जीव का अभाव मिटता नहीं, यह सत्य है। उसका एकमात्र कारण यही है कि जीव अभाव से ही अभाव-निवृत्ति की व्यर्थ चेष्टा करता है। किन्तु वह वास्तविक मार्ग नहीं है। स्वभाव पाये बिना, स्वभाव में प्रतिष्ठित हुए बिना अभाव कदापि नहीं मिट सकता। वास्तव में यथार्थ अभाव बोध का जागरण नहीं होता। इसीलिए अभाव से ही अभाव को मिटाने को कोशिश की जाती है। तीव्र अभाव पीड़ा के जाग उठने पर उसी से अपने आप स्वभाव का पता मिल जाएगा। अभावज्ञान का उदित होना ही अभावज्ञान-निवृत्ति का एकमात्र हेतु है। वह जितने ही तीव्र वेग से होगा उतनी ही स्वभाव की प्राप्ति सन्निकट होगी। प्यास पीने के जल के अभाव को सूचित करती है यह सच है, किन्तु चित्त दूसरी ओर विक्षिप्त न हो कर केवल इस जल के अभाव की ओर ही स्थापित होने पर एवं उसके तीव्र होने पर इस तीव्र अभाव के बोध से ही अपने आप पीने के जल को आविर्भूत होने के लिए बाध्य होना ही पड़ेगा। किसी के समीप याचना करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मूल में जो अभाव है, वही स्वभाव है। किन्तु बोध रहना चाहिए। इसीलिए माँ कहती हैं, अभाव जो है स्वभाव भी वही है, मूल में विरोध तो कहीं भी नहीं है, तब भी व्यवहारभूमि में पूरा विरोध रहता है। प्रकाश खुल जाने पर देखने में आता है कि विरोध में विरोध से परे महासाम्य विद्यमान है। मिलन में विरह एवं विरह में ही मिलन जिसने देखना सीखा है, वही यथार्थ में नेत्रवान् है। अर्थात् अद्वैतदृष्टि ही यथार्थ दृष्टि, है, वही चरम सत्य है, अर्थात् सभी मूल में एक हैं। इसीलिए माँ कहती है "दो कहो, एक कहो, अनन्त कहो, जो जो कुछ कहो सभी ठीक हैं।" अर्थात् सभी विकल्प हैं। इसीलिए जो कहा नहीं जा सकता, जो चिन्तन के अतीत हैं उसे सब प्रकारों से कहना भी सम्भव है, उसका चिन्तन करना भी सम्भव है। वह ऐसी ही अद्भुत वस्तु है। उसे जानने की इच्छा ही यथार्थ जिज्ञासा है। यथार्थ अभावबोध के जागे बिना इस प्रकार की जिज्ञासा उदित नहीं हो सकती है। ■

नौ

१–जीव एक है अथवा नाना ?

जिन लोगों ने वेदान्त दर्शन का अनुशीलन किया है वे भली भांति जानते हैं कि मूलतः जीव एक है अथवा नाना, इस प्रश्न के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में मतभेद है। जो एक जीववादी हैं वे जीव का नानात्व औपाधिक मानते हैं। किन्तु जो नानाजीववादी हैं उनकी दृष्टिभङ्गी दूसरी तरह की है। दृष्टि-सृष्टिवाद और सृष्टि-दृष्टिवाद इन दो मतों की ही प्राचीन वेदान्तदर्शन में मीमांसा की गयी है। दृष्टि ही सृष्टि हैं अर्थात् सृष्टि-दृष्टि की समकालिक अथवा समसत्ताक है। यही मत एकजीव-वादी का अभिमत सिद्धान्त है। दृष्टि के अतिरिक्त सृष्टि स्वीकार करने के लिए एकजीववादी राजी नहीं है। क्योंकि उनके मत में दृष्टि की सत्ता और सृष्टि की सत्ता स्वरूपतः अभिन्न है, अथवा दृष्टि का काल और सृष्टि का काल मूलतः एक ही है, इसलिए उन्हें दृष्टि-सृष्टिवाद के सिवा और कोई मत युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इस मत के साथ प्राचीन विज्ञानवादी के मत का कुछ अंशों में सा-दृश्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार दृष्टि की ही प्रधानता है। सृष्टि दृष्टि से स्व-भावतः स्फुरित होती है। बहुत लोगों का मत है कि यही वेदान्त का तात्पर्य है। किन्तु स्थूल दृष्टि वाला लौकिक जगत् इस गम्भीर आशय को समझने में समर्थ नहीं है, इसलिए कुछ आचार्यों ने उनकी धारणा के अनुरूप सृष्टि-दृष्टिवाद को भी अंगीकार किया है एवं उसके अनुसार जीव का नानात्व भी सिद्धान्त रूप में माना है। सृष्टि-दृष्टिवाद का तात्पर्य यह है कि सृष्टि पहले की है और दृष्टि उसके बाद की है। अर्थात् पहले पदार्थ सृष्ट होता है तदनन्तर द्रष्टा उस सृष्ट पदार्थ का दर्शन करता है। व्यवहार-भूमि में हम सब का ऐसा ही विश्वास है।

जिसका नाम दृष्टि-सृष्टिवाद है भिन्न दृष्टिकोण से यदि देखा जाए तो उसी का नाम एकजीववाद है दूसरे पक्ष में सृष्टि-दृष्टिवाद और नानाजीववाद एक ही भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। एकजीववाद मत में एक जीव की मुक्ति से ही सब की मुक्ति हो जाती है। क्योंकि उस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जीव की पृथक् मुक्ति

का प्रश्न ही नहीं उठता। एक फूल जब दस दर्पणों में प्रतिबिम्बित होता है तब दस अलग-अलग फूलों के रूप में उसकी प्रतीति होती है। इन दस फूलों में से किसी एक को पृथक् रूप से हटाया नहीं जा सकता। किन्तु मूल फूल को हटाने पर प्रयत्न के बिना ही दूसरे नौ फूल भी एक साथ हट जाते हैं। उनको अलग-अलग हटाने का प्रश्न उठता ही नहीं। वैसे ही एकजीववादी की दृष्टि के अनुसार जो मूल जीव है, उसी का नाना जीवों के रूप में भान होता है। अविद्या का अंश हो, अन्तःकरण ही हो अथवा अन्य जो कोई सत्ता हो उसमें, एक ही जीव प्रतिबिम्बित हो कर भिन्न-भिन्न जीवों के रूप में अपने को प्रकट करता है। जिस समय उस मूल एकमात्र जीव की मुक्ति होगी उसी समय उसकी मुक्ति के साथ ही साथ आभास-रूपी असंख्य जीवों की भी मुक्ति हो जायेगी। एकजीववादी के मत से उस मूल जीव की मुक्ति अभी नहीं हुई है। क्योंकि यदि उसकी मुक्ति हुई होती तो इस समय कोई भी बद्ध जीव नहीं रहता, क्योंकि बिम्ब यदि न रहे तो प्रतिबिम्ब की सत्ता रह ही नहीं सकती।

वास्तव में जीव एक है अथवा नाना इस सम्बन्ध में दार्शनिक विद्वानों के विचार-विमर्श का अन्त नहीं है। यथार्थ सत्य यह है कि जीव एक है यह भी सत्य है और जीव नाना हैं यह भी सत्य है। दृष्टिभेद से दोनों ही मत समानरूप से सत्य हैं। फिर ऐसा भी एक दृष्टिकोण है जिसका अवलम्बन करने पर जीव का अस्तित्व खोजने पर भी नहीं मिलता। अर्थात् उस दृष्टि में 'जीव' नाम की कोई वस्तु ही नहीं—एक ही ईश्वर एक अथवा नाना जीव रूप में प्रतिभासमान हो रहे हैं। फिर ऐसी दृष्टि भी है जिसमें जीव और ईश्वर किसी का भी अस्तित्व खोजने पर भी नहीं मिलता—एक अखण्ड सत्ता स्वयं-प्रकाश रूप में विराजमान रहती है। वही जीव रूप में और ईश्वर रूप में यहाँ तक कि जड़ पदार्थों के रूप में खण्डदृष्टि-दर्शक को प्रतीत होती है। उस सत्ता के पृथक् जड़, जीव अथवा ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से सत्य की विभिन्न प्रतीतियाँ होती हैं। इन सब विभिन्न प्रतीतियों में से किसी एक को सत्य मान कर औरों का असत्य रूप से प्रत्याख्यान करने का वास्तविक कोई कारण नहीं है। किन्तु एक सीमित घेरे में बँधे हुए मनुष्य अपने-अपने पूर्व-जन्म के संस्कारों की परिधि के अनुसार अपनी-अपनी भावना के अनुकूल दृष्टि अपनाते हैं। वे उससे विपरीत दूसरी दृष्टि को सत्य मान कर अपना नहीं सकते। किन्तु जिनकी दृष्टि नित्य मुक्त है अर्थात् किसी प्रकार की विशेष भावनाओं का

जिसमें रंग नहीं चढ़ा है, उनके लिए सत्य के सभी रूप समान भाव से उपादेय हैं।

व्यष्टि और समष्टि के दृष्टिकोण से भी जीव के एकत्व अथवा नानात्व के सिद्धान्त की आलोचना हुई है। बहुत-सी व्यष्टियों का एकीभाव समष्टि में पाया जाता है। इसलिए समष्टि में एकत्व का अभिमान रहने पर उसे एक मानना युक्तियुक्त है। किन्तु जिस समय समष्टि का विश्लेषण कर उसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न व्यष्टि सत्ताओं का पृथक्-पृथक् आविष्कार किया जाता है उस समय उन पृथक् व्यष्टिसत्ताओं के अभिमान की दृष्टि से जीव का नानात्व भी स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु जिसको समष्टि कहा गया है उसे आपेक्षिक समष्टि समझना चाहिए। कारण, बहुत-सी समष्टियों के संघात से जो बृहत्तर समष्टि बनती है उसमें भी पूर्ववत् एकत्व का अभिमान हो सकता है। इस दृष्टिकोण में यदि देखा जाए तो इस बृहत्तर समष्टि के अभिमानी जीव को एक जीव माना जा सकता है। किन्तु समष्टि के ही विश्लेषण से पूर्व की नाईं जीव-नानात्व आविर्भूत होता है। व्यष्टि और समष्टि का यह आपेक्षिक सम्बन्ध प्रस्तुत महासमष्टि में जा कर पर्यवसित होता है। अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि, जिसमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अन्तर्भूत है, एक ही अखण्ड शरीर मानी जा सकती है। जो इस महाशरीर में अभिमान रखता है वह मूल एक जीव है। इस महासमष्टि के आगे सृष्टि न होने से यह एक जीव ही मूलभूत जीव है। अन्यान्य सब जीव खण्ड-खण्ड पृथक् शरीरों में अभिमान रखने के कारण नाना जीवों के अन्तर्गत हैं।

प्राचीन वैष्णवों ने इसी दृष्टि से जीव के एकत्व और बहुत्व का विवेचन किया था। महासमष्टि का अभिमानी जीव, समष्टि का अभिमानी जीव और व्यष्टि के अभिमानी जीव, विवेचन की सुविधा के लिए पृथक्-पृथक् माने गये हैं। एक महासमष्टि के अन्तर्गत असंख्य समष्टिजीव रहते हैं। वैसे ही एक समष्टिजीव के अन्दर कोटि-कोटि व्यष्टिजीव विद्यमान रहते हैं। देह के अभिमान को लेकर ही जीव के जीवभाव की कल्पना हुई है। सारी की सारी सृष्टि जहाँ उस रूप से कल्पित है वहाँ पर उसका अभिमानी जीव उस एक के सिवा दूसरे प्रकार से कैसे कल्पित होगा। युक्ति के बल से व्यष्टि की सीमा एवं महासमष्टि की सीमा स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु वास्तव में सृष्टि अनन्त है, अतः उसकी सीमा कहीं भी नहीं है। महासमष्टि के बाद ही महत्तर समष्टि सम्भव है। एवं उसी प्रकार व्यष्टि के भीतर की क्षुद्रतर व्यष्टियों का रहना असम्भव नहीं है। अतएव जीव

एक है अथवा नाना ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि जीव जिस दृष्टिकोण से माना गया है उसके अनुसार वह एक भी हो सकता है और नाना भी हो सकता है। दोनों ही मत समानरूप से स्वीकार योग्य हैं, पर दृष्टिभेद से। इसलिए माँ ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है—"जैसे तुम्हारा हाथ, तुम्हारे पैर, तुम्हारी अंगुलियाँ और तुम्हारा सिर यों सर्वांग लेकर तुम एक जीव हो। फिर यदि तुम अपने को एक जीव न कह कर अनन्त जीव कहो तो तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर में कितने ही जीव हैं" इत्यादि इत्यादि। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य-दृष्टि प्रदान कर अपने शरीर में विश्वरूप का दर्शन कराया था। इस प्रकार के विश्वरूप दर्शन की चर्चा बहुत जगहों पर पाई जाती है। वस्तुतः हर एक शरीर में विश्वरूप है। हर एक रोमकूप में यदि एक-एक ब्रह्माण्ड की कल्पना की जाए तो ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण देह में करोड़ों ब्रह्माण्ड मानने होंगे। किन्तु एक ही ब्रह्माण्ड मूलतः करोड़ों व्यष्टि जीवों की समष्टि है। इसीलिए एक शरीर को एक कहा जाता है, बशर्ते वह एकत्व के दृष्टिकोण से देखा जाए, वैसे ही उसी शरीर को एक कहना सम्भव नहीं है, अगर उसमें नानात्व के दृष्टिकोण से विभिन्न अंग-प्रत्यंगों की विविधता दिखलाई दे एवं उन सब अंग-प्रत्यंगों को एक ही देह के अंग-प्रत्यंग न मानकर उन्हें पृथक् सत्ताधारी माना जाए।

२—सृष्टि, स्थिति और लय सदा होते रहते हैं

जीव को जैसे एक अथवा अनन्त दो ही कहना बनता है, फिर जीव नहीं है, एकमात्र परम सत्ता ही है यह भी कहना बनता है, वैसे ही सृष्टि, स्थिति और लय के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। साधारणतः लोगों का ख्याल है कि पहले सृष्टि होती है, तदनन्तर सृष्ट वस्तु की स्थिति होती है एवं स्थिति के उपरान्त उसका लय होता है। इसलिए सृष्टि, स्थिति और लय में एक स्वाभाविक क्रम है, जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। स्थूल दृष्टि से यही प्रतीत होता है इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु दृष्टि जब शून्य होती है एवं आवरण से रहित होती है उस समय सृष्टि, स्थिति और संहार के गम्भीर रहस्य चित्त को आन्दोलित कर डालते हैं। जैसे किसी एक व्यक्ति की अन्य स्थान-प्राप्ति अथवा गति आपेक्षिक दृष्टि के अनुसार जाना कही जा सकती है अथवा आना भी कही जा सकती है। क्योंकि एक ही व्यापार, जो एक दृष्टिकोण से देखने पर जाना है, दूसरे दृष्टिकोण से यदि देखा जाए तो आना भी है। केवल दृष्टिकोण के भेद से नाम का भेद है। ठीक उसी प्रकार एक दृष्टि से जिसका नाम सृष्टि है, भिन्न दृष्टि से यदि

देखा जाय तो उसी का नाम है संहार। मैं जिस व्यापार को सृष्टि मानता हूँ उसी एक व्यापार को लक्ष्य में रखकर कोई उसे संहार भी मानता है। यहाँ हम लोग जिस समय सूर्योदय देखते हैं पृथ्वी के दूसरे गोलार्ध के वासी और लोग उसी व्यापार को सूर्यास्त कहते हैं। सृष्टि और संहार परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध हैं यह सत्य है, किन्तु यह आपेक्षिक दृष्टि से। वस्तुतः सृष्टि में ही संहार रहता है। अनुरूप दृष्टि प्राप्त होने पर इसका अनुभव हो जाता है। इसलिए सृष्टि केवल सृष्टि नहीं है और संहार भी केवल संहार नहीं है। स्थिति के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। वास्तव में एक सृष्टि में एक ही काल में सृष्टि, स्थिति और संहार सबके सब रहते हैं। उसी प्रकार स्थिति और संहार में भी सृष्टि आदि प्रत्येक व्यापार रहते हैं। इसीलिए माँ कहती हैं—"तुमने ज्योंही 'वहाँ जाऊँगा, यह सोचकर पैर बढ़ाया, उसी क्षण में तुम्हारा स्थानत्याग और स्थान-ग्रहण हो गया अर्थात् गति और स्थिति हो गयी।" विषय अत्यन्त जटिल है, किन्तु दुर्ज्ञेय नहीं है। जरा एकाग्रता के साथ ध्यान देते ही माँ की बात समझ में आ सकती है। त्याग और ग्रहण भिन्न होने पर भी भिन्न नहीं है। एक स्थान का त्याग करना ही दूसरे स्थान का ग्रहण करना है। ग्रहण किये बिना त्याग नहीं होता और त्याग किये बिना ग्रहण भी नहीं होता, वस्तुतः एक दृष्टिकोण से जिसका नाम त्याग है अन्य दृष्टि से उसी का नाम ग्रहण है। दोनों ही दृष्टिकोण मूलतः यदि एक ही हों तो ऐसी स्थिति में त्याग और ग्रहण में पार्थक्य कहाँ रहा? एक व्यक्ति दान करता है एवं दूसरा ग्रहण करता है। यदि दोनों ही व्यक्ति मूल में एक ही व्यक्ति हों तो एक ओर से जो दान करता दूसरी ओर वही ग्रहण करता है। यह तत्त्व सहज में हृदयंगम हो सकता है। जगत् के मूल में एक ही तत्त्व है। केवल मूल में ही नहीं शाखा-प्रशाखा में भी वही एक तत्त्व विराजमान है। यदि जगत् की सब खण्ड सत्ताएँ उस एक सत्ता का ही विस्तार हों तो जो दे रहा है वही दूसरे रूप से ले रहा है। देना, लेना, एक का ही खेल है। इस दृष्टिकोण से स्थिति और गति में मूल में कोई भेद नहीं है। क्योंकि दोनों का समन्वय जिस महासन्धि में होता है वह वही एक है। उसी में सब विरुद्ध सत्ताएँ विरुद्ध रहकर भी अविरुद्ध रूप से विराजमान रहती है। वही महासमन्वय की एकमात्र भूमि है।

३—मुक्त का अमुक्त दर्शन असम्भव है

माँ कहती हैं यदि किन्हीं की संसार की ओर यह अमुक्त है, ऐसी भावना

रहे तो वे मुक्त कहाँ ? माँ के गम्भीर अर्थ को अभिव्यक्ति करने वाले इस वाक्य में बड़ा गुप्त सत्य छिपा हुआ है। जिसमें जो नहीं है वह उसे देख नहीं पाता और जान भी नहीं सकता। हम में जो भाव विद्यमान नहीं है अर्थात् जो विकसित भी हो तो भी हमारे लिए उसकी अनुभूति प्राप्त करना सम्भव नहीं है। एक छोटे से बच्चे में कामादि वृत्तियों का व्यापार नहीं रहता, क्योंकि उसमें वे अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती हैं। इसलिए बच्चे को दूसरों में वे सब वृत्तियाँ नहीं दिखाई देतीं अर्थात् देखने पर भी वह उन्हें पहचान नहीं पाता। जिसे दुःख की अनुभूति नहीं, यहाँ तक कि दुःख का स्मरण तक भी नहीं है, वह दूसरे के दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। कारण उसके निकट दूसरे का दुःख दुःख के रूप में उपस्थित ही नहीं होता। वैसे ही यदि किसी की यथार्थ मुक्ति हुई हो तो बन्धन के सारे संस्कार उसकी सत्ता से दूर हट जाते हैं। इसलिए जो यथार्थ में मुक्त है उसके निकट बन्धन और मुक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। क्योंकि वह मुक्त हुआ है यह संस्कार भी उस समय उसमें नहीं रहता। उसको बन्धन और मुक्ति का भेदज्ञान तो नहीं ही रहता, उनका अर्थज्ञान भी नहीं रहता। अपने में जो है वही हम लोग बाहर भी देखते हैं। वस्तुतः सभी कुछ अपने में है—, अपने में रहने से ही सब कुछ रहता है। अतएव स्वयं मुक्त होने पर सारा का सारा विश्व तब मुक्त हो जाता है। सारा का सारा विश्व जहाँ पर मुक्त है वहाँ बन्धन कहाँ ? बन्धन का अभाव होने से विश्व और मैं मुक्त हूँ यह बोध भी नहीं रहता। वह बन्धनमुक्त-प्रश्नहीन अवस्था है। इसीलिए माँ कहती हैं, "मुक्त और अमुक्त का प्रश्न कहाँ ?" एवं "वही मैं यदि मुक्त हो अर्थात् तुम मुक्त हो इसका भान तुम्हें रहे तो फिर अमुक्त का प्रश्न उठ सकता है क्या ?

४—विशुद्ध सत्य

सत्य क्या है और सत्य का निर्णय किस तरह होता है—यह बड़ी जटिल समस्या है। अति प्राचीन काल से ही दार्शनिक पण्डित इस विषय में गवेषणा कर निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं। विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों तथा वैज्ञानिक गवेषणाओं के क्षेत्रों में सत्यनिर्णय की ही चेष्टा चल रही है। किन्तु सत्य का स्वरूप द्रष्टा के दृष्टिकोण के तारतम्य से विभिन्न रूपों में प्रतिभासमान होता है। देश, काल, रुचि, अधिकार तथा चारों ओर से वातावरण के पार्थक्य के कारण अखण्ड सत्य परिच्छिन्न होकर खण्ड सत्य के रूप में प्रकट होता है। जिस किसी भी दार्शनिक की विचारधारा का सूक्ष्मरूप से अनुशीलन करने पर

स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वह एक खण्ड और परिमित सत्य की ही धारणा की चेष्टा मात्र है।

जहाँ खण्ड भाव रहता है वहाँ विरोध अवश्यम्भावी है। क्योंकि खण्ड भाव के मूल में मन की क्रिया रहती है। अतएव जब तक हमलोग मन अथवा अन्तः-करण का अवलम्बन कर सत्य की ओर अग्रसर होंगे तब तक पूर्ण सत्य के स्वरूप का दर्शन असम्भव है ऐसा यदि कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। अविभक्त सत्ता को विभक्त के रूप में ग्रहण करना ही मन का कार्य है। मन का विरोध करके अथवा किसी अन्य कौशल से उसका अतिक्रम करके यदि बोधभूमि में प्रवेश प्राप्त किया जाए तो सत्य का पूर्ण रूप से दर्शन हो सकता है। ऋषि वाक्य है—"नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।" अर्थात् नाना मुनियों के नाना मत हैं। यह नितान्त सत्य बात है। क्योंकि जिसे मत कहा जाता है वह मन की भूमि का व्यापार है। मन की भूमि का अतिक्रमण करने पर एक अखण्ड सत्ता का साक्षात्कार होता है। वहाँ पर मत-मतान्तर का प्रश्न नहीं उठता। जब तक ज्ञान मन का त्याग कर ऊपर नहीं उठता तब तक वह खण्ड ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं है। वैसे ही उस खण्ड ज्ञान का जो ज्ञेय है उसे भी खण्ड सत्य ही जानना होगा।

दर्शनशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के इतिहास में सर्वत्र ही खण्डन-मण्डन का यह व्यापार दिखाई देता है। एक दार्शनिक युक्तियों के बल पर जिस मत की स्थापना करता है अन्यान्य प्रस्थानों के दूसरे दार्शनिक युक्तियों से उस मत का खण्डन कर देते हैं। दार्शनिक जगत् में इस प्रकार का वाद-विवाद चिरपरिचित सत्य है। जिन लोगों की अभिरुचि जिस सिद्धान्त के अनुकूल होती है वे उसी सिद्धान्त को वास्तविक मत समझ बैठते हैं और विरुद्ध पक्ष के सिद्धान्तों को असंगत समझ कर, त्याग देते हैं। वस्तुतः इसमें आपत्तिजनक कुछ भी बात नहीं है। क्योंकि जिनका दृष्टिकोण जिस प्रकार का रहता है वे तो सत्य वस्तु को उसी रूप में देखेंगे। वे दूसरे रूप में देखेंगे किस प्रकार? किन्तु अभिमान तथा संकुचित भाववश हर-एक पुरुष केवल अपने ही सिद्धान्त को सत्य मानता है ऐसी बात नहीं है, बल्कि वह उस सिद्धान्त के विरोधी सम्पूर्ण मत हेय हैं ऐसा प्रचार भी करता है। इसी भाव से विरोध की सृष्टि होती है। इसका एकमात्र कारण अखण्ड सत्य दर्शन के अभाव से पैदा हुई अनुदारता ही है। ये सभी दर्शन सत्य दर्शन हैं, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु अखण्ड सत्य दर्शन ये नहीं हैं। क्योंकि अखण्ड सत्य का दर्शन

होने पर सब प्रकार के विरोधों का समाधान हो जाता है महासत्ता में विरोध का भी एक स्थान है। विरुद्ध दो वस्तुएँ या धर्म परस्पर एक दूसरे का त्याग करते हैं, क्योंकि ये दोनों सीमित तथा परिच्छिन्न हैं। अविरुद्ध सत्ता अखण्ड है वह किसी का भी त्याग नहीं करती। किन्तु जो सत्ता या प्रकाश अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल है उसमें किसी प्रकार के आवरण का कलंक दिखाई नहीं देता, वह अप्रतिहत, अवारित और सर्वव्यापक महासत्ता स्वरूप है वह प्रत्येक खण्ड सत्ता के साथ अभिन्न है, अतः उसमें विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं है। कारण वही अविरुद्ध प्रकाश है और सम्पूर्ण विरोध उसी के आसरे अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में अपना अस्तित्व प्रकट करते हैं। यही सत्य पूर्ण सत्य है। क्योंकि विरोध-रहित होने के कारण वह किसी का भी त्याग नहीं करता। माँ ने उसी का विशुद्ध सत्य के नाम से वर्णन किया है। उन्होंने इसी महासत्य के एक लक्षण का निर्देश किया है। यद्यपि वास्तव में इसका कोई लक्षण नहीं है। वह लक्षण है—खण्ड सत्य में जैसे परस्पर विरोध के कारण बहुत कुछ उससे पृथक हो जाता है। अन्यथा सत्य की मर्यादा क्षुण्ण हो जाती है, अखण्ड सत्य में वैसे कुछ भी अलग नहीं रहता है। क्योंकि विरोध भी उस सत्य के प्रकाश से परम अद्वय स्वरूप में अविरुद्ध रूप ने भासता है। इसीलिए विशुद्ध सत्य में किसी का भी त्याग नहीं होता। इसीलिए माँ ने कहा—"जहाँ विशुद्ध सत्य का प्रकाश रहता है वहाँ कुछ भी छूटता नहीं है।" इस महावाक्य का गम्भीर तात्पर्य यदि भली भाँति समझ में आ सके तो सभी को सहज में प्रतीत हो सकेगा कि माँ कि सदा इस पूर्ण अर्थात् विशुद्ध सत्य में स्थिति रहती है, इसलिए वे वादी और प्रतिवादी दोनों को ही समान रूप में आत्मीय मान सकती हैं। क्योंकि हर एक के दृष्टिकोण के साथ उनको आन्तरिक सहानुभूति रहती है।

५–'न पाना' को पा लेना

हम लोग जगत् में सब जगह चाह और पाने का खेल देखते हैं। अभाव की मार से मनुष्य सर्वदा ही कुछ न कुछ चाहता ही है। बहुधा देखा जाता है कि मनुष्य 'मैंने जो चाहा वही पाया' ऐसा सोचता है और तत्काल तृप्तिजन्य आनन्द का अनुभव करता है। किन्तु कुछ ही समय के अनन्तर फिर दिखाई देता है कि उसको वह तृप्ति स्थायी नहीं रही, फिर अभाव जाग उठता है। तब वह फिर उसी पूर्ववत् अन्वेषण में प्रवृत्त होता है। प्यासे पथिक को जल के अभाव की प्रतीति होती है, इसलिए उसे जल की इच्छा होती है। जल मिलता न हो, यह बात

नहीं है। उसे जल अवश्य मिलता है और वह जल पीकर तृप्त भी होता है। किन्तु उसकी वह तृप्ति स्थायी नहीं रहती है। क्योंकि उसके बाद ही वह फिर पहले की तरह प्यास से कष्ट का अनुभव करता है। उस समय फिर पहले की तरह उसकी जल की आकांक्षा जाग उठती है और वह पुनः जल पाने का प्रयत्न करता है।

इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य की प्राप्ति का कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि इस प्राप्ति से उसकी चाह अर्थात् आकांक्षा चिरकाल के लिए मिटती नहीं। इसलिए यह प्राप्ति प्राप्ति नहीं कही जा सकती। वास्तविक प्राप्ति वही है जिसकी प्राप्ति के अनन्तर एक मुहूर्त के लिए भी फिर आकांक्षा का भाव न उठे। सांसारिक प्राप्ति वास्तविक प्राप्ति नहीं है। माँ ने इसी का नाम रखा है, 'न पाकर भी पा चुके मान लेना।' प्राप्ति न होने तक 'नहीं पाया' समझकर यदि हृदय में निरन्तर विरह की आग जलती रहे तो इस आग की आँच से उसकी क्षुद्रता और मलिनता चिर काल के लिए निवृत्त हो जाती है। वह खण्ड प्राप्ति को प्राप्ति के रूप में ग्रहण नहीं करता और जब तक वास्तविक प्राप्ति नहीं होती तब तक अपने को अभावग्रस्त ही समझता है। अभावबोध यदि तीव्र रूप से जागा रहे तो सांसारिक खण्ड खण्ड प्राप्ति के अनन्तर फिर वे उसे उन्मत्त अथवा आत्मविस्मृत नहीं कर सकतीं। उसके हृदय में अनिर्वाण दीपक जलता रहता है जिसके पवित्र प्रकाश से वास्तविक प्राप्य वस्तु प्राप्त होती है और उसकी चाह अथवा अभाव ज्ञान अनन्त काल के लिए शान्त हो जाता है। इसीलिए माँ ने कहा है, "यह जो निरन्तर तुम लोगों का अभाव जागा है सो क्यों? उसका कारण यही है कि न पाकर भी पा चुके हैं, ऐसा समझ बैठे हो।" अर्थात् हम लोगों के अन्तःकरण में न पाकर भी पा चुके हैं ऐसा जो बोध कभी-कभी उदित होता है उसी के कारण हम लोगों को वास्तविक प्राप्ति नहीं होती एवं एक प्रकार का चिरस्थायी हाहाकार चित्त का शोषण करता है तथा उसे सन्तप्त करता है। पर यदि लक्ष्य स्थिर हो जाता है तो इस अभाव की पीड़ा ही स्वभाव को जगा देने को बाध्य होती है।

६—माँ और मतामत

सर्वत्र ही विचारशील हर एक मनुष्य में कोई न कोई व्यक्तिगत मत दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि हर एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के संस्कारों

से सम्पन्न मन से संचालित होता है। किन्तु माँ मनोभूमि में नहीं रहती हैं। वे सर्वदा स्वयंरूप स्वस्वरूप में स्थित रहती हैं। इसलिए वे इन्द्रियों के अतीत और मन के अतीत हैं। केवल यही नहीं वे सब प्रकार की परिधियों से भी परे हैं। जिसकी कोई परिधि नहीं अथवा व्यक्तिगत दृष्टिकोण नहीं है उसका कोई मतामत नहीं रह सकता। क्योंकि वह मतामत के ऊपर सर्वदा स्वरूप में स्थित है। दूसरे पक्ष में यह भी सत्य है कि उसका अपना कोई मतामत न होने से वह सबके सब प्रकार के मतामतों को ही एक प्रकार से अपने ही मतामत के रूप में ग्रहण कर सकता है। क्योंकि वह स्वरूपस्थ होकर भी आत्यन्तिक स्वच्छता के कारण सब खण्ड सत्ताओं से अभिन्न है। इसलिए एक ओर जैसे उसका अपना कोई मतामत नहीं है दूसरी ओर वैसे ही सबके साथ अभेद होने से सभी के मतामतों को वह अपने मतामत के रूप में ग्रहण करता है और पूर्णरूप से उनका आदर करता है। इसीलिए माँ ने कहा है, "यह न समझो कि यह इस शरीर का मत है। कोई मतामत नहीं है कहो तो एकदम नहीं है। है कहो तो जो कहो वही।"



दस

१–विश्वास का बल

सांसारिक व्यवहार-जीवन के तुल्य आध्यात्मिक जीवन भी विश्वास के ऊपर स्थित है। कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में यदि चलना हो तो एकमात्र विश्वास ही सम्बल है। विश्वास के बिना जीवन-मार्ग में अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। श्रद्धा विश्वास का ही नामान्तर है। गीता में कहा है, "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" अर्थात् श्रद्धा से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। महर्षि पतंजलि ने भी उपायों में श्रद्धा को ही प्रथम स्थान दिया है। उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि श्रद्धा अथवा विश्वास से ही क्रमशः विशुद्ध प्रज्ञा का उदय होता है। वैष्णवगण भी "विश्वास से वस्तु मिलती है" कहकर विश्वास की महिमा गाते हैं। ख्रीष्टीय उपासकों ने फेथ, होप और चैरिटी इन तीन ख्रीष्टीय धर्मों में फेथ अथवा विश्वास को ही प्रथम स्थान दिया है। इसलिए जीवन के मार्ग में विश्वास का मूल्य अत्यधिक है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। बहुत लोग सोचते हैं कि जिनके अन्दर विश्वास के लिए स्थान नहीं हैं अर्थात् जो सन्दिग्ध चित्त हैं उनकी अत्यन्त दुर्गति होती है। बात बहुत ठीक है। भगवान् ने भी कहा है "संशयात्मा विनश्यति" किन्तु वास्तव में डरने का कोई कारण नहीं है। माँ कहती हैं मनुष्यमात्र में हो अल्पाधिक मात्रा में विश्वास न हो यह हो नहीं सकता। विश्वास की मात्रा कम रहने पर वह संशयों से ढँका रहता है। किन्तु मनुष्य के हृदय में उसका बीज एकदम विलुप्त नहीं हो जाता। बीज रूप से विश्वास का अस्तित्व शंशयाकुल चित्त में भी रहता है। अनुकूल परिस्थिति के प्रभाव से वह बीज अंकुरित होकर क्रमशः पुष्ट होता है। मनुष्य-देह अत्यन्त दुर्लभ है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद इस दुर्लभ देह की प्राप्ति होती है। इस देह के सिवा और किसी देह में पूर्णरूप से भगवत्प्राप्ति की सम्भावना नहीं है। अतएव प्रत्येक मनुष्य शरीर में भगवत्प्राप्ति की सम्भावना है इस कारण विश्वास थोड़ी बहुत मात्रा में भी न रहे यह सम्भव नहीं है। किसी का विश्वास एक ओर है दूसरे किसी का विश्वास दूसरी ओर,

इस तरह विश्वास का विषय भिन्न हो सकता है, किन्तु जिसका किसी विषय में विश्वास न हो ऐसा मनुष्य हो ही नहीं सकता।

जब तक सत्संग के प्रभाव से आस्तिक्य बुद्धि का उदय नहीं होता तब तक भीतर स्थित विश्वासबीज को व्यक्त होने का अवसर नहीं मिलता। वस्तुतः सत्संग से विश्वास उत्पन्न नहीं होता, किन्तु अपने अन्तःकरण में अवस्थित विश्वास का बीज अंकुरित हो उठता है और बाहर प्रकट होता है। विश्वास-तत्त्व का विश्लेषण करने पर ज्ञात हो सकता है कि एकमात्र अपना ही यथार्थ रूप से विश्वास किया जा सकता है। जो आत्मीय समझा जाता है उसका ही विश्वास किया जाता है। वस्तुतः अपना आत्मीय के रूप में ग्रहण कर सकने पर ही यथार्थ विश्वास उत्पन्न होता है। अन्य को आत्मीय रूप से स्वीकार करने पर विश्वास की जड़ शिथिल पड़ जाती है, अविश्वास उत्पन्न होता है। विषय अत्यन्त जटिल है, जटिल होने पर भी दुर्ज्ञेय नहीं है। हम लोग व्यावहारिक भाषा में आत्मा और अनात्मा इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। मूल में एक अखण्ड सत्ता रहने पर भी सांसारिक दृष्टि के अनुसार यह विभाग असंगत नहीं है। आत्मा ही अपना है। इस आत्मा को अपने रूप में मानना ही विश्वास है, अनात्मा को आत्मा समझ लेना उसके विपरीत है, अर्थात् उसी का नाम अविश्वास है। वस्तुतः अनात्मा भी कुछ नहीं है। जिस समय सर्वत्र आत्मदर्शन होता है उस समय कहीं पर भी अनात्मभाव नहीं रहता, उस समय सभी अपने हो जाते हैं। उस समय अपनी वस्तु आत्मीय रूप से स्वभावतः ही प्रतीत होती है। उसी का नाम विश्वास है। माँ कहती हैं 'विश्वास माने अपने को अपना मानना। अविश्वास माने दूसरे को अपना मानना।'

२—दुःख का रहस्य

दुःख का मूल कारण क्या है, इसका निर्णय करना कठिन होने पर भी असाध्य नहीं है। इस मायामय जगत् में दुःख और पीड़ा के साथ जिसका परिचय न हो ऐसा कोई आदमी खोज कर भी नहीं मिलेगा। समग्र जीवन की अनुभूतियों में दुःख की अनुभूति प्रायः सभी की प्रबल रहती है। किन्तु दुःख का उदय क्यों होता है इसका अनुसन्धान प्रायः बहुत लोग नहीं करते हैं। स्थूल दृष्टि से दुःख के विभिन्न कारण हो सकते हैं एवं हैं भी, किन्तु वास्तव में द्वितीय ज्ञान से ही दुःख होता है। दुःख का मूल कारण और कुछ भी हो नहीं सकता। उपनिषद्

में कहा है—'द्वितीयाद् वै भयं भवति' उसमें और भी कहा है 'तत्र कः शोकः को मोह एकत्वमनुपश्यतः।' अर्थात् द्वितीय ज्ञान हो अथवा 'मेरे सिवा कोई या कुछ है' इस प्रकार का बोध ही भय का कारण है। जिन्होंने सर्वत्र एकत्व का साक्षात्कार किया है उन्हें शोक, दुःख नहीं रहता है, मोह भी नहीं रहता है। सारांश यह है कि द्वैतभाव कट जाने से अद्वयभाव में प्रतिष्ठा प्राप्त करने पर दुःख से चिरमुक्ति मिल जाती है। माँ कहती हैं, 'भेदबुद्धि दुःख देती है। दुःख देती है दोष रहने से, दो, का अस्तित्व रहने से, इसीलिए कही जाती है दुनिया।' यह जो दोष की बात कही गयी है यही वैषम्य है और यही दुःख का कारण है। गीता ने 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' इस वाक्य से समभाव या साम्य को ही दोषरहित अवस्था कहा है। वास्तव में वैषम्य ही एकमात्र दुःख है। चिकित्सक लोग धातुसाम्य को स्वास्थ्य और धातुवैषम्य को रोग अथवा दुःख कहते हैं। जैसे—'रोगो हि दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।' दूसरी जगह माँ ने कहा है 'अपने बोध में दुःख नहीं है। दूसरे के बोध में ही दुःख है। दो के बोध में ही दुःख, द्वन्द्व, लड़ाई, मृत्यु होती है'। वास्तव में निजबोध ही आनन्द स्वरूप है।

३–दो प्रकार के यात्री

संसार मार्ग में दो प्रकार के यात्री पाये जाते हैं। इनमें से एक प्रकार के यात्री संसार में भटकते फिरते हैं, एक अवस्था से दूसरी अवस्था का अनुभव करते हैं। ये लोग जीवन का लक्ष्य दृढ़ता के साथ पकड़ नहीं सके हैं, इसलिए सर्वदा विक्षिप्त चित्त रहते हैं। ये सब यात्री विषयसुख की आशा से इधर-उधर पर्यटन करते हैं एवं एकमात्र भोगाकांक्षा द्वारा ही प्रेरित होकर सब कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। संसार में इस प्रकार के यात्रियों की ही संख्या अधिक है। किन्तु दूसरे प्रकार के लोग भी हैं, वे लक्ष्य भ्रष्ट नहीं हैं। ये यात्री भगवान् की कृपा से निरन्तर महालक्ष्य की ओर आगे बढ़ने की चेष्टा करते हैं। माँ ने इन लोगों को स्वभाव के यात्री कहा है। ये लोग संसार को परदेश समझते हैं एवं सदा स्वदेश लौटने के लिए उत्कण्ठित रहते हैं। काल के राज्य में जहाँ भूख, प्यास, जरा, मृत्यु तथा काम, क्रोध आदि शत्रुओं का खेल निरन्तर जीव को पीडित करता है यही संसार चिदानन्दमय या भगवत्स्वरूप से निर्गत जीव के लिए विदेश है। जब तक महाज्ञान का उदय नहीं होता तब तक अपने देश और विदेश का यह भेद अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु ज्ञान का उदय होने पर सब कुछ विपरीत दिखाई देता है। उस समय यह विदेश भी स्वदेश के रूप में बदल जाता है। उस समय

विषय कहीं नहीं दिखाई पड़ता। एक मात्र भगवत्सत्ता ही विषय के रूप में सर्वत्र विराजमान दीख पड़ती है।

४—नित्य सम्बन्ध

सम्बन्ध वस्तुतः नित्य ही है, उसमें कोई भूल (भ्रम) नहीं है। अर्थात् जिस किसी रूप में हो भक्त और भगवान् का सम्बन्ध नित्य और कालातीत है। पिता-पुत्र के रूप में, दास-प्रभु के रूप में, सखा-सखा के रूप में, गुरु-शिष्य रूप में अथवा प्रिय-प्रिया के रूप में उनके साथ जीव का सम्बन्ध नित्य है। संसार अवस्था में आत्मविस्मृति के कारण यह नित्य सम्बन्ध भी अनित्य प्रतीत होता है। केवल यही नहीं, सम्बन्ध का अस्तित्व भी लुप्तप्राय हो जाता है। मालूम पड़ता है कि सम्बन्ध भंग हो गया अथवा सम्बन्ध कभी था ही नहीं। किन्तु लीला में इस प्रकार प्रतीत होने पर भी वास्तव में सम्बन्ध सदा ही अक्षुण्ण है और अक्षुण्ण ही रहता है। सम्बन्ध का लोप नहीं होता। फिर ऐसी भी स्थिति है जिसमें भक्त और भगवान् इन दोनों भावों के विलुप्त होने से सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह भावातीत अवस्था की बात है। इसलिए एक ओर जो बहुत पुराना यहाँ तक कि सनातन तथा कालातीत है फिर दूसरी ओर वह प्रतिक्षण नूतन के रूप में प्रतीत होता है। दोनों ही समान रूप से सत्य हैं। सम्बन्ध है और सदा रहेगा यह भी सत्य है, फिर सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं, क्योंकि एक अद्वितीय सत्ता अपने स्वरूप में ही सर्वदा प्रकाशमान है।



ग्यारह

१—बात की मीमांसा

बहुतों का विश्वास है कि माँ से कोई प्रश्न पूछने पर उस प्रश्न का यथार्थ उत्तर मिलता नहीं है। मीमांसा जब तक न हो तब तक किसी प्रश्न अथवा समस्या का वास्तविक समाधान नहीं होता है। किन्तु वास्तव में यह पूर्ण सत्य नहीं है। क्योंकि एक दृष्टिकोण से देखने पर बात की मीमांसा अवश्य ही प्राप्त होती है। किन्तु जब देखा जाता है कि एक बात में ही अनन्त बातें निहित हैं तथा दृष्टि खोलने के साथ ही साथ वे भी दृष्टिपथ में उद्भासित हो उठती हैं तब समझ में आ सकता है कि सब बातों की जब तक मीमांसा न हो तब तक किसी एक बात की भी यथार्थ मीमांसा नहीं होती है। जैसे जगत् के प्रत्येक पदार्थ अन्य प्रत्येक पदार्थ के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। वैसे ही अन्तर्जगत् में भी एक भाव अन्यान्य सब भावों में से प्रत्येक के साथ सम्बद्ध है, इसलिए सबका तत्त्वभेद न होने तक किसी एक भाव अथवा पदार्थ का भी ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो सकता। वस्तुतः सब प्रश्नों की चरम मीमांसा एक ही स्थान में विद्यमान है। मनुष्य बुद्धि द्वारा जो मीमांसा होती है वह यथार्थ मीमांसा नहीं है। क्योंकि वह स्थायी नहीं होती। इसलिए एक व्यक्ति का जो सिद्धान्त है दूसरों की दृष्टि में वह पूर्वपक्ष के रूप में गिना जाता है। आचार्य भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में अत्यन्त सुन्दर ढंग से समझाया है कि तर्क अप्रतिष्ठित है। क्योंकि एक व्यक्ति की बुद्धि में जो सिद्धान्त यथार्थ मीमांसा के रूप में गृहीत होता है दूसरा व्यक्ति यदि अधिक प्रखर बुद्धिवाला हो तो वह उस मीमांसा को मीमांसा के रूप में नहीं गिनता—वह उस पर दोषारोपण कर उसे भी संशय कोटि में डाल देता है एवं युक्तियों से उसकी मीमांसा करने के लिए प्रयत्नशील होता है। किन्तु यही मीमांसा चरम होगी इसकी भी कोई स्थिरता नहीं है। क्योंकि उसकी अपेक्षा अधिकतर तीव्र बुद्धिवाले व्यक्ति उस मीमांसा को भी वास्तविक मीमांसा मानने को तैयार नहीं होते, वे दूसरी तरह से मीमांसा का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार बुद्धि में पूर्ण सत्य का ग्रहण न हो सकने से किसी भी तत्त्व की विशुद्ध मीमांसा प्राप्त नहीं

हो सकती। भगवान् शंकराचार्य ने (वेदान्तदर्शन में भी) तर्क की अस्थिरता के सम्बन्ध में इसी प्रकार की अनेक बातें कही हैं। इसलिए माँ ने जो कहा है वही वास्तविक सत्य के निर्णय का मार्ग है। हम सब लोगों को ऐसी जगह पहुँचना चाहिए जहाँ सब संशयों का समाधान ही नहीं होता है, बल्कि शंका और समाधान का विरोध ही नहीं रहता। अर्थात् मीमांसा और अमीमांसा का कोई प्रश्न ही वहाँ नहीं उठता। क्योंकि जिस स्थिति में संशय का ही उदय न हो उसमें निर्णय की सार्थकता ही क्या है? मन का राज्य जहाँ तक फैला है वहीं तक संशय का प्रसार समझना चाहिए। क्योंकि संकल्प में विकल्प को उठाना मन का काम है। मन के ऊपर दृष्टि न होने तक अर्थात् मनोराज्य का अतिक्रमण कर विशुद्ध चिदालोक में जब तक स्थिति प्राप्त न हो तब तक शंका और समाधान के चक्रव्यूह से छुटकारा पाने की आशा अति दूर की बात है। संशय का अधिकार मनोराज्य तक ही सीमित है, इसलिए मीमांसा का अधिकार भी ठीक वहीं तक है। वास्तविक स्थिति प्राप्त होने पर मनोभूमि पीछे छूट जाती है, इसलिए वहाँ किसी भी विषय में सन्देह की सम्भावना नहीं रहती है, पहले जो विरोध अनुभव में आता था, उसकी भी शान्ति हो जाती है एवं भविष्य में अन्य किसी प्रकार के विरोध की भी आशंका नहीं रहती है।



बारह

१–विश्व शान्ति

जगत् की वर्तमान परिस्थिति को देकर किसी किसी के मन में एक तरह का निराशा का भाव उत्पन्न होता है। जिधर दृष्टि डाली जाती है उधर ही दुःख, अशान्ति, अनाचार और तरह तरह की विश्रृंखलता दिखाई देती है। इससे मन में ऐसा भाव उठता है कि मानों आज का जगत् भगवान् की करुणा से वंचित हो गया है। इस अशान्ति का अन्त वर्तमान काल में होने की सम्भावना है या नहीं एवं यदि है तो उसका उपाय क्या है? यह विचार बहुतों के मन में चक्कर काटता है। इस प्रसंग में माँ का कथन है कि वर्तमान समय में जिस अवस्था का उदय हुआ है वह अकारण नहीं है। विरुद्ध शक्तियों ने पूर्ण रूप से कार्य किया है, इसीलिए इस प्रकार की घोर अशान्ति और दुःख की सृष्टि हुई है। यह अस्वाभाविक नहीं है एवं वर्तमान में भोग पूर्ण न होने तक इसकी निवृत्ति होने वाली भी नहीं है। किन्तु जगत् में जैसे कुछ भी स्थायी नहीं है वैसे ही यह अशान्ति भी स्थायी नहीं रहेगी। जब तक इस अशान्ति के अस्तित्व की अवधि है तब तक यह अवश्य ही रहेगी। किन्तु तदुपरान्त इसका परिवर्तन होना ध्रुव है। उस परिवर्तन का पूर्वाभास इस समय भी किसी किसी जगह दृष्टिगोचर होता है। इस अशान्ति का अन्त कब होगा इस प्रकार के विचार का उदय अनेक लोगों में हुआ है। यह अशान्ति की निवृत्ति के शुभ क्षण के आविर्भूत होने का पूर्व लक्षण है। माँ कहती हैं, जब कोई व्यक्ति दीर्घ काल से बन्धनावस्था में रहकर भी अपने बन्धन के अस्तित्व का अनुभव नहीं करता तब समझना होगा कि उसके बन्धनमुक्त होने में अब भी विलम्ब है। किन्तु जिसने बन्धन को बन्धन के रूप में अनुभव करना आरम्भ कर लिया एवं जिसे बन्धन असह्य प्रतीत हो गया उसके लिए बन्धनमुक्ति केवल अवश्यंभावी ही नहीं, अचिरभावी भी है। भोग का भोगरूप में यदि अनुभव न किया जा सके तो उस भोग की निवृत्ति सहज में नहीं होती। पाप को पाप के रूप में ग्रहण कर सकने पर ही पाप से मुक्ति पाने का कोई न कोई उपाय प्राप्त हो जाता है। विश्व-व्यापक अशान्ति की व्यापक अनुभूति हुई है यह यदि

सत्य है, तो समझना होगा कि इस अशान्ति के अन्त का भी समय आ गया है। माँ ने कहा है, 'इस समय तो ऐसा ही होने वाला है।' इस कथन से वर्तमान अशान्ति जो अवश्यंभावी थी, उसका प्रकाश हो रहा है एवं यह आगन्तुक नहीं है यह भी ज्ञात हो सकता है। उसके बाद जब माँ ने कहा 'यह जो तुम लोगों में विचार उत्पन्न हुआ है कि कब इसका अन्त होगा, यह भी उसी की एक झलक है।' इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि अशान्ति के अन्त का विचार मनुष्यों के मन में उदित होते ही निकट भविष्य में वह अन्त कार्यरूप में परिणत हो जाता है। जगत् गतिशील है, इसलिए जगत् की कोई भी अवस्था चिरस्थायी नहीं हो सकती। इसलिए अशान्ति कितनी ही तीव्र क्यों न हो उसके बाद शान्ति का उदय अवश्यंभावी है। किन्तु यह शान्ति वास्तविक शान्ति नहीं है। वास्तविक शान्ति तभी हो सकती है जब कि शान्ति अशान्ति का प्रश्न ही नहीं रहता। जब तक जगत् का अतिक्रमण नहीं किया जाता तब तक स्थिति भी गति के अन्तर्गत है। क्योंकि गति ही जगत् का धर्म है। किन्तु वास्तविक स्थिति तभी होती है जब गति और स्थिति का द्वन्द्व मिट जाता है। अर्थात् जिस समय आवागमन या आने जाने की चिरनिवृति हो जाती है।

२—ध्यान और अभ्यास

ध्यान सबके लिए सहज साध्य नहीं है। चित्त की जिस अवस्था में ध्यान का आविर्भाव स्वाभाविक प्रतीत होता है जब तक उस अवस्था का उदय न हो तब तक चित्त ध्यान में निमग्न होने में समर्थ नहीं होता। माँ कहती हैं, पूर्व संस्कार और वर्तमान कर्मों के प्रभाव से ही ध्यान में प्रवेश किया जा सकता है। जो साधक पहले ध्यान का अभ्यास कर इस समय अन्य अवस्था में पड़े हैं उनके चित्त में ध्यानजनित संस्कार सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहता है किन्तु जिसका पूर्व-संस्कार नहीं है; उसको नये सिरे से ध्यान के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। यह प्रयत्न कष्टसाध्य होने पर भी ध्यानार्थी के लिए अवश्य कर्तव्य है। पूर्व संस्कार रहने पर उसे उद्बुद्ध करने के लिए थोड़ा ही प्रयत्न पर्याप्त है। इसलिए किसी किसी के अत्यन्त साधारण प्रयत्न से भी गाढ़ ध्यान का उदय होता है। किन्तु पूर्व संस्कार का बल न रहने पर ऐसा होना सम्भव नहीं है। नवीन साधक को कठोरता के साथ संयत होकर नैरन्तर्य का पालन करते हुए चेष्टा करनी चाहिए। किस तरह यह चेष्टा करनी पड़ती है इसका विस्तृत विवरण माँ के श्रीमुख से निर्गत महावाक्य में स्पष्ट रूप से दिया गया है। माँ ने इन सब नवीन साधकों के

लिए अभ्यास की उपयोगिता स्वीकार की है। ध्यान में चित्त को आनन्द न मिलने पर भी अथवा आकर्षण-बोध न होने पर भी कर्तव्य समझ कर अभ्यास करना उचित है। ध्यान का संस्कार न रहने पर नवीन कर्म में विशेष कष्ट का अनुभव करना पड़ता है, यह सत्य है। क्योंकि विक्षेप अथवा चंचलता के संस्कार अनादि काल से ही चित्त में विद्यमान रहते हैं। इन विपरीत संस्कारों के प्रभाव से चेष्टा करने पर भी बहुधा सफलता प्राप्त नहीं होती। किन्तु फिर भी चेष्टा करनी चाहिए। उद्यम छोड़ना उचित नहीं है। क्योंकि माँ ने कहा है कि चेष्टा के द्वारा ही शक्ति का विकास होता है। दृढ़ संकल्प लेकर विरुद्ध संस्कारों के साथ संग्राम करते-करते आभ्यन्तर शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। अभ्यास के फलस्वरूप क्रमशः संघर्ष की तीव्रता घट जाती है एवं नूतन कर्म से उत्पन्न नवीन संस्कार के संचित होते-होते ऐसा एक समय आता है जब संघर्ष बिलकुल ही नहीं रहता। क्योंकि पहले प्रतिकूल संस्कार तथा नूतन अनुकूल संस्कार आपस में तुल्यबल होकर परस्पर की वृत्ति का रोध करते हैं। तब उस तटस्थ अवस्था में चित्त के शून्यवत् होने पर नित्यसिद्ध भगवत्करुणा उस क्षेत्र में पड़ती है तथा उस महाप्रवाह में साधक के मन और हृदय को बहा ले जाती है। साधना की कठोरता का तात्पर्य यह है कि उसके द्वारा अभिमान शक्ति नियन्त्रित होती है एवं विकल्प द्वारा संकल्प का प्रतिबन्ध न होने के कारण वह सत्यसंकल्प के रूप में परिणत होता है। इस तरह निरन्तर प्रयत्न करते-करते अनुकूल प्रवाह की सहायता से क्रमशः अपने अभिमान के नष्ट हो जाने पर किसी एक महाक्षण में अपने आप आत्मसमपर्ण सम्पन्न हो जाता है।



तेरह

१–भावभंग

माँ किसी के भी भाव को भंग नहीं करती हैं। गीता में भगवान् ने जैसा कहा है—'न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्।' इत्यादि, वैसे ही माँ भी कहती हैं कि जिसका जो भाव है उसके लिए उसको पकड़ कर अग्रसर होना ही अच्छा है। एक आदमी का भाव कोई दूसरा नष्ट करे, यह किसी प्रकार भी संगत नहीं है। क्योंकि वास्तविक सत्य भाव के अतीत है। अपने भाव का अवलम्बन कर सभी को उस भावातीत सत्य में पहुँचना चाहिए। किन्तु जहाँ पर भाव के घर में चोरी होती है वहाँ यह प्रक्रिया कारगर नहीं होती। वहाँ पर प्रयोजन होने पर सबके कल्याण के लिए भाव का भंग कर देना ही उचित है। किन्तु माँ जो करती हैं उसमें उचित अनुचित का विचार अथवा अन्य किसी प्रकार की युक्ति प्रवर्तक नहीं होती। उनका जो कुछ होता है अपने आप ही हो जाता है। व्यक्तिगत इच्छा अथवा किसी प्रकार का लौकिक या अलौकिक कारण यहाँ तक कि कर्तव्यविचार आदि कुछ भी उन्हें कर्म में प्रवृत्त नहीं करता। उनके देहाश्रय से जो कुछ होता है वह सब स्वभाव की क्रीड़ा है। जिसके पीछे उद्देश्य की प्रेरणा नहीं रहती एवं सामने प्रयोजन-ज्ञान भी नहीं रहता उसको स्वभाव की क्रिया के सिवा और क्या कहा जा सकता है। किन्तु लौकिक दृष्टिकोण से दिखाई देता है कि इस प्रकार की स्वाभाविक क्रिया में भी मानो गहरे उद्देश्य निहित हैं। माँ ने स्वयं ही कहा है, मिथ्या को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। क्योंकि उससे सत्य का गौरव नष्ट होता है। इसलिए अनेक अवसरों पर इस मिथ्या का आवरण भंग करने के लिए माँ की स्वाभाविक क्रिया भी प्रवृत्त होती है ऐसा प्रतीत होता है। माँ के दृष्टिकोण से प्रयोजन का विचार न होने पर भी जगत् के कल्याण की दृष्टि से प्रयोजन-विचार अवश्य ही है। इसलिए यद्यपि माँ किसी के भी भाव का भंजन नहीं करती हैं, यह बात सत्य है, तथापि बहुधा सत्य का आवरण हटा कर वास्तविक सत्य का रूप दिखाने के लिए भाव-भंजन का अभिनय उनके शरीर द्वारा हो जाता है।

२—दर्शन और श्रवण

साधक साध्य वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्प कर सुदीर्घ काल तक नैरन्तर्य का पालन करते हुए दृढ़ता के साथ साधन का अनुष्ठान करता है। इससे व्यक्तिगत प्रवृत्ति के तारतम्य के अनुसार किसी किसी साधक को कुछ कुछ अलौकिक अनुभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह सर्वजनविदित सत्य है। किन्तु इन सब अनुभूतियों का विश्लेषण करना सबके लिए सरल कार्य नहीं है। सब अनुभूतियों में दर्शन और श्रवण ने ही साधारणतः प्रधान स्थान पर अधिकार जमा रखा है। हम लोगों की इन्द्रियों में जैसे नेत्र और कान प्रधान हैं वैसे ही हर लौकिक अथवा अलौकिक अनुभूति में भी दर्शन और श्रवण का प्राधान्य स्वाभाविक है। साधक जिसका दर्शन करता है अथवा जिसे सुनता है उसका मूल्य और सारवत्ता साधक स्वयं बहुधा नहीं जान सकता। इन अनुभूतियों में जैसे दर्शन और श्रवण की एक दिशा है वैसे ही वृत्तिनिरोध की भी एक दिशा है। अर्थात् बहुधा बहुतों में ऐसी अवस्था का उदय होता है जिसमें आपाततः यह समाधि है ऐसी भ्रान्ति हो सकती है। दर्शनों में विविध प्रकार के देवी-देवताओं के दर्शन होते हैं, सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं, दिव्य भूमियों के दर्शन होते हैं एवं नाना प्रकार के मन्त्र, उपदेश आदि का श्रवण होता है अथवा देवी, देवता या सिद्ध पुरुषों के मुख से उच्चारित विशेष विशेष वचनों का श्रवण होता है, यह सब सर्वत्र सुविदित है। इस विषय में माँ ने कई एक मूल्यवान् उपदेश लिपिबद्ध किये हैं। उन्होंने कहा है—दर्शन, श्रवण आदि में साधक को मनोनिवेश करने की बिलकुल भी आवश्यकता नहीं है। यदि साधक का परमार्थ-प्राप्ति की ओर लक्ष्य अटूट रहे तो ऐसी स्थिति में लौकिक और अलौकिक सभी विषयों के प्रति उसे वैराग्य होना स्वाभाविक है। जब तक परमार्थ-प्राप्ति न हो तब तक उससे भिन्न सब कुछ उसके लिए हेय है। हाँ, किसी-किसी स्तर पर दर्शन और श्रवण के मूल्य का तारतम्य है, यह बात सच है। किन्तु महालक्ष्य की ओर दृष्टि रहने पर उनका कुछ भी मूल्य नहीं रहता। साधन क्षेत्र में अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर जाग्रतरूप से अग्रसर होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वाधीनता से च्युत होने और जाग्रतभाव न रख सकने पर जड़ता अवश्यंभावी है। साधारणतः लोग जिन दृश्यों को देखते हैं और जिन वाक्य आदि का श्रवण करते हैं उनमें से अधिकांश मनोमय चक्र की कल्पना से उत्पन्न होते हैं। अनजान में कल्पना शक्ति पूर्वसंस्कार का अवलम्बन कर कार्य करती है एवं विचित्र आकार में अपने को व्यक्त करती है। इन सब दर्शन अथवा श्रवणों

से आध्यात्मिक उन्नति का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। वैसे ही केवल बाह्यज्ञान शून्य होकर मग्नता प्राप्त होने पर ही उस अवस्था में एक तीव्र आनन्द का आस्वाद प्राप्त होने पर ही साधन-पथ में वास्तविक उन्नति नहीं होती। क्योंकि तन्मया के साथ यदि सचेतन भाव यानी जाग्रत्भाव अनुस्यूत न रहे तो वह केवल जडत्व ही है, एवं उस आनन्द का आस्वाद यदि निरन्तर अनुभूत होता रहे एवं साधक को उस स्तर की ओर निरन्तर आकृष्ट करता रहे तो ऐसी स्थिति में समझना चाहिए कि यह भी एक तरह का भोगमात्र है। साधक के लिए दोनों ही त्याज्य हैं। साधक की उन्नति का वास्तविक उदाहरण यही है कि धीरे-धीरे उसके भीतर की ग्रन्थियाँ खुल रही हैं, क्रमशः उसमें प्रकाश विशुद्ध आत्म-प्रकाश कर रहा है और क्रमशः विषयज्ञान से उसका चित्त हट कर अपने में स्वयं विश्राम लेने की इच्छा कर रहा है। बहुधा देह-विहीन बाहरी आत्मा अथवा तज्जातीय देवतादि दुर्बल साधक के चित्त में आविष्ट होकर बहुत कुछ प्रकाश करते हैं। उस अवस्था में साधक की इच्छाशक्ति अपेक्षाकृत दुर्बल होने से बाह्य आत्मा के लिए उसे दबा कर आत्मप्रचार करना सम्भव है। इससे चित्त पराधीन हो जाता है एवं अपने स्वाभाविक मार्ग में संचरण करने में उसे रुकावट होती है। यह व्यापार साधक को अग्रसर करने में सहायक नहीं होता। बाह्य आत्मा या शक्ति का आवेश होने पर साधक की परमार्थ प्राप्ति की ओर व्याकुलता घट जाती है। एवं वह प्रलोभन और अहंकार के पथ पर फिसल पड़ता है। सत्यदर्शन एवं सत्य प्रगति अति उच्चस्तर की वस्तु है, किन्तु वह अत्यन्त दुर्लभ है। पद-पद पर अपनी जाँच न कर सकने पर बहुधा साधक में आत्म प्रवंचना—भले ही वह इच्छाकृत न हो अनिच्छाकृत आत्मवंचना—अवश्य हो जाती है। इस प्रसंग में अर्थात् दर्शन और श्रवण की तात्त्विक आलोचना के प्रसंग में एक अतिप्रसिद्ध ईसाई सिद्ध भक्त का उपदेश संक्षेप में देने का मैं यहाँ पर प्रयत्न कर रहा हूँ। इसका सावधान चित्त से चिन्तन करने पर साधक समझ सकेगा कि वास्तविक दर्शन और श्रवण किन्हें कहते हैं और वे इतने दुर्लभ क्यों हैं।

यद्यपि दर्शन और श्रवण के अनेक विचित्र प्रकार हैं एवं साधारण रूप से व्यक्तिगत जटिल रहस्य का उद्घाटन करना सम्भव नहीं है, तथापि स्थूल दृष्टि से दर्शन और श्रवण इन दो को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। इन तीन श्रेणियों में से पहली श्रेणी को मोटामोटी बाह्य दर्शन या स्थूल दर्शन कहा जा सकता है। हम लोग साधारण अवस्था में जिस बाह्य जगत् का

दर्शन करते हैं यह उससे सर्वथा भिन्न है। क्योंकि यह दर्शन ध्यान की अवस्था में घटता है। ईसाई साधकगण ने इस दर्शन का Corporeal अर्थात् देह सम्बन्धी दर्शन नाम रखा है। साधारण दर्शन के समय वास्तविक सत्ता इन्द्रियगोचर होकर दृश्य के रूप में प्रकट होती है, किन्तु ध्यानज बाह्य दर्शन में जो सत्ता प्रकाशित होती है वह वास्तविक सत्ता नहीं, किन्तु प्रातिभासिक सत्ता है। अर्थात् दृश्य जिस रूप में प्रतिभासित होता है वह उसका वास्तविक रूप नहीं है। बहुधा देवी देवता अथवा सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं, तब उनके सचमुच ही दर्शन होते हैं एवं स्पर्श भी किया जाता है। केवल यही नहीं, बहुधा अन्यान्य दर्शक भी समान रूप से इन सब दृश्यों के दर्शन करते हैं। किन्तु फिर भी ये सब वास्तविक दर्शन नहीं हैं। वस्तुतः यह दृश्य सत्ता सिद्ध पुरुष अथवा देवता का कल्पित रूपमात्र है। बौद्ध साधकगण इन सब रूपों को 'निर्माण' के नाम से पुकारते थे। बहुत से दार्शनिक साधक इस तरह के दर्शनों को आलोच्य दर्शन की श्रेणी के अन्तर्गत नहीं मानना चाहते हैं। ख्रीष्ट ईशु को क्रास में कांटों से जड़ने के बाद उनका शरीर भूगर्भ में गाड़ दिया गया था, किन्तु तदनन्तर उनका शरीर अद्भुत रीति से अन्तर्हित हो गया एवं फिर वे नूतन शरीर से उत्थित हुए। इस पुनरुत्थान को Resurrection कहा जाता है। तब उत्थित होकर उन्होंने अपने भक्त साधक और साधिकाओं को उस उत्थित देह से दर्शन दिये थे। यह शरीर सभी लोगों ने देखा था एवं यह बाह्यदेह के रूप में सबको मालूम पड़ा था। तथापि यह ख्रीष्ट का वास्तविक शरीर नहीं था। उनका वास्तविक शरीर उस समय Glorified body अर्थात् ज्योतिर्मय स्वरूप था। वह स्वरूप नरलोक के कार्यकारणभाव के अधीन नहीं है। इसी प्रकार बाह्य दर्शन के समान बाह्य श्रवण को भी समझना चाहिए। बहुत अवसरों पर अनेक साधक लोग मानव के कण्ठ से उच्चारित वाक्य सुनते हैं। पूर्वोक्त दृश्य जिस कारण से प्रातिभासिक है, यह वाक्य भी उसी कारण से प्रातिभासिक रूप में गणना करने योग्य है।

इस तरह के दर्शन और श्रवण के अलावा और एक अन्य प्रकार के दर्शन और श्रवण हैं। उनके साथ इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे साधक की कल्पना शक्ति द्वारा अज्ञातरूप से उत्पन्न होते हैं। यद्यपि इस स्थल में इन्द्रियों की कोई क्रिया नहीं होती तथापि इन्द्रियों की क्रिया से कल्पना शक्ति में जिस प्रकार की छाप पड़ती है उस तरह के दर्शन से भी इन्द्रियों की क्रिया के बिना ही ठीक उसी प्रकार की छाप पड़ जाती है। साधारणतः हम लोगों का आभ्य-

न्तर आत्मचैतन्य मन की कल्पना शक्ति से सत्ता के आकार को प्राप्त होता है। कल्पना शक्ति इन्द्रियों से पहले उस आकार को प्राप्त होती है एवं इन्द्रियों को वह प्राप्त होता है बाह्य जगत् से, यही स्वाभाविक क्रम है। इस प्रकार का दर्शन साधक के लिए अत्यन्त विपत्तिजनक है। यह वांछनीय तो नहीं ही है, बल्कि सर्वथा त्याज्य है। कल्पना शक्ति के साथ स्मृति का योग रहता है और स्मृति के साथ पूर्व संस्कार का सम्बन्ध रहता है। इसलिए बहुधा ठीक-ठीक समझ में नहीं आ सकता, कि दर्शन इन्द्रियदृष्ट पदार्थ की अवचेतन या अचेतन पुनरावृत्ति है या नहीं। इस प्रकार के दर्शन से इच्छाकृत अथवा अनिच्छाकृत आत्मप्रवंचना की सम्भावना रहती है। कारण कि बहुधा मिथ्या में सत्यत्व का भ्रम होता है। इस तरह के दर्शनों से देहरहित पारलौकिक आत्मा का अथवा किसी शक्ति-विशेष का प्रभाव कभी-कभी स्पष्टतः समझ में आ जाता है। विशेष प्रमाण न मिलने पर इस प्रकार की दर्शनों की प्रामाणिकता स्वीकार करना नहीं बनता। साधक और भक्तों के जीवन में इस तरह के बहुत से दर्शनों का परिचय मिलता है। किन्तु आध्यात्मिक उन्नति में इन सब दर्शनों का कोई भी मूल्य नहीं है। जैसे काल्पनिक दर्शन की बात कही गयी है वैसा ही काल्पनिक श्रवण भी है।

पहले जो कहा गया है उससे कोई यह न समझ ले कि काल्पनिक दर्शन या श्रवण केवल दृष्टिभ्रम या श्रुतिभ्रम मात्र है। क्योंकि उस तरह के भ्रमविकार दैहिक विकृति से अथवा वायु, पित्त और कफ की विषमता से होते हैं। दैहिक विकृति के कारण स्मृति शक्ति विकृत होकर पूर्व संचित संस्कारों को भी विकृत कर अपने को दिखलाती है। काल्पनिक दर्शन इस तरह के विकारों के दृष्टान्त रूप नहीं हैं। किन्तु वे पारमार्थिक दर्शन नहीं हैं। यही केवल वक्तव्य है।

काल्पनिक दर्शनों के सिवा और भी एक प्रकार के दर्शन अथवा श्रवण हैं जो प्रामाणिक रूप से उपादेय हैं। किन्तु यद्यपि वे अत्यन्त विरल हैं तथापि उनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इनका ईसाई भक्तगण ने इंटलैक्चुअल नाम से निर्देश किया है। इनमें इन्द्रियाँ, कल्पनाशक्ति आदि किसी का भी उपयोग दिखाई नहीं देता। साधक की सत्त्वप्रधान बुद्धिवृत्ति, कल्पना अर्थात् मन तथा इन्द्रियाँ किसी भी शक्ति से कुछ ग्रहण नहीं करती हैं। वह साक्षात् रूप से सत्य का प्रकाश करती है। यह दर्शन का व्यापार एक गूढ़ रहस्य है। इसका

स्वरूप यदि समझना हो तो बाह्य सत्ता का आत्मचैतन्य में प्रतिबिम्ब किस प्रणाली से पड़ता है उसका विश्लेषण करना आवश्यक है। वस्तुतः बाह्यसत्ता परिवर्तित हुए बिना चैतन्य के चिन्मय क्षेत्र में अपने को प्रकट नहीं कर सकती। यह चिन्मयीकरण अपने आप ही नहीं होता। यह सत्त्वमय मनोभूमि में सम्पन्न होता है। अर्थात् पहले भौतिक सत्ता भावमय सत्ता के रूप में परिणत होती है। तदनन्तर वह भावमय सत्ता चिद्-दर्पण से चिन्मय सत्ता का आकार धारण करती है। यही साधारण क्रम है। यह प्रक्रिया एक प्रकार का भावना-व्यापार है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है। ईसाई दार्शनिक आचार्यगण कहते हैं—ये भावमय आकार (Species impressa) स्मृति के भण्डार में अनादि काल से संचित होते आ रहे हैं। मन उन सब आकारों के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है अर्थात् तन्मयता प्राप्त करता है। तदुपरान्त मन से एक प्रकार का शब्द निकलता है। उसको कहते हैं 'वर्ड आफ दि माइंड' भारतीय तान्त्रिक लोगों ने इस शब्द का ही 'अन्तःसंजल्प' के नाम से वर्णन किया है। ईसाई दार्शनिक गण ने इसको नाम दिया है 'वर्बम मैंटिस'। इसके द्वारा हम लोगों का मानसिक बोध सम्पन्न होता है। हम लोग साधारणतः जिसको 'चिन्तन' कहते हैं यही उसका स्वरूप है। विशुद्धतम दर्शन अथवा श्रवण प्रामाणिक है। क्योंकि वह साक्षात् भगवत्-शक्ति की प्रेरणा से ही होता है। उसमें आत्मप्रवंचना का भय नहीं रहता एवं अपनी स्वाधीन इच्छाशक्ति भी क्षुण्ण नहीं होती। पहले कहा जा चुका है कि मानसिक क्रिया से होने वाला कल्पित दर्शन बहुधा केवल अप्रामाणिक ही नहीं होता, विपत्तिकर भी होता है। भगवत्शक्ति के प्रभाव से जो सत्य जीव के हृदय-पटल पर प्रकाशित होता है, उसमें कल्पनाशक्ति, स्मृतिशक्ति तथा इन्द्रियशक्ति का कोई प्रभाव नहीं रहता। वह भगवान् की इच्छा से साक्षात् रूप से हृदय में अर्थात् आत्मस्वरूप में अभिव्यक्त हो उठता है। उसी का नाम शब्दहीन शब्द अथवा अरूप का रूप है। इसके प्राप्त होने पर बाह्य या आभ्यन्तर शब्द का प्रयोग करके कुछ समझाना नहीं बनता। जिसको हम लोग intuition अथवा प्रातिभ ज्ञान कहते हैं उसका मूल इसी स्नान में है, यह जानना चाहिए। इसमें पूर्व संस्कार का उद्दीपन, युक्ति, तर्क, कल्पना कुछ भी आवश्यक नहीं है। जिसे जानना आवश्यक होता है अर्थात् भगवान् या गुरु जिस ज्ञान का जिज्ञासु की आत्मा में संचार करना चाहते हैं उसका साक्षात् ही संचार करते हैं—किसी प्रकार के शब्द का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती। 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु च्छिन्नसंशयः।'

यह जो बात है यह सोलह आने सत्य है। क्योंकि गुरु यदि मौनी हों तो उनका मौन ही विशद व्याख्या के रूप में शिष्य के हृदय के संशय और अज्ञानान्धकार को हटा देता है। भाषा के प्रयोग से उस प्रकार का साक्षात्कार रूप ज्ञान उदित होने की सम्भावना नहीं है। इस अनौपदेशिक ज्ञान को ही ईसाई भक्त साधकों के Intellectual locution अथवा चिन्मय वाणी के अन्तर्गत समझना चाहिए।

और एक बात है। भारतीय अध्यात्म साहित्य में श्रुति और स्मृति के नाम से दो शब्द प्रचलित हैं। स्मृति की अपेक्षा श्रुति का प्रामाण्य अधिक है यह सर्वत्र सुपरिचित है। पूर्वोक्त प्रणाली से साक्षात् रूप से जो निश्शब्द वाणी प्राप्त होती है, जिस वाणी में संशय का लेशमात्र भी नहीं रहता वही शब्द-ब्रह्मरूप श्रुति के नाम से प्रसिद्ध है। साकार स्वरूपविशिष्ट किसी पुरुष के मुख से इस तरह की वाणी उच्चारित नहीं होती। वह अखण्ड चिदाकाश से स्वाभाविक रूप से ध्वनित हो उठती है। उसका कोई वक्ता नहीं है एवं स्वयं से भिन्न कोई श्रोता भी नहीं, वही श्रुति है। श्रवण के बाद मनोमय भूमि में अवतीर्ण होकर जब वह वाणी पदवाक्यसमष्टि के रूप में पुनः प्रकाशित होती है तब उसका नाम होता है स्मृति। श्रुति से स्मृति का प्रमाण कम होने का कारण यह है कि श्रुति मन से परे विशुद्ध चैतन्य भूमि की वस्तु है, किन्तु स्मृति उच्चस्तर की होने पर भी मनोभूमि का व्यापार है। साधक के भी साधनजीवन में अधिकांश स्थलों में स्मृतिरूपवाणी की ही अभिव्यक्ति होती है। अत्यन्त भाग्यवान् साधक को समग्र जीवन में कदाचित् किसी श्रुतिरूप अपौरुषेय वाणी की प्राप्ति होती है।

और एक बात है। दर्शन के सम्बन्ध में भी वही एक नियम है। क्योंकि वास्तविक सत्य का दर्शन प्राप्त होने पर अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना नहीं रह सकती। केवल यही नहीं। शास्त्रानुसार अपरोक्ष दर्शन के बाद ही हृदयग्रन्थि का भेद, संशय की निवृत्ति और कर्मक्षय का संभव होता है। कल्पित दर्शन से इस प्रकार के महाफल का उदय नहीं हो सकता। विशुद्ध दर्शन और श्रवण से चित्त में शान्ति, उत्साह, बल आदि जाग उठते हैं एवं जीवन की धारा का मुड़ना आरम्भ हो जाता है। विशुद्ध दर्शन का प्रभाव मनुष्य की विचारशक्ति के परे की वस्तु है। इससे कोई यह न सोच ले कि साधकों के सब दर्शन या श्रवण मिथ्या अथवा निरर्थक हैं। सत्य दर्शन और श्रवण प्रत्येक स्तर में हो सकते हैं एवं होते भी हैं। पर अधिकांश स्थलों में विविध कारणों से उनकी संख्या अत्यन्त सीमित

है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि दर्शन और श्रवण सत्य होने पर भी साधकों की साधनोन्नति के कारण हों यह बात नहीं। आत्मचैतन्य के विकास के मार्ग में, तत्त्वज्ञान के स्फुरण के मार्ग में, अपनी खण्ड सत्ता के क्रमिक विकास के पथ में एवं प्रेम, क्षमा, दया, माया आदि महनीय गण-गुणों के विकास में जो दर्शन और श्रवण सहायता करे वही मुमुक्षु साधकों द्वारा समादरणीय है।

३—ग्रन्थि किसे कहते हैं, ग्रन्थि-मोचन

मुक्ति के मार्ग में यदि चलना हो तो ग्रन्थि तत्त्व को भली-भाँति समझना आवश्यक है। दो अथवा उससे अधिक वस्तुओं को गाँठ देकर एकत्र करने को ग्रन्थि कहते हैं। ग्रन्थि देने से एकाधिक वस्तुएँ आपाततः एकता के सूत्र में ग्रथित होती हैं एवं उन्हें सहसा अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य की देहावच्छिन्न प्रकृति का विश्लेषण करने पर दिखाई देता है कि उसके मूल में दो परस्पर विरुद्ध और पृथक् वस्तुओं का अकाट्य मिलन है। इन दो वस्तुओं के नाम चित् अथवा पुरुष या प्रकाश तथा सत्त्वगुण प्रधान प्रकृति है, जो स्वच्छ होने पर भी अचित् रूप गिनी जाती है। यह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को अपने गर्भ में धारण कर एकीभूत स्वरूप से चिद्रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। तब उस प्रतिबिम्बित रूप का चित्त के रूप से वर्णन किया जाता है। यह एक प्रतिबिम्बमात्र है। इसका पुनः विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इसके मूल में चिद्रूप प्रकाश है एवं उसके ऊपर सत्त्वगुणात्मक प्रकृति या अचित् सत्ता घनिष्ठता के साथ जुड़ी है। सत्त्वगुण स्वच्छ होने से चिदालोक से आलोकित होता है एवं चित्त परम स्वच्छ होने से सत्त्व को अपने साथ अभिन्न न होने पर भी अभिन्न रूप से धारण करता है। इसका मूल कारण स्थूल दृष्टि से अविवेक अथवा अज्ञान है एवं चरम दृष्टि से परमेश्वर की स्वतन्त्रताकल्पित प्राकृतिक लीला में प्रवेश की आकांक्षा है। इस प्रक्रिया का नाम ग्रन्थिबन्धन अर्थात् चित् और अचित् के कल्पित तादात्म्य की प्रतिष्ठा है। यह प्रतिबिम्बभूत चित्तरूप बीज समस्त संसार का मूल बीज है। इस बीज ने क्रमशः अंकुरित हो कर तथा पूर्ण परिपाक को प्राप्त हो कर शाखा, पल्लव आदि से सम्पन्न वृक्ष का रूप धारण किया है। यही जीव का संसार है। इस प्रक्रिया में चित्त के ऊपर प्रत्येक स्तर पर बाह्य सत्ता का आवरण पड़ा है तथा सभी मूल चित्त-सत्ता के साथ अभिन्न रूप से ग्रथित हैं। इस तरह अपनी आत्मा में ही समग्र जड़ जगत् जुट कर मिल गया है। गुरु कृपा से वैराग्य का उदय होने पर यह बन्धन क्रमशः शिथिल हो

जाता है और जड़ सत्ता केन्द्रीय सत्ता से क्रमशः पृथक् होती है। बाहरी स्तरों के इस तरह शिथिल हो कर नष्ट होने पर भी भीतर के बीजरूपी स्तर रह ही जाते हैं जब वैराग्य क्रमशः विवेक-ज्ञान में परिणत होता है तब वह विवेक-ज्ञान रूप अग्नि उस मूल बीज का ध्वंस करती है। अर्थात् जब अचिद्रूपी सत्त्व-प्रधान प्रकृति एवं चिद्रूप पुरुष परस्पर के आलिंगन से छुटकारा पा कर अलग हो जाते हैं तब गाँठ खुल जाती है। दो पृथक् वस्तुएँ तब फिर एक के रूप में प्रतीत नहीं होतीं। जड़ जड़रूप में और चेतन चेतनरूप में स्थित होते हैं। ग्रन्थिबन्धन के कारण जैसे संसार का आविर्भाव हुआ था वैसे ही ग्रन्थि खुलने से संसार-निवृत्तिरूप मुक्ति का आविर्भाव हो जाता है। साधक जिस किसी साधना में नियत क्यों न हो उसकी साधना की सार्थकता का एकमात्र मापदण्ड ग्रन्थि का खुलना ही है। जिस साधना में चित् और अचित् का मिथ्या तादात्म्य नष्ट नहीं होता, वह साधना वास्तविक साधना नहीं है। ध्यान, जप, नामकीर्तन, समाधि, सेवा, सभी कुछ इस मूल चिद्ग्रन्थि के खुलने में सहायक होते हैं। इसीलिए इन सब साधनाओं का महत्त्व है।



चौदह

१–कर्मशक्ति के फल का विस्तार

कर्म और कर्मफल इन दोनों को लेकर हो संसार है। कर्तृत्व के अभिमान से कर्म की उत्पत्ति होती है। एवं उस अभिमान से ही उक्त कर्म के फल का भोग भी होता है। कर्म शुभ और अशुभ भेद से दो ही प्रकार के हैं। इसीलिए इनके फल भी सुख व दुःख रूप से दो प्रकार के हैं। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सामानाधिकरण्य नियम—जो कर्ता है वही भोक्ता होता है ऐसा नियम–शास्त्र-कारों ने स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि जिस अधिकरण अथवा आधार में कर्तृत्व रहता है उसी अधिकरण में भोक्तृत्व भी रहता है, भिन्न अधिकरण में नहीं रहता। इसका आशय यह है कि किसी कर्म के कर्ता को ही स्वयं उस कर्म का फलभोग करना पड़ता है। कर्म कोई दूसरा करे और उसका फल दूसरा भोगे यह कदापि नहीं हो सकता। कार्यकारणभाव तथा नैतिक शृंखला की दृष्टि से यही स्वाभाविक भी है। जो कर्मवाद मानकर भी जन्मान्तर नहीं मानते, उन्हें भी यह मानना पड़ता है। इसीलिए ईसाई और मुसलमानों के धार्मिक सिद्धान्त में भी यह सिद्धान्त माना गया है। इधर बौद्ध और जैनी पुनर्जन्म मानने वाले कर्मवादी हैं। इन्होंने भी कर्म और फल का यह एकाधिकरण नियम माना है। इस सिद्धान्त के ऊपर ही विश्व-न्याय की आधार-शिला प्रतिष्ठित है। करुणा अथवा प्रेम यद्यपि इस सिद्धान्त की सीमा के बाहर हैं तथापि वे इसका उल्लंघन न कर, इसके नियन्त्रण को अंगीकार करते हुए इसका अतिक्रमण करते हैं।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया वह कर्मवाद का साधारण नियम है। यह सुसं-गत तथा सब वादियों द्वारा सम्मत है इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु इसके भीतर बहुत से गुप्त रहस्य छिपे पड़े हैं। जिसको हम लोग व्यक्तित्व कहते हैं उसका विश्लेषण करने पर प्रतीत हो सकता है कि विराट् सत्ता के साथ उसका सम्बन्ध है अर्थात् मूल में जीवस्वरूप एक है, इसलिए सृष्टि में भी जीवभाव की अभि-व्यक्ति के सिलसिले में हम एक ही जीव देखते हैं, अर्थात् मूल में जीव एक और

अभिन्न होता हुआ भी काल के प्रभाव से और कर्म-विकास की महिमा से वह विभिन्न आधारों में विभिन्न रूप से प्रकाशित होता है। तब नाना जीवों का सन्धान मिलता है और इस नानात्व में अनन्त प्रकार की विचित्रता निहित दिखाई देती है। गुण, कर्म, भाव, रुचि और सामर्थ्य के असंख्य भेद जीवसृष्टि में दिखाई देते हैं। मूल में जीव एक होने पर भी बाहर आकर जीव नाना होते हैं। किन्तु नाना होने पर भी एक-दूसरे के साथ एक दूसरे का अनुप्रवेश मूलक अभेद सम्बन्ध भी बना रहता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो समझ में आ जायेगा कि जगत् की प्रत्येक वस्तु जैसे सर्वात्मक है वैसे ही प्रत्येक जीव भी सर्वजीवात्मक है। गुण, कर्म, वासना, संस्कार आदि के प्राधान्य के दृष्टिकोण से प्रत्येक जीव का पार्थक्य अवश्य ही दृष्टिगोचर होता है किन्तु अवचेतन भूमि में सभी जीवों में न्यूनाधिक मात्रा में समानता दिखाई देती है। इसलिए हमने ऊपर जिस विश्व-नीति का प्रसंग छेड़ा है उसकी एक परिपूरक दिशा है यह बात हृदयंगम होती है। जो कर्ता है वही भोक्ता है इस मूल नियम का खण्डन न होने पर भी परि-पूरण आवश्यक है यह सिद्धान्त तब प्रतीत होता है। 'लव इज़ द फ़ुलफ़िलमेन्ट ऑफ़ लॉ।' तब ज्ञात होता है कि जब कोई काम किसी एक व्यक्ति द्वारा किया जाने पर भी, एवं प्रधानरूप से उसी के द्वारा भोग्य होने पर भी आंशिक रूप में उसका फल समग्र विश्व को भोगना न पड़े सो बात नहीं हो सकती। सम्बन्ध-मूलक दृष्टिकोण से विचार करने पर कहा जा सकता है कि जो सत्ता उक्त प्रधान सत्ता की जितनी निकटवर्ती होती है उसे उसके फल के उतने अधिक अंश का भोक्ता होना पड़ता है। अंश का तारतम्य रहने पर भी विश्व की अन्तिम रेखा तक उस कर्म से प्रभावित होती है। निकट में प्रभाव अधिक पड़ता है, दूर में कम पड़ता है, केवल इतना ही अन्तर है। साथ ही साथ न्यायानुसार यह भी विचारणीय है कि यद्यपि यहाँ किसी कर्म का किसी एक व्यक्ति के कर्म के रूप में उल्लेख किया गया तथापि यह जानना होगा कि प्रधान रूप से वह उस व्यक्ति का कर्म होने पर भी अवचेतनरूप से उक्त आधार के माध्यम से वह सम्पूर्ण विश्व का ही कर्म है। यद्यपि कर्तृत्व अभिमान रहने के कारण कर्मकर्ता यह नहीं समझ पाता, किन्तु फिर भी विश्वशक्ति की क्रिया को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए गीता में भगवान् ने कहा है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥

दूसरे पक्ष में कोई व्यक्ति जिस सुख या दुःख रूप फल का भोग करता है, वह प्रधानतः उसी के प्राक्तन कर्म का फल होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वह अंशतः विश्वकर्म का ही फल ठहरता है। अभिमान हट जाने पर यह स्पष्टतः ज्ञात हो सकता है।

इसलिए यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक व्यक्ति का किया हुआ कर्म अंशतः अनुकूल अथवा प्रतिकूल भाव से दूसरे को स्पर्श करता ही है एवं यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हम लोग प्रत्येक ही दूसरे के किये हुए कर्म के फल का कुछ न कुछ अंश भोग करते हैं। इसलिए प्रत्येक कर्म में एक दायित्व का भाव रहता है। क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति का फल समष्टि को भोगना पड़ता है एवं समष्टि का फल व्यक्ति को भी स्पर्श करता है। सूक्ष्म विचार से समझ में आ सकता है कि इस फलोत्पत्ति की कितनी ही प्रधान धाराएँ हैं। उनमें रक्तगत दैहिक सम्बन्ध एक प्रधान धारा के रूप में गणनीय है। भागवत राग अथवा द्वेष का अवलम्बन करके भी अनुरूप धारा है। ये सब धाराएँ ऊपर, नीचे और सम-अन्तराल रूप से चारों ओर फैली हैं। रक्तगत सम्बन्ध और इच्छामूलक भाव-सम्बन्ध दोनों ही इस धारा के नियामक हैं। माँ ने कहा है, 'देखो, अच्छा या बुरा जो भी काम किया जाता है, उसका इधर सात पीढ़ी और उधर सात पीढ़ियों चौदह पीढ़ियों के ऊपर असर पड़ता है। सात पीढ़ी तक ही रक्त की विशिष्टता प्रबल रूप से दिखाई देती है। इसलिए शास्त्र में प्रधानरूप से नीचे की ओर सात पीढ़ी और ऊपर की थोर सात पीढ़ी का उल्लेख किया गया है। कहीं-कहीं पर तीन पीढ़ियों की बात भी है। समझना होगा कि वहाँ तक शक्ति का काम अत्यन्त तीव्रता के साथ होता है, उसके बाद क्रमशः क्षीण होता जाता है। सात पीढ़ी तक क्रिया पहले की अपेक्षा क्षीण होने पर भी अनुभव में आती है, किन्तु वास्तव में नीचे अथवा ऊपर किसी दिशा में सातवीं पीढ़ी में ही क्रिया का अन्त नहीं माना जाता। पर वहाँ प्रभाव अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म और योगियों के देखने योग्य रह जाता है।

२–संयोग रहस्य

'संयोग' तत्त्व गूढ़ रहस्यमय है। इसका तात्पर्य समझ में आ जाये तो बहुत से गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तों के हृदयंगम होने में देर न लगे। साधारणतः संयोग कहने से भवितव्य का बोध होता है। लोग सोचते हैं कि साधारण कार्यकारण-

भाव की दृष्टि से जिसकी संभावना नहीं होती वह यदि संघटित हो जाये तो प्राक्तन कोई अव्यक्त कारण तथा उसकी कार्यकारिता उसकी पृष्ठभूमि में रही। नियति संयोग का ही प्रकारभेद है। साधारण मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं होता, उसकी दृष्टि स्थूल होती है एवं केवल मात्र वर्तमान में ही उसका प्रसार होता है। इन्द्रियगोचर वर्तमान का स्थूल वर्तमान के रूप से निर्देश हो सकता है, किन्तु इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष न रहने पर भी जो वर्तमान हो सकता है उसका स्थूलदर्शी जीव ग्रहण नहीं कर सकता। त्रिकाल के अन्तर्गत जो वर्तमान है, वह अतीत और अनागत—इन दो कालों से परिच्छिन्न है। किन्तु जिस वर्तमान में अतीत और अनागत का व्यवच्छेद नहीं है वह साधारण मनुष्य के अनुभव से परे की वस्तु है एवं उसके सम्बन्ध में सांसारिक जीव कोई धारणा ही नहीं बाँध सकता। वास्तव में अतीत और अनागत नाम का अव्यक्त अंश ज्ञान में आ कर व्यक्त हो पड़ता है। तब वह वर्तमान रूप में ही अपने को प्रकट करता है। जहाँ शुद्ध दृष्टि पैदा हो जाती है वहाँ यह विशाल वर्तमान प्रतीत होता है। इस विशाल वर्तमान में वस्तुस्थिति काल के अधीन नहीं रहती, वह दृष्टि का अगोचर (अदृश्य) है। उस अवस्था में किसी एक वस्तु का किसी दूसरी वस्तु के साथ या किसी एक भाव का किसी दूसरे भाव के साथ जो सम्बन्ध होता है उसी का पारिभाषिक नाम 'संयोग' है। इसलिए वर्तमान में जो कुछ होता है उसकी जड़ में उस व्यापक वर्तमान का संयोग रहा यह जानना चाहिए। इस नियम को शृङ्खला के विशिष्ट दृष्टिकोण से नियति कहा जाता है यह सत्य है, किन्तु प्रचलित भाषा में "संयोग" शब्द से ही यह अर्थ ध्वनित होता है। संयोग अचिन्त्यशक्तिरूप है। मनुष्य जो कल्पना नहीं कर सकता, जो प्रचलित कार्य कारण शृङ्खला के अनुकूल नहीं है, जो साधारण दृष्टि से विश्वास के योग्य प्रतीत नहीं होता, उसका भी संयोग के प्रभाव से संभव होता है। कोई उसे भाग्य भी कहते हैं। वस्तुतः किसी शब्द विशेष से तत्त्व की जटिलता हटती नहीं। संयोग से किसी विशेष काम का आरम्भ हो सकता है और संयोग से किसी काम की पूर्ति भी हो सकती है। जिसके होने की सम्भावना नहीं, संयोग रहने पर भी हो सकता है एवं जिसकी पूर्ति की आशा दुराशा प्रतीत होती है संयोग रहने पर वह सहज में ही पूर्ण हो सकता है। केवल यही बात नहीं है। स्थिति के मूल में भी संयोग रहता है। इसीलिए माँ ने कहा है, "एक तो योग नित्य है ही, दूसरे संयोग से कुछ पूर्ण हुआ, फिर किसी की शुरूआत हुई—सृष्टि, स्थिति और लय। किसी-किसी अंश

में आरम्भ होना। एक तो मिलने वाला था, पूरा हुआ, और जो होने वाला है उसका आरम्भ होता है। फिर है भी तो।"

दार्शनिक लोगों ने सांसारिक व्यापार को नियतक्रम और अनियतक्रम इन दो विभागों में विभक्त किया है। एक प्रकार से नियतक्रम व्यापार के मूल में नियति रहती है। वहाँ कार्यकारण-भाव एक शृङ्खला के समान सुनिश्चित रहता है। जो महाइच्छा सृष्टि के आरम्भ में बाहर प्रकट हुई है वह त्रिकाल में अपने को स्वयं पूर्ण करती है। इस जगह कार्य और कारण में एक क्रम दिखाई देता है एवं उस क्रम का उल्लंघन नहीं होता यह भी दिखाई देता है। किन्तु वह महा-इच्छा ही सृष्टि से परे अपने स्वरूप में पूर्ण रूप से जाग्रत् रहती है एवं निरन्तर अपना कार्य करती है। वह इच्छा स्वतन्त्र है, क्योंकि उसे नियन्त्रित करने वाला कोई नहीं है। काल के प्रवाह के ऊपर भी वह स्वतन्त्र इच्छा अव्याहत रूप में नित्य विद्यमान रहती है। उस महा-इच्छा के प्रभाव से क्रम का बन्धन टूट जाता है, अर्थात् क्रम की कोई सार्थकता नहीं रहती। जिस किसी स्थान से जिस किसी भाव की अभिव्यक्ति हो सकती है। क्रम का अवलम्बन न कर केवलमात्र स्वातन्त्र्य-मयी महा-इच्छा से ही कार्य की निष्पत्ति हो जाती है। ऐसे स्थलों में साधारण विचारशील कह उठते हैं कि संयोग था, इसलिए यह हो गया। अर्थात् होने को था, इसी से यह हुआ है। किन्तु वास्तव में होने वाला था इस कथन का कोई अर्थ नहीं है। "भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।" अर्थात् जो अवश्यंभावी होता है वह हो कर रहता है। उसे कोई भी रोक नहीं सकता। इस बात की जड़ में भी उस स्वातन्त्र्यमयी महा-इच्छा के अलंघ्य प्रभाव की ओर ही इंगित किया गया है।

यह जो विचारधारा है—सक्रम है अथवा अक्रम, पूर्व निर्दिष्ट है अथवा प्रति-क्षण में स्फुरित होने वाली—इसकी मीमांसा पूर्ण प्रकाश में होती है। पूर्ण प्रकाश जब तक नहीं होता तब तक संयोग का रहस्य पूर्णरूप से खुलता नहीं है। इसी-लिए माँ ने भी कहा है, "जब तक पूर्ण प्रकाश नहीं होता तब तक सृष्टि, स्थिति और लय कार्य में संयोग रह ही जाता है।"

३–श्रवण का माहात्म्य

विषय-भेद से श्रवण दो प्रकार का है। अर्थात् जिस जगह श्रोता अपने अनु-भव-योग्य विषय को दूसरे के मुँह से सुनता है उस जगह का श्रवण एक प्रकार

का है। किन्तु जिस क्षेत्र में श्रोता जो कुछ सुनता है उसका कुछ भी अंश न समझ सके पर श्रद्धा के साथ सुनता जावे तो उस जगह का श्रवण दूसरे प्रकार का है। साधारण लोग किसी विषय को समझ न सकने पर दीर्घ काल तक धैर्य के साथ उसे सुनना नहीं चाहते एवं सुन भी नहीं सकते। किन्तु यदि कोई विषय रुचिकर और चित्ताकर्षक होता है तो ऐसी स्थिति में विषय के गुणों से श्रोता का मनोविनोद होता है, अतः वह धैर्यपूर्वक सुन सकता है और सुनता भी है। यही साधारण नियम भी है। किन्तु जो लोग आध्यात्मिक साधना के स्तर में पहुँच चुके हैं वे श्रवण को साधना का अंग मानते हैं। उस जगह श्रवण निरपेक्ष है, क्योंकि विषय के चित्ताकर्षक न होने पर भी एवं अन्य किसी प्रकार से मनोरंजन का साधन न होने पर भी विषय के भीतरी गुणों अथवा वाक्य के नैसर्गिक प्रभाव से श्रोता सुनने को प्रवृत्त होता है।

बहुत से लोग यह समझते हैं कि जो विषय अथवा जो भाषा श्रोता के बोधगम्य न हो उसको सुन कर किसी प्रकार का फल प्राप्त नहीं हो सकता। लौकिक जगत् में यह बात सर्वथा सत्य है। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में साधक श्रोता की श्रवणरूप साधना उसकी बुद्धि अथवा विचार के सिद्धान्त पर निर्भर नहीं। वेदवाक्य अपौरुषेय हैं, महापुरुषों के वाक्य अपौरुषेय न होने पर भी महाज्ञानी ऋषि-मुनियों के स्वमुख से उच्चारित हैं। इसी प्रकार अन्यान्य सिद्धों के वचनों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इन सब वाक्यों के भीतर गुप्त रूप से चैतन्य-शक्ति निहित रहती है। ये शब्द केवल लौकिक शब्द नहीं हैं, यद्यपि साधारण श्रोता को वे साधारण शब्द के रूप में ही प्रतीत होते हैं। इन सब शब्दों के भीतर छिपी हुई शक्ति के प्रभाव से मनुष्य का जीवन प्रभावित ही नहीं होता है, बल्कि परिवर्तित भी हो जाता है किन्तु उस शक्ति को कार्यकरी रूप में यदि पाना हो तो पूर्ण श्रद्धा के साथ उन सब वचनों को सुनना चाहिए। शुद्ध श्रद्धा से वे सब वचन जाग उठते हैं। अर्थात् चैतन्यमयी शक्ति के रूप में अपने को प्रकट करते हैं। इस चैतन्यमयी शक्ति के प्रभाव से देह, प्राण और मन की समस्त शृंखलाएँ क्रमशः टूट जाती हैं।

इसलिए बुद्धि द्वारा समझ में न आ सकने पर भी भगवद्वाणी अथवा महापुरुषवाणी श्रद्धा के साथ सुननी चाहिए। वह सुनना भी व्यर्थ नहीं जाता। बहुत बार बुद्धिपूर्वक श्रवण के बदले उस प्रकार सरल और सादर श्रवण से साधक के

अन्तःकरण का आवरण हट जाता है और साधक ज्ञान और अज्ञान दोनों के अतीत अपने स्वरूप में स्थिति प्राप्त करने में समर्थ होता है। इसलिए समझ में न आने से ही सत्कथा और सत्प्रसंग नहीं सुनेंगे यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव में न आने पर भी केवल सुनने मात्र से अनुभव का मार्ग खुल जाता है। इसीलिए माँ ने कहा है, "इन सब बातों को सुनते-सुनते धीरे-धीरे उस ओर का मार्ग प्रशस्त हो जाता है, जल गिरते-गिरते जैसे पत्थर पर गड्ढा पड़ जाता है।"

सद्ग्रन्थ-पाठ, सत्-कथा एवं सत् कीर्तन ये तीनों स्थूल दृष्टि से अलग-अलग प्रतीत होने पर भी गुण में अभिन्न हैं। क्योंकि सभी में भगवत्प्रसंग ही एकमात्र अवलम्बन है। इसलिए श्रवण चाहे सद्ग्रन्थ का हो, चाहे दूसरे प्रकार की सत्-चर्चा का हो या कीर्तन का ही हो, फल में कुछ भी भेद नहीं है। जिसकी जिस ओर अभिरुचि होती है वह उसी ओर के श्रवण में आकृष्ट होता है। उसी ओर से उसका मार्ग खुल जाता है। अधिकार के भेद से सभी ठीक है। श्रवण के सम्बन्ध में माँ ने विशेष रूप से श्रद्धा के ऊपर जोर दिया है। क्योंकि यदि श्रद्धापूर्वक श्रवण न किया जाये तो श्रवण का सम्यक् फल प्राप्त नहीं होता। इसलिए दोषदृष्टि त्याग कर श्रवण अवश्य करना चाहिए। चाहे शास्त्रवाक्य हो, चाहे महापुरुष का उपदेश ही हो, उसको सुनते समय उसके दोष और गुणों का भाव मन में रहना ठीक नहीं है। स्वयं उसकी ओर आकृष्ट व उन्मुख हो कर सरल भाव से उसे ग्रहण करना चाहिए। स्वयं समालोचक बन कर सत्प्रसंग अथवा महापुरुष का उपदेश सुनना मना है। यथार्थ रूप से श्रवण होने पर मनन का अवसर अपने आप ही आ पहुँचता है। श्रवण यदि श्रद्धापूर्वक न हो तो श्रुत विषय में सन्देह रह जाने से उसका अवलम्बन कर मनन का कार्य ठीक-ठीक सम्पन्न नहीं हो सकता। मनन का मुख्य उद्देश्य संशय को हटाना है। किन्तु पहले श्रद्धापूर्वक श्रवण न करने पर दीर्घकाल तक मनन करने से भी मनन का जो यथार्थ फल है वह प्राप्त नहीं होता। मनन के बाद दृढ़ निश्चय होने पर वह कार्यरूप में प्रकट होता है। इससे ज्ञात होता है कि यथाविधि अनुष्ठान कर सकने पर अनुभव-शून्य श्रवण से भी पूर्ण अनुभव का प्रादुर्भाव हो सकता है। क्योंकि संशय-निवृत्ति के बाद कार्यरूप में प्रकट होने के समय अनुभूति अवश्य होती है।

४–अभेद दृष्टि की महिमा

मनुष्य सर्वत्र खण्डभाव को लेकर व्यवहारभूमि में कार्य कर रहा है। उसकी

दृष्टि भेददृष्टि है। सभी सत्ताओं में एक अखण्ड अभिन्न सत्ता विद्यमान है ऐसी दृष्टि उसकी नहीं है। इसलिए जो जिस समय जो कुछ देखता है वह उस समय वही देखता है। देश के भेद से, काल के भेद से और वस्तु के भेद से ये सब दर्शन पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु ऐसा दर्शन वह नहीं देखता जिससे उसके इन नानाविध दर्शनों की विचित्रता साम्य में परिणत हो सके। इसीलिए इस दर्शन से वह स्थितिलाभ नहीं कर सकता। क्योंकि सर्वत्र भागवत भेद रहता है, किसी भाव में पूर्ण तृप्ति न पाने के कारण एक भाव से दूसरे भाव में संचरण अनवरत होता रहता है। जिसका जो भाव है वही भाव पूर्ण भाव है एवं वही भाव भावातीत है—यह अनुभव में नहीं आता। मातृभाव, पितृभाव, बन्धुभाव, पतिभाव—सभी खण्डभाव हैं। किन्तु, अखण्डभाव के साथ सम्बन्ध न रहने पर माता केवल माता ही है और पिता केवल पिता ही है। माता में भी पितृभाव नहीं है एवं पिता में भी मातृभाव नहीं है। इसलिए अतृप्ति का अन्त नहीं होता। किन्तु प्रत्येक भाव उसी अखण्ड महाभाव का प्रकार भेद मात्र है, यह अनुभव में आ सकने पर अनन्त विचित्रताओं में भी सदा एक का ही ज्ञान होता है। तब माता, पिता, बन्धु, स्वामी—सबमें वह एक ही अनन्तरूपों में विद्यमान है यह समझ में आ सकता है। इसलिए खण्डभाव को भी यदि पूर्णरूप में पाना हो अर्थात् मातृभाव को भी यदि पूर्णरूप से अखण्डरूप में पाना हो तो अभेद दृष्टि आवश्यक है। जब तक कुछ भी भेददृष्टि रहेगी तब तक वह परम स्थिति प्राप्त नहीं हो सकेगी एवं विरोध का भी समन्वय नहीं होगा। वेदान्त का यथार्थ लक्ष्य यही है अर्थात् अभेद दृष्टि होने पर ही भेद और अभेद दोनों का अन्त हो सकता है। क्योंकि भेद और अभेद का जो परस्पर विरोध है, वह भी वहाँ नहीं है।



पन्द्रह

१–विक्षेप में ही स्थिरता का प्रयत्न करना चाहिए

मन स्वभाव से ही चंचल है। इस चंचल मन को स्थिर करने के लिए साधना की आवश्यकता होती है। किन्तु साधना यदि करनी हो तो पार्श्ववर्ती परिस्थितियाँ अनुकूल होनी चाहिए। जिन कारणों से मन चंचल हो उनसे दूर रहना चाहिए। मन के स्थिर होने पर फिर इस तरह के बचाव की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु आस-पास की सुविधाएँ (अनुकूलता) संसारी जीव के लिए व्यवहार-क्षेत्र में सदा सुलभ नहीं हैं। संसार में चित्तविक्षेप के बहुत से कारण हैं। ये सदा अपने ऊपर निर्भर नहीं रहते। इन सब जगहों में मन की स्थिरता का अभ्यास करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार की परिस्थिति में माँ का यह उपदेश है कि बाहरी विक्षेप से मुक्त होकर भीतरी विक्षेप दूर करने के लिए प्रयत्न यदि न किया जा सके तो उस विक्षेप में रह कर ही कौशल से विक्षेपमुक्त होने की चेष्टा करनी चाहिए। मनुष्य में ऐसी शक्ति है कि वह बहुतों में भी एक को खोज निकाल सकता है एवं उसको बुद्धि में आरूढ़ भी कर सकता है यदि कुशलता से प्रयत्न करे। बहुतों का निरास कर एक को पाने की चेष्टा करना सरल है। बहुतों में एक को पहिचान लेना उसकी अपेक्षा कठिन है, किन्तु असम्भव नहीं है। एक की ओर लक्ष्य रखना ही पड़ेगा। यदि विक्षेप हो तो उसकी ओर दृष्टि न देकर एक की ओर ही लक्ष्य रखना चाहिए यही उपदेश है। इस अभ्यास से ऐसी एक स्थिति उन्पन्न होती है जिसमें विक्षेप यदि रहे भी तो वह विक्षेप 'विक्षेप' मालूम नहीं पड़ता, क्योंकि दृष्टि अन्तर्मुख हो गयी है। माँ ने कहा, "समुद्र में छोटी-बड़ी कितनी ही लहरें उठती हैं, उन्हीं में डुबकी लगानी चाहिए।" इसका आशय यह है—जब लहर नहीं उठेगी तब मैं निश्चिन्त होकर डुबकी लगाऊँगा—ऐसा यदि कोई सोचे तो उसके लिए डुबकी लगाना कभी सम्भव नहीं होगा। वैसे ही बाह्य अर्थात् सांसारिक विक्षेप नहीं आवेगा और मैं निश्चिन्तरूप से एकाग्र मन से अभ्यास निरत होऊँगा ऐसी आशा कर बैठे रहने

पर चिरकाल तक बैठा ही रहना पड़ेगा, अभ्यास कुछ नहीं हो सकेगा। क्योंकि सांसारिक जीवन में विक्षेप का कारण न रहे ऐसी अवस्था दुर्लभ है।

२–शत्रु का प्रतिकार

शत्रु के सम्बन्ध में माँ ने एक बहुमूल्य उपदेश दिया है। उन्होंने क्रोध का निर्देश किया है सही, किन्तु वह केवल क्रोध पर ही नहीं, अन्यान्य शत्रुओं के सम्बन्ध में भी लागू होता है। माँ के उपदेश का निष्कर्ष यह है कि किसी शत्रु का उपद्रव यदि मालूम पड़े तो अपने ऊपर नियन्त्रणशक्ति का प्रयोग करना चाहिए। माँ ने उदाहरण के रूप में भोजन में इस नियन्त्रण-शक्ति का प्रयोग करने का उपदेश दिया है। जो वस्तु जिसे बहुत अच्छी लगे उसका कम से कम एक दिन के लिए त्याग करना संयम के अभ्यास की एक सीढ़ी है। इससे केवल संयम की दृढ़ता की अभिवृद्धि ही नहीं होती, साथ ही साथ शत्रु के अभ्युदय से उत्पन्न हुआ अपना अपराधी भाव भी मन में जाग्रत् नहीं होता है। क्योंकि उस अपराध के लिए ही तो संयम का अभ्यास किया जाता है। इससे अभिमान क्रमशः शिथिल हो जाता है एवं फिर एक ऐसी स्थिति प्राप्त होती है जिसमें वास्तविक दैन्यभाव आ जाता है। उस अवस्था में प्रायः सभी शत्रु पहले की अपेक्षा शान्तभाव धारण करते हैं। यह जिस प्रकार क्रोध निवृत्ति का उपाय है, ठीक उसी तरह भलीभाँति अभ्यास कर सकने पर शत्रुओं के दमन का भी उपाय है। किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस प्रकार शत्रुओं की उद्दाम प्रबलता न्यून अवश्य होती है, किन्तु सर्वथा निवृत्त नहीं होती। बीजरूप से शत्रु रह जाते हैं। तब संयम के प्रभाव से एवं साधन करते-करते भगवान् की कृपा से ज्ञानोदय होने पर सभी शत्रु निवृत्त हो जाते हैं।



सोलह (क)

१–श्राद्ध का फल

भारतवर्ष में श्राद्ध और तर्पण की प्रथा बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। दोनों के ही अवान्तर अनेक भेद हैं। प्राचीन काल से ही श्राद्ध आदि के विरुद्ध नास्तिक सम्प्रदाय के लोग तीव्र आलोचना करते आ रहे हैं। जो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं एवं परलोक नहीं मानते, जो कर्म और कर्मजन्य फल को स्वीकार नहीं करते, जो सूक्ष्म जगत् अथवा मृत्यु के अनन्तर पारलौकिक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उन्होंने बहुत प्राचीन काल से ही श्राद्ध आदि कर्म की निरर्थकता के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है। भारतीय दार्शनिक पण्डितों में चार्वाक सम्प्रदाय विशेषरूप से इन विरोधी लोगों में अगुआ रहा है। बृहस्पति ने लोकायत मत चलाया था एवं उस मत के अनुरूप दर्शन-शास्त्र का निर्माण किया था। उन्होंने स्वयं और उनके अनुगायी नास्तिक मतावलम्बियों ने परलोक के विरुद्ध स्थूल दृष्टिकोण से विविध युक्तियाँ दर्शाने की चेष्टा की। किन्तु भारतीय विचारकों में से किसी सम्प्रदाय ने भी उनके मत को अपनाया नहीं।

वर्तमान समय में भी परलोक के अस्तित्व में विश्वास न रखने वाले अनेक शिक्षित पुरुष इसी प्रकार के नास्तिक मत को हृदय में स्थान देते हैं। किन्तु यह मत सत्य नहीं है। उनकी युक्तियाँ ये हैं—इस लोक में जो वस्तुएँ मृत आत्मीय व्यक्तियों के लिए अर्पित की जाती हैं वे उन्हें मिलती हैं एवं उनसे उन्हें तृप्ति होती है, यह विश्वासयोग्य नहीं है। स्थूल दृष्टि से यह असम्भव ही प्रतीत होता है। किन्तु शास्त्रों का सिद्धान्त तथा त्रिकालदर्शी व सर्वत्र अप्रतिहत दृष्टि वाले महापुरुषों का अनुमत इसके विपरीत है। वास्तविक सत्य यह है कि जीव देह नहीं है, किन्तु देहातिरिक्त चैतन्य जीव है। स्थूल शरीर की तरह सूक्ष्म शरीर भी मोक्षप्राप्ति के पहले तक जीव को धारण करना पड़ता है। उसी शरीर में किये हुए कर्मों के संस्कार विद्यमान रहते हैं। मृत्यु के बाद स्थूल और सूक्ष्म शरीर के छूटने पर सूक्ष्म शरीर स्थूल जगत् का त्याग कर परलोक में अर्थात् सूक्ष्म स्तर में पहुँचाया

जाता है । वह स्तर इन्द्रियों का अगोचर है । इसलिए साधारण मनुष्य को जब तक तदनुकूल दृष्टि प्राप्त नहीं होती तब तक वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता । किन्तु वह प्रत्यक्ष दर्शन-योग्य है । ऋषियों तथा शास्त्रनिर्माताओं ने इस प्रत्यक्ष दर्शन पर ही अपने सिद्धान्त स्थिर किये हैं । सूक्ष्म जगत् में पितृलोक, देवलोक और ऋषि-लोक—इस तरह के विभाग हैं । मृत्यु के अनन्तर एक ओर पितृलोक की धारा और दूसरी ओर देवादि लोकों की धारा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का सूत्रपात होता है । पितृलोक में प्रवेश पाने के पहले ही कई आतिवाहिक अवस्थाओं द्वारा जाना पड़ता है । तनन्तर पितृलोक में प्रविष्ट होकर कर्मों के अनुसार सुखमय अथवा दुःखपूर्ण स्थान में गति होती है एवं उन सब स्थानों में सुख-दुःख के भोग से पुण्य और पाप का क्षय होने पर बचे हुए कर्मों का फल भोगने के लिए मनुष्य-लोक में जन्म ग्रहण करना पड़ता है । हाँ, विशेष कारण से मनुष्य के स्तर में भी कुछ समय के लिए गति प्राप्त हो सकती है । मनुष्य मरण के बाद गति द्वारा चाहे जिस किसी स्थान में क्यों न पहुँच जाये, उसका स्मरण कर उसके उद्देश्य से स्थूल जगत् में यदि कोई अनुष्ठान किया जाता है, तो उसका फल उसे अवश्य ही मिलता है । स्मरणरूपी सूत्र अथवा भावनारूपी सूत्र का सम्बन्ध होने पर सबका सबके साथ सम्बन्ध वर्तमान है । कोई कहीं पर क्यों न रहे, तीव्र चिन्तन के प्रभाव से उसकी निकटता के अनुभव में दोनों के बीच का व्यवधान कोई बाधा नहीं डाल सकता । यह परीक्षित सत्य है । श्रद्धा से जो कुछ अर्पित होता है वह इच्छा की सहायता से ठीक जगह पर प्रकट न हो यह कदापि सम्भव नहीं है । श्रद्धा-पूर्वक अनुष्ठेय होने के कारण ही 'श्राद्ध' नाम की सार्थकता समझनी चाहिए । श्राद्ध में जो कुछ भी अर्पित होता है उसका सारांश, भावरूप आकार धारण कर भावरूप सूत्र की सहायता से, भावस्वरूप अपने आत्मीय के समीप पहुँच जाता है।

कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि परलोकगत जीव अपने व्यक्तिगत कर्मों के अनुसार ही स्वर्ग अथवा नरक में सुख-दुःख का भोग करेगा । यह कर्मवादियों के दृष्टिकोण से स्वीकार किया जा सकता है । यहाँ पर नास्तिकों के मत की आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है । किन्तु कर्म और फल का सामाना-धिकरण्य नियम माना गया है यानी जो सुख या दुःख भोगते हैं, वे अपने प्राक्तन कर्म के अनुसार ही भोगते हैं, यह जैसा सत्य है ठीक वैसा ही जो कोई नवीन कर्म का अनुष्ठान करते हैं उसका फल सुख-दुःख भी वे स्वयं भोगने को बाध्य होते हैं यह भी वैसा ही सत्य है । इसलिए एक व्यक्ति के किये हुए कर्मों का फल

दूसरा व्यक्ति कैसे भोगेगा ? इसमें क्या कार्य-कारण-भावरूप नैतिक नियम की रक्षा हो सकती है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि कर्म का फल-भोग भाव के अनुसार ही होता है। इसलिए यदि कर्म करने वाला भावना के द्वारा किसी को लक्ष्य कर कोई कर्म करता है तो उसकी भावना के प्रभाव से उस कर्म का फल जिसके उद्देश्य से कर्म किया गया है उसी को प्राप्त होगा। यह कर्मवाद का विरोधी नहीं है। कौन श्राद्ध आदि कर्म का अधिकारी है यह विचार यहाँ पर अप्रासंगिक है। जिनके पुत्र आदि कोई नहीं है उन्हें भी यदि कोई व्यक्ति, जिसके साथ कोई नाता है, श्रद्धापूर्वक कुछ अर्पित करता है तो वह भी उनके भोग में आता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। किसी के प्रति भली या बुरी इच्छा करने और तदनुरूप कार्य करने पर वह व्यर्थ नहीं जा सकता, पर उसके कल्याण के लिए किसी प्रकार का भावमय अथवा क्रियामय अनुष्ठान करने वाला कोई नहीं है, उसके लिए अगति के गति स्वयं भगवान् कल्याणकारी आत्मीय व्यक्ति के रूप में विद्यमान रहते हैं। सूक्ष्म जगत् में अनेक महापुरुष हैं, जो श्रीभगवान् के इस महाकरुणापूर्ण व्यापार का सम्पादन करते हैं। परलोकगत व्यक्ति के व्यक्तिगत कर्मों की बात अलग है। कर्मों की गति के अनुसार उसे जो प्राप्य है उसके साथ उस पूर्वोक्त कल्याणकामना से हुए सहायताकर्म का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

मृत का पुनर्जन्म होने पर भी इस नियम का कोई व्यभिचार नहीं है। कर्म के प्रभाव से चाहे जैसा भी शरीर धारण करे श्राद्ध में अर्पित वस्तु अमृत का रूप धारण कर उसके अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त हुए आत्मीय के भोग्यरूप में परिणत होकर उसके निकट उपस्थित हो जाती है। देश-काल का व्यवधान उसमें रुकावट नहीं डाल सकता।

२–कर्मपूरण

कर्म से कर्म का फल उत्पन्न होता है यह बात सत्य है, किन्तु कर्म की पूर्ति हुए बिना फल की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। कारणों की समष्टि से कार्य उत्पन्न होता है। इस समष्टि में किसी एक भी अंग की यदि अपूर्णता रहती है तो उस वैगुण्य के कारण नियमानुसार फल का आविर्भाव नहीं हो सकता। जीव अल्पज्ञ है, उसकी शक्ति भी परिमित है। इसके अलावा वह पूर्व संस्कारों से परि-चालित होता है एवं सूक्ष्म दृष्टि भी उसकी खुलती नहीं है। समय-विशेष के उत्पादन के लिए जिन स्थूल और सूक्ष्म सब कारणों के सम्मेलन की जरूरत पड़ती

है उनमें किसी अंश में यदि त्रुटि रह जाती है तो उसका ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उसके लिए विधिपूर्वक विशुद्धरूप से कर्म को पूर्ण करना कैसे सम्भव हो सकता है? इसीलिए सभी कर्मपद्धतियों में अन्त में भगवत्स्मरण की व्यवस्था है। स्वयं सरल भाव से यथाशक्ति और यथाविधि कर्म करने पर अशक्ति और अज्ञान-वश हुई त्रुटियों के लिए सर्वयज्ञेश्वर श्रीभगवान् के निकट क्षमा माँगनी चाहिए। प्रसिद्ध है—

अज्ञानाद् यदि वा मोहात् प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
पूर्णं भवतु तत्सर्वं श्रीहरेर्नामकीर्तनात्॥

इससे मालूम पड़ता है कि अपूर्ण कर्म को एकमात्र भगवान् ही पूर्ण कर सकते हैं एवं कृतकर्म में हुई त्रुटियों के लिए सरल चित्त से उनके समीप प्रार्थना करने पर वैगुण्य के कारण हुई सब कमियों को वे पूर्ण कर देते हैं। तब कर्म से कर्म-फल की उत्पत्ति होना सम्भव होता है। स्वयं जान कर अथवा इच्छा से त्रुटियाँ करना अनुचित है। इसीलिए माँ ने कहा है—"ध्यान रखना चाहिए कि मैंने काम लिया है उसे पूर्ण रूप से करूँ—मैंने तो कोई त्रुटि की नहीं—जिससे कर्म की पूर्णता की ओर ध्यान रहता है।"

सोलह (ख)

१–ध्यान में रूप भासता है

जो लोग साकार ध्यान करते हैं वे रूप के उपासक हैं। वे इच्छापूर्वक अथवा गुरु के निर्देशानुसार किसी निर्दिष्ट रूप का ध्यान करते हैं। किन्तु जो लोग निराकार के उपासक हैं वे रूप अथवा मूर्ति का ध्यान नहीं करते। फिर भी प्रायः उनके भी हृदय में अनजान में रूप भास उठता है। रूप का ध्यान करना एवं ध्यान किये बिना अतर्कित रूप से हठात् रूप का आविर्भाव होना इन दोनों में अन्तर है। साधारणतः रूप का आविर्भाव वर्तमान जन्म के अथवा जन्मान्तर के संस्कारों से ही होता है, यही बहुतों का विश्वास है। कुछ अंशों में यह सत्य है, इसमें भी सन्देह नहीं है। किन्तु इसमें रूप का भासना एक गम्भीर रहस्य है।

योगी लोग जिस विसर्गशक्ति की बात कहते हैं उसी के प्रभाव से अरूप में रूप का आविर्भाव होता है। यह विसर्गशक्ति की लीला अतिविचित्र है। शास्त्र के अनुसार शांभव विसर्ग, शाक्तविसर्ग तथा आणव विसर्ग—ये तीन प्रकार के विसर्ग हैं। आणव विसर्ग में भेदज्ञान की प्रधानता रहती है; शाक्त विसर्ग में भेदज्ञान के रहने पर भी अभेद ज्ञान का भी आभास जाग उठता है। किन्तु शांभव विसर्ग में भेदज्ञान बिलकुल भी नहीं रहता। उसमें विशुद्ध भेदज्ञान का स्फुरण होता है। यहाँ पर जिस तरह के आभास का जिक्र किया गया है वह आणव विसर्ग का ही एक अंश है। इस प्रकार अचिन्तितरूप का आविर्भाव होने पर साधक को उसका त्याग न कर उसका ध्यान करना चाहिये। इस जगह पर माँ का उपदेश यह है—भगवान् विश्वरूप हैं और अरूप भी वे हैं। हृदय में जब जिस किसी रूप में वे प्रकट हों उसे सर्वमय भगवान् का रूप समझ कर उसी में चित्त को लगाना उचित है। चाहे जो भी रूप हो, वह यदि पूर्ण रूप से हस्तगत किया जा सके तो उसी में विश्वरूप, यहाँ तक कि अरूप के दर्शन तक हो सकते हैं।

२—माँ का उपदेश-क्रम

किसी नवीन साधक को उपासना के सम्बन्ध में माँ ने जो उपदेश दिया था उसका सारांश, विचार करने पर, ऐसा प्राप्त होता है—

(क) अपने आप स्फुरित हुए रूप का आविर्भाव। इसका विवरण पहले दिया जा चुका है।

(ख) स्वयं आसन पर बैठ कर उस अपने आप स्फुरित हुए रूप का ध्यान करना।

(ग) उसके अथवा मूर्ति को कल्पित आसन पर स्थापित करना।

(घ) उसके अनन्तर प्रणाम। यहीं पर पहला स्तर समाप्त हुआ। मूर्ति आसन पर साक्षी के रूप में स्थित रही।

इसके बाद जप अथवा गुरु द्वारा दिये गये नाम की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए। जप समाप्त होने पर पूर्वोक्त मूर्ति को फिर प्रणाम करना चाहिए। इस

समय उस मूर्ति को फिर अपने हृदय में विलीन कर देना चाहिए अथवा उसकी नित्यप्रतिष्ठित के रूप में रक्षा करनी चाहिए। उपासना के आवाहन और विसर्जन ये दो अंग हैं। जो आवाहन करते हैं वे आवाहन के बाद उपासना पूर्ण कर विसर्जन के द्वारा कर्म की समाप्ति करते हैं। यह एक पक्ष है। कार्यरूप इष्टरूप का कारण-भूत जल में विसर्जन एवं आवश्यकता पड़ने पर फिर कारण-रूप जल से उसका आकर्षण द्वारा बाहर निकालना यही इस धारा का नियम है। कोई लोग आवाहन तो मानते हैं, पर विसर्जन नहीं मानते। उनके मत से इष्ट का आविर्भाव काल के अन्तर्गत होने से एवं साधन-साध्य होने से आवाहन आवश्यक है। किन्तु प्रतिष्ठा स्थायी और कामना नित्य होने से विसर्जन अवैध है। पहले सम्प्रदाय में ज्ञान प्रधान है एवं दूसरे सम्प्रदाय में भक्ति प्रधान है। उपासना दोनों ही मतों से हो सकती है। भक्तिप्रधान साधना में इष्ट का तिरोधान कभी नहीं होता। इसलिए भजन की समाप्ति भी कभी नहीं होती। ज्ञानप्रधान धारा में इष्ट तिरो-हित होकर आत्मस्वरूप में प्रकाशित होते हैं। यही ज्ञान का उदय अथवा उन्मेष है, ज्ञानी लोग उसको उपासना का चरम लक्ष्य मानते हैं।

३—उनमें विश्व है, विश्व में वे हैं

माँ कहती हैं, "उनमें विश्व है विश्व में वे हैं।" यह सोलह आना सत्य बात है। चरम अवस्था में उनमें और विश्व में कोई भेद नहीं रहता—दोनों ही एक हैं। साधक साधना के पथ पर अग्रसर होकर ज्ञान का विकास होने पर विश्व के साथ आत्मा का एवं आत्मा के साथ विश्व का क्या सम्बन्ध है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। जो लोग प्रथम अवस्था में विवेक-पथ पर अग्रसर होते हैं, विवेकज्ञान निष्पन्न होने पर वे अपना विश्व से पृथक् रूप में अनुभव करते हैं। सांख्य की प्रकृति से पुरुष का तथा वेदान्त की माया से ब्रह्म का पार्थक्य प्रसिद्ध ही है। विश्व प्रकृति से उत्पन्न है, इस कारण प्रकृति ही विश्व की उपादान है, इसमें सन्देह नहीं है। पुरुष अथवा आत्मा वृद्धावस्था में विश्व के साथ अर्थात् प्राकृत जगत् के साथ ओतप्रोत से जुड़ा रहता है। जब तक देहात्मबोध पूर्णरूप से हट नहीं जाता तब तक विश्व से अपना पृथक् अस्तित्व समझ में नहीं आ सकता। जब आत्मा अपनी अप्राकृत सत्ता में प्रतिष्ठित होता है तब वह विश्वातीत चित्स्वरूप होता है। किन्तु उस अवस्था में वह यदि प्रतिष्ठित होता है तो उसकी विश्वातीत स्वरूप में ही स्थिति अक्षुण्ण रह जाती है। पूर्णत्व का आस्वादन उसके लिए सम्भव नहीं होता। पूर्ण सत्ता अद्वय है, उसमें प्रकृति भी है, पुरुष भी है, पर

दोनों का द्वैतभाव नहीं है। पूर्ण प्रकृति और पुरुष का परस्पर भेद नहीं रहता किन्तु उस अभेद अवस्था में पहुँचने पर जैसे पुरुष को शुद्धरूप में जाना जाता है, वैसे प्रकृति को भी उसके आत्मस्वरूप में पहिचानना चाहिए। उस समय ये दोनों ही एक महासत्ता के अवयव हैं यह प्रत्यक्षत: अनुभव में आता है। तदनन्तर यह अंगांगिभाव या अवयवावयविभाव नहीं रहता। एकमात्र परा सत्ता ही अपने अखण्ड प्रकाश से अपने निकट भास उठती है। इस अखण्ड प्रकाश में पुरुष अथवा आत्मा तथा प्रकृति अर्थात् अनात्मा या माया अभिन्नरूप में ही प्रकट होते हैं।

किन्तु इस अद्वय स्थिति को पाने के पूर्व दो अवस्थाओं का विशेषरूप से उल्लंघन करना आवश्यक है। उनमें पहली है—विश्व में सर्वत्र आत्मदर्शन। इस अवस्था का उदय होने से पहले विकल्प महाज्ञान के प्रभाव से विश्ववियुक्त विश्वोत्तीर्ण विशुद्ध आत्मा का साक्षात्कार होना आवश्यक है। इस साक्षात्कार के समय यदि देह छूट जाए तो इस स्थिति में रहना अवश्यंभावी है। किन्तु यदि भाग्यवश अर्थात् परमेश्वर के विशेष अनुग्रह से आत्मसाक्षात्कार के बाद समाधि से व्युत्थान हो जाए तो दृष्टि के सामने सारा विश्व भासित हो उठता है। किन्तु यह विश्व तथा अपरोक्ष ज्ञान के पूर्व अनुभूत विश्व एक होने पर भी सर्वथा एक नहीं है। क्योंकि पहले अज्ञानावस्था में जिस विश्व का दर्शन हुआ था वह प्रकृति का कार्यभूत जड़ विश्व था। किन्तु अपरोक्षज्ञान के पश्चात् व्युत्थित अवस्था में जिस विश्व का दर्शन होता है वह जड़ होने पर भी विशुद्ध है एवं उसमें असंगरूप से आत्मसत्ता का भान होता है। वस्तुत: तब आत्मसत्ता का साक्षात्कार होता है। किन्तु पूर्वसंस्कार के निवृत्त न होने के कारण कभी-कभी विश्व का भी भान हो जाता है। इन्द्रिय अथवा मन को स्थूलरूप से अथवा सूक्ष्मरूप से जागतिक सत्ता का अनुभव होता है एवं साथ ही साथ खुले हुए ज्ञाननेत्र को सब जगह आत्मसत्ता का अनुभव होता रहता है। ये दोनों दर्शन एक साथ होते हैं एवं एक तरह से इस उभयदर्शन की एक दर्शन के रूप में भी व्याख्या की जा सकती है। यही विश्व का सर्वत्र आत्मसत्ता का दर्शन है। यह दर्शन किसी दृश्य का दर्शन नहीं है। क्योंकि आत्मा दर्शक है, दृश्य दृश्य नहीं है, फिर भी संस्कार के प्रभाव से दृश्य का दर्शन साथ ही साथ होता है, इसलिए इस दर्शन को आत्मा का ही दर्शन मानना संगत है। वस्तुत: आत्मा ही द्रष्टा है एवं विश्व के साथ अभिन्न रूप से आत्मा ही दृश्य है। इन्द्रियों के गोचर होने से सब पदार्थों का दर्शन होता है, यह सत्य है। किन्तु अतीन्द्रिय

स्वयंप्रकाशरूप से इस जगह इस स्थल में आत्मा का ही दर्शन होता है। यह दर्शन अन्य प्रकार का है। इसके बाद जब और भी शुद्ध अवस्था का उदय होता है तब प्रतीत होता है कि यह सम्पूर्ण विश्व वस्तुतः उसी आत्मस्वरूप में भास रहा है। उस समय आत्मस्वरूप में ही तदन्तर्गत रूप से विश्व का दर्शन होता है। विश्व में आत्मदर्शन अवस्था में विश्व आधार है और आत्मा उसमें आश्रित है। इस अवस्था में संस्कार का प्रभाव विद्यमान रहता है यह कहना पड़ेगा। किन्तु जब आत्मा में विश्वदर्शन होता है, तब आत्मा व्यापक मूलभित्ति है। यह चैतन्य स्वरूप का दर्शन है। इसी में प्रतिबिम्ब रूप से विश्व उद्भासित होता है। समुद्र के जल में जैसे तरंगें उठती हैं वैसे ही आत्मसत्ताका अवलम्बन कर विश्व का उद्गम होता है। शक्ति का विकास हुए बिना अर्थात् चित्त-शक्ति का उन्मेष हुए बिना निष्कल आत्मा सकलरूप में आत्मप्रकाश नहीं कर सकता। कला ही शक्ति है एवं सम्पूर्ण विश्व इस आत्मकला का ही स्फुरण है। इससे सिद्ध है कि निष्कल आत्मा में विश्व का स्फुरण नहीं होता। शुद्ध आत्मा में विश्व का स्फुरण नहीं होता। शुद्ध आत्मा का ही अपने में अपना प्रकाश होता है। सकल यानि कलायुक्त आत्मा में समग्र विश्व प्रतिबिम्बवत् नित्य भासमान रहता है।

ये दोनों ही अवस्थाएँ—विश्व का आश्रय करके आत्म-दर्शन अथवा आत्मा का आश्रय कर विश्वदर्शन—अपूर्ण हैं। प्रथम दर्शन में आश्रय की प्रधानता रहती है। किन्तु द्वितीय दर्शन में आत्मा का आश्रय कर विश्व का दर्शन होने के कारण आत्मा का ही प्राधान्य रहता है। किन्तु साम्यभाव का उदय होने पर विश्व और आत्मा का परस्पर का भेद हट जाता है। तब साकार और निराकार अभिन्न प्रतिभास में अद्वितीय रूप से प्रस्फुटित हो उठते हैं। जिस नियम से सभी में सब हैं यह स्वीकृत होता है, उसी नियम के अनुसार विश्व में भी आत्मा है, योग्य व्यक्ति उसे देख पाता है, एवं आत्मा में विश्व है, यह दर्शन भी योग्य पुरुष को ही होता है। किन्तु योग्यता का विकास अधिक होने पर विश्व भी नहीं रहता, आत्मा भी नहीं रहता, दोनों ही अभिन्न सत्ता के रूप में प्रकट होते हैं। वही स्वयंप्रकाश पूर्ण सत्ता है।

४–अपने गुरु और जगत् के गुरु लौकिक दृष्टि में

प्रत्येक को ही अपने अपने गुरु के साथ जगत्-गुरु का भेद दिखाई देता है। हर एक की दृष्टि में अपने गुरु मनुष्यरूप व्यक्ति विशेष हैं पर जगद्गुरु स्वयं

भगवान् हैं। किन्तु शास्त्र में प्रतिपादित है कि यदि साधक दोनों को एक न कर सके तो किसी भी साधना से सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। एक तरह से यदि देखा जाए तो मनुष्य गुरु नहीं हो सकता। दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर भगवान् भी गुरु नहीं हो सकते हैं।. मनुष्य गुरु नहीं हो सकता इसका कारण यह है कि मनुष्य अज्ञान के अधीन है। यहाँ तक कि ज्ञान प्राप्त करने पर भी वह अज्ञान के हाथ से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान स्वरूप गुरु मनुष्य से भिन्न हुए बिना नहीं रह सकता। द्वितीय पक्ष में भगवान् सब संस्कारों से रहित होने के कारण 'गुरु' नहीं कहे जा सकते। क्योंकि गुरुभाव भी एक संस्कार है। अज्ञान-सागर में डूबे हुए जीव को उबारने की इच्छा अथवा करुणा भी एक तरह की वासना है। यह शुद्ध वासना है, इसमें सन्देह नहीं एवं विश्व का कल्याण करना इसका उद्देश्य है। इसीलिए इसकी महिमा का सबको बखान करना उचित है। किन्तु जो वासना-शून्य हैं वे किस तरह से गुरु के रूप में प्रकट होंगे ? इससे सिद्ध हुआ कि जैसे मनुष्य में गुरु होने की योग्यता नहीं है, वैसे ही भगवान् में भी उसकी योग्यता नहीं है। किन्तु वस्तुतः दोनों के परस्पर सम्बन्ध से दोनों स्थानों में एकत्व से गुरुत्व का प्राकट्य हो जाता है। उस समय मनुष्य-रूप आधार में भगवत्-शक्ति का पूर्ण योग होने से मनुष्य जीवोद्धार करने में शक्ति-सम्पन्न गुरु कहा जा सकता है। दूसरे पक्ष में मनुष्य का सम्बन्ध होने ने असंग भगवत्-स्वरूप में भी महाकरुणा का उदय होता है। तब भगवान् को ही एक-मात्र गुरु मानने में कोई अड़चन नहीं रहती।

पूर्व-प्रदर्शित क्रम के अनुसार विचार करने पर समझ में आ सकता है कि व्यवहारभूमि में मनुष्य जैसे गुरु कहा जा सकता है वैसे ही भगवान् भी गुरु कहे जा सकते हैं। तब ज्ञान होता है कि अपने व्यक्तिगत गुरु में ही विश्वगुरु का आवेश है यह जिस प्रकार सत्य है, वैसे ही विश्वगुरु को ही अपने व्यक्तिगत गुरु के रूप में माना जा सकता है यह भी वैसे ही सत्य है। गुरु में ईश्वरभावना करने का उपदेश शास्त्रों में सर्वत्र दिखाई देता है। यह भी उसका मूल कारण है। इस प्रकार भावनावश मनुष्य-गुरु की सब कमियाँ, त्रुटियाँ और भूलें दूर हो जाती हैं और वे साधक शिष्य को छू नहीं सकती हैं। केवल यही नहीं, बल्कि ईश्वर का दिव्य ज्ञान मनुष्य रूप गुरु के चित्त में संचारित हो कर योग्य शिष्य को परमार्थ के मार्ग पर खींच ले जाता है। इसलिए 'मदात्मा सर्वभूतात्मा' यह जैसे सत्य है वैसे ही 'मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः' यह भी वैसे ही सत्य है। ■

सत्रह

१–अहैतुक कृपा

कृपा वास्तव में स्वाभाविक होने पर ही 'कृपा' कहलाने योग्य होती है। यदि अतीत के साथ कोई सम्बन्ध रहे अर्थात् यदि प्राक्तन कर्म के फल के रूप में उसका प्रादुर्भाव हो तो उसे विशुद्ध कृपा कहना नहीं बनता। उसी तरह यदि भविष्यत् के साथ योग रहे अर्थात् भविष्यत् के किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए यदि कृपा का आविर्भाव हुआ हो तो वह कृपा भी वास्तविक कृपा नहीं है। जो स्वाभाविक है वह स्वभावतः ही प्रवृत्त होती है। उसके साथ अतीत अथवा अनागत का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु वास्तविक कृपा सब भूमियों से आविर्भूत नहीं हो सकती। वह निरपेक्ष और स्वतन्त्र है, इसलिए एकमात्र उस परिपूर्ण स्थान से ही उसका उद्गम हो सकता है। निम्न भूमि (स्थान) से जो कृपा आविर्भूत होती है वह कृपा होने पर भी सापेक्ष है, क्योंकि जिसके प्रति कृपा प्रदर्शित होती है, उसकी किसी न किसी प्रकार की योग्यता का अवलम्बन कर के ही सापेक्ष कृपा आविर्भूत होती है। वही कृपा का बीज है। यदि किसी आधार में वह दिखाई न पड़े तो सापेक्ष अधिकारी पुरुष कृपा का प्रदर्शन नहीं कर सकते। इस बात को और अधिक विशद करके कहता हूँ। विश्व लौकिक दृष्टि से द्वैतभावमय है, इसलिए उच्च और निम्न तथा महान् और क्षुद्र इस तरह का भेद इसमें विद्यमान है। जो अपने को महान् समझता है वह क्षुद्र को अपने से पृथक् समझता है, एवं जो अपने को क्षुद्र समझता है वह भी महान् से अपने को पृथक् समझता है। यहाँ जो महान् है वह क्षुद्र पर स्वभावतः ही कृपालु होता है। किन्तु उसकी कृपा वास्तव में तभी कार्यरूप में परिणत होती है, जब कि क्षुद्र उसे ग्रहण कर सके। क्योंकि यदि ग्रहण न कर सके तो वह न पाने के ही तुल्य है। उससे अभाव (आवश्यकता) की पूर्ति नहीं होती। किन्तु क्षुद्र में अन्य प्रकार की कोई योग्यता न रहने पर भी महान् द्वारा दी गयी कृपा को ग्रहण करने की योग्यता रहनी चाहिये, किन्तु यदि किसी जगह क्षुद्र उस कृपा को ग्रहण न कर सके तो ऐसी स्थिति में महान् की कृपा एक तरह से व्यर्थ ही गयी यह कहना ही

पड़ेगा। वह कृपा करके भी कृपा न करने के तुल्य ही रहते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि उनको कृपा सापेक्ष है। जैसे अग्नि लकड़ी का आश्रय लेकर प्रज्वलित होती है एवं यदि उसे लकड़ी का आश्रय न मिल सके तो अग्नि का प्रकाश नहीं होता, वैसे ही सापेक्ष कृपा भी जाननी चाहिए। एकमात्र परमतत्त्व को छोड़कर निरपेक्ष कृपा करने की क्षमता किसी में भी नहीं है। सापेक्ष कृपा एक हिसाब से यथार्थ कृपा ही नहीं है। वह वीर्यहीन, निष्फल तथा केवल नाम-मात्र की कृपा है। यथार्थ कृपा उसी को कहते हैं जिसमें कोई उपाधि न हो। निरपेक्ष कृपा स्वतन्त्र है। वह किसी के ऊपर निर्भर नहीं रहती। कृपामात्र में कृपा धारण करने की योग्यता न होने पर भी निरपेक्ष कृपा के प्रभाव से अपने आप ही वह योग्यता अभिव्यक्ति हो जाती है। वस्तुतः वह समानरूप से कृपा करती भी है एवं कृपा धारण कराती भी है यानी महान् के रूप से कृपा करना तथा क्षुद्र के रूप से कृपा धारण कराना दोनों ही काम निरपेक्ष कृपा से घट जाते हैं। यही वास्तविक अहेतुक कृपा है। भगवत्कृपा इसी अहेतुक कृपा की श्रेणी के अन्तर्गत है। यह प्राक्तन कर्मों की अपेक्षा नहीं रखती है, भविष्यत् की ओर भी दृष्टिपात नहीं करती, एवं धारण करने वाले की धारणशक्ति अथवा योग्यता के ऊपर भी निर्भर नहीं रहती है। यह प्रकाशित होते ही अपनी महिमा से अपनी सफलता प्रकट कर देती है। यह स्वातन्त्र्य का ही नामान्तर है। ग्रहण करने वाले इच्छा के साथ दान कर्त्ता की इच्छा का योग होने पर ही कृपा सफल होती है। दानकर्त्ता यदि पूर्ण हो तो उनकी इच्छा के प्रभाव से ग्रहण करने वाले में भी अनुरूप इच्छा जाग जाती है। माँ यशोदा जब मक्खन निकाल कर गोपाल के मुँह में रखूँगी यों मन में इच्छा करती थीं इतने में तुरन्त ही गोपाल कहीं से दौड़ते हुए आकर "माँ, मक्खन दो" यों मक्खन के लिए माँ को तंग करते थे। यशोदा की देने की इच्छा थी, इसीलिए गोपाल के भीतर लेने की इच्छा जगती थी। अथवा गोपाल को माखन लेने की इच्छा थी इसीलिए यशोदा में माखन खिलाने की इच्छा जागती थी। एक ही सत्य के केवल दो पहलू हैं। जो स्वयं भगवान् हैं वे यदि कृपा करें तो किसी विशेष कारण से जीव उसे न पावे यह कदापि नहीं हो सकता। जीव में कितना ही अयोग्यता क्यों न रहे निरपेक्ष भग-वत्कृपा के सामने वह नगण्य है। इसका एकमात्र कारण है दाता और प्रतिग्रहीता अभिन्न हैं यह दाता जानते हैं। उनकी दृष्टि में सारा विश्व ही उनसे अभिन्न है। इसलिए इस अद्वैत भूमि से कृपा का संचार होने पर वह एक ओर अर्थात् दाता

की ओर कृपा प्रकाश की योग्यता लेकर तथा दूसरी ओर अर्थात् ग्रहीता की ओर उसे धारण करने की योग्यता ले कर आविर्भूत होती है। अपूर्ण भूमि से कृपा का प्रकाश होने पर उसकी सफलता के लिए देश, काल और धारणकर्ता की योग्यता आदि आवश्यक होते हैं। कृपाकर्ता जब अपूर्ण होता है तब इन सबकी अलग-अलग आवश्यकता होती है। इसीलिए भगवत्कृपा अहैतुक है इसे सिद्धान्तरूप मे ग्रहण कर माँ ने उसकी व्याख्या की है। उन्होंने जो नित्य सम्बन्ध की बात कही है वह स्वाभाविक होने से कर्म आदि के ऊपर निर्भर नहीं रहता। अद्वैतभाव के भीतर सभी भाव छिपे रहते हैं। सभी स्वभाव के अन्तर्गत हैं, हेतु का स्थान कहीं भी नहीं है। जीव की इच्छा के मूल में भी उसी महा इच्छा का खेल रहता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

महायान बौद्ध दार्शनिकों के मत में कृपा अथवा करुणा तीन प्रकार की है— सत्त्वावलम्बन, धर्मावलम्बन और निरवलम्बन। सब जीवों के दुःख के साक्षात्कार से जो करुणा का उफान उठता है वह सत्त्वावलम्बन करुणा कही जाती है। किन्तु ऐसी दृष्टि भी है जिस दृष्टि में जीवों के दुःख साक्षात्कार आवश्यक नहीं है, किन्तु जगत् की नश्वरता अथवा क्षणिकता के दर्शन से ही करुणा की बाढ़ आ जाती है। इसका नाम धर्मावलम्बन करुणा है। यह प्रथम प्रकार की करुणा से उत्कृष्ट है। किन्तु जिसकी दृष्टि अत्यन्त निर्मल है, उसकी करुणा जीवों का दुःख देख कर नहीं होती, जगत् की नश्वरता देख कर भी नहीं होती है। उस करुणा का कोई अवलम्बन नहीं है, वह निरालम्ब अथवा निरुपाधिक करुणा है अर्थात् उसका नामान्तर स्वाभाविक करुणा है। वह स्वतन्त्र और निरपेक्ष है। वह किसी की अपेक्षा नहीं करती। जब निरालम्ब पद प्राप्त हो जाता है तब प्रज्ञा निरालम्ब हो कर प्रज्ञापारमिता के रूप में बदल जाती है एवं कृपा भी निरालम्ब हो कर महाकृपा का रूप धारण कर लेती है। तब शून्यता तथा करुणा अभिन्न हो जाती है। इसी के लिए प्रमाणवार्तिककार ने कहा है—

निरालम्बपदे प्रज्ञा निरालम्बा महाकृपा।
एकीभूता धिया सार्धं गगने गगनं यथा॥

हमने जिस अहैतुक कृपा का विवेचन किया है यही वह अहैतुक कृपा है।

२—जीव का कर्तृत्व-बोध और उसका दायित्व

माँ कहती हैं, जीव ने जो कुछ पाया है सबका सब उस परम स्थान से ही

पाया है। जो कर्तृत्वबोध (मैं कर्ता हूँ इस आकार का ज्ञान) अथवा कुछ थोड़ी सी स्वाधीनता रहने से जगत् में उसकी एक विशिष्टता है, उसे भी उसने उसी मूलस्थान से पाया है। वस्तुतः जीव स्वयं भी उसी स्थान से आया है। किन्तु प्रश्न उठ सकता है कि इसका उद्देश्य क्या है ? जीव की शक्ति, जीव का स्वरूप सभी इस रूप से देखा जाए तो आगन्तुक प्रतीत होता है। किन्तु माँ कहती हैं, इसका एक गम्भीर उद्देश्य है। वस्तुतः वह मूल स्थानभूत जीव अपने में ही आसीन है। किन्तु जीव जिस समय इस मूल स्थान में था तब जीव अपने को स्वयं पहिचानता न था। वह भगवान् में ही अभिन्न रूप से था, किन्तु वह बोध उसको न था। क्योंकि एक मोटे पर्दे से वह बोध ढँका था। आश्चर्य है कि उस पर्दे का ज्ञान भी उसको न था। इसीलिए भगवान् ने उसे एक पृथक्बोध देकर अपने से पृथक् करके उसे बाहर हटा दिया। इस पृथक् बोध के साथ एक स्वाधीन इच्छा और कर्तृत्वाभिमान भी भगवान् ने उसे दिया। जीव का कर्तव्य है कि इस कर्तृत्व को भगवान् की ओर लगावे, उनको पाने के कार्य में उसका विनियोग करे। तभी उसकी सार्थकता है। तब उनको पाने के साथ-साथ अपने को पाया जायगा। सब अभाव (आवश्यकता) दूर हो जायेंगे। किन्तु वह न करके यदि उस भाव का दूसरे रूप में विनियोग किया जाए अर्थात् वे दूर हैं, उनको पाना मुश्किल है, ऐसी भावना का अवलम्बन किया जाए तो यह भगवान् की दी हुई स्वाधीनता शक्ति का दुरुपयोग करना ठहरा। इस प्रकार माँ ने कर्म क्या है और अकर्म क्या है यह समझाया है। उनको पाने अर्थात् अपने को पाने पर कर्म नहीं रहता, अकर्म भी नहीं रहता। किन्तु यदि वे मिले न हों तो अपनी सारी शक्ति उनको पाने के लिए लगा दी जाय तथा विश्वास रखा जाय कि वे तनिक भी दूर नहीं हैं और वे अवश्य ही मिलेंगे। ऐसी स्थिति में जीव का कर्तृत्वाभिमान सफल होता है। तब जीव कृतकृत्य हो जाता है।

३–चाहना और पाना समान सूत्र

गीता में भगवान् ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

इसका तात्पर्य यह है कि जो उन्हें जिस भाव से चाहता है उस पर वे उसी भाव से अनुग्रह करते हैं। माँ भी यही कहती हैं—जहाँ भगवान् हैं यों ईश्वर का अस्तित्व मान लिया, वहाँ दया, कृपा, करुणा, प्रार्थना सभी जिस-जिस रूप

में तुम स्थित होओगे उस उस आकार में प्रकट होंगी। भगवान् सर्वातीत होकर भी सर्वमय हैं। वे आप्तकाम हैं। वे पूर्ण हैं। उन्हें किसी बात की कमी नहीं है। किन्तु जीव अपूर्ण, सीमा से आबद्ध और कामना के अधीन है। किन्तु वह यदि भावना के सूत्र से ईश्वर के साथ सम्पर्क स्थापित करता है तो ईश्वर इस सम्पर्क-भावना से स्वभावतः इच्छाविहीन होने पर भी जीव की इच्छा के अनुसार इच्छामय रूप में प्रकट होते हैं। इसके प्रभाव से जीव का अभाव दूर हो जाता है तथा उसकी इच्छा पूर्ण हो जाती है। इसीलिए कहा जाता है—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

इसीलिए सर्वत्र उन्हीं के आविर्भाव का विचार रखने के लिए माँ कहती हैं। विचार और भावना एक ही वस्तु है। सब पदार्थों में उनके प्रकट होने की भावना की जा सके तो सर्वत्र ही उनके आविर्भाव का स्फुरण हो जाता है, आवरण हट जाता है। उस समय जीव की इच्छा ही उनकी इच्छा के रूप में अभिव्यक्त हो उठती है। इसी का नाम करुणा है।

४—जितना भाव हो उतना लाभ होता है

बहुत से लोग भ्रान्तिवश यह सोचते हैं कि देवी-देवताओं में तारतम्य है। जब तक भ्रम नहीं छूटता तब तक अपने-अपने पूर्वजन्म के संस्कार और प्रकृति के अनुसार रुचि के भेद से यह भेदज्ञान विद्यमान रहता है। यह जीव की भेद-भावना का फल है। किन्तु वास्तव में एक के सिवा दूसरा नहीं है। सर्वत्र एक को देखने का ही अभ्यास करना उचित है। इसलिए उपास्य अथवा इष्ट में कल्पित उत्कर्ष के ऊपर अपनी साधना की उन्नति निर्भर नहीं रहती। उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का तुलना-मूलक विचार न करना ही अच्छा है। जिसका इष्ट किसी भी मूर्ति का क्यों न हो उसके भाव और साधना के उत्कर्ष के परिमाण से उसी मूर्ति में उसका स्फुरण हो जाता है। समय आने पर ऐसी अवस्था का उदय होता है कि उस एक मूर्ति में ही भगवान् के विश्वरूप का आविर्भाव हो जाता है। यह मूर्ति के उत्कर्ष से नहीं होता किन्तु साधक की भावना के उत्कर्ष से होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

५—विराट् शरीर

भागवत में, गीता में तथा अन्याय शास्त्रों में भगवान् के विराट् शरीर के प्रसंग का वर्णन आया है। जगत् की सभी वस्तुएँ उस शरीर के अंग-प्रत्यंग हैं।

तीनों काल और सम्पूर्ण देश उस शरीर में समाए हुए हैं। यह अर्थात् भगवान् का यह विराट् शरीर लौकिक दृष्टि से दिखाई नहीं देता। यह एकमात्र दिव्य चक्षु से ही गृहीत होता है। इस दिव्य चक्षु को मनुष्य अपने साधन-बल से भी पा सकता है। तब यह होता है उसका स्वोपार्जित ऐश्वर्य और एकमात्र भगवान् की कृपा के प्रभाव से भी वह अनुभव में आ सकता है। चाहे जिस किसी तरह से हो, दिव्य दृष्टि का उन्मेष होने पर ही दिव्य दृष्टि खुलती है। उसी समय साधक की दृष्टि में कालगत अथवा देशगत जगत् की कोई भी वस्तु छिपी नहीं रह सकती। यह विराट् शरीर का दर्शन प्रत्येक साधक के जीवन में कभी न कभी अवश्य ही होता है। यदि वह न हो तो साधक का विश्व से विश्वातीत में जाना सम्भव नहीं है। मार्ग में प्रक्रिया-भेद हो सकता है, किन्तु जब आवरण हट जाता है, तब एक अखण्ड सत्ता का ही प्रकाश होता है। तब भेद नहीं रह सकता, अथवा जो रहता है वह अद्वय परमतत्त्व के ही आभासरूप से परिगणनीय है। माँ ने कहा है, 'एक समय इसे आना ही होगा।' बुद्धदेव को सम्यक् संबोधि के पहले इस प्रकार का दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ था। उस समय का वर्णन करते हुए कविवर अश्वघोष ने कहा है 'ददर्श निखिलं लोकम् आदर्श इव निर्मलम्।' अर्थात् निर्मल दर्पण में जिस तरह बाह्य दृश्य प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही इस महाज्ञान में समग्र विश्व एक ही साथ फूट उठता है। इतना अनुभव जब तक न हो तब तक विश्व की अतीत सत्ता में प्रवेश नहीं किया जा सकता।

६—अन्तहीन, संख्याहीन तथा अन्त और संख्या

सुनने में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने पर भी यह सत्य है कि जो अन्तहीन है वही अन्त है तथा जो संख्याहीन है वही संख्या है। अर्थात् महाशक्ति के राज्य में अनन्त और अन्त एकार्थ के वाचक हैं। अनन्त कहने से प्रतीत होता है कि गति का अन्त नहीं; समाप्ति नहीं, अन्त कहने से ज्ञात होता है वही यथार्थ अन्तस्वरूप। इसका तात्पर्य यह है कि विक्षिप्त चित्त जब विक्षेप को हटाकर एकधर्मग्राही के रूप में भासमान होता है, तब सर्वदा एवं सर्वत्र ही उसे एक ही धर्म का ग्रहण होता है। उस समय देखने में आता है कि वह एक ही वस्तु क्रमशः अनन्त रूप में प्रस्फुटित हो रही है। अतएव विक्षिप्तता के अभाव से एक ओर जो अन्त है दूसरी ओर शक्ति के प्रभाव से वही अनन्त रूप है। इसलिए अनन्त सत्य जैसे है, अन्त भी वैसे ही सत्य है; वैसे ही संख्याहीन जैसे सत्य है, संख्या भी वैसे ही सत्य है।

७–सुकौशल

गीता में भगवान् ने कर्म के सुकौशल को ही योग कहा है—"योगः कर्म सुकौशलम् ।" माँ कहती हैं—मनुष्य की विचारधारा साधारणतः बहिर्मुख होती है इसलिये उसे जगत् का भान होता है, किन्तु यदि वह धारा अन्तर्मुख हो जाए तो सर्वत्र उस एक का ही प्रकाश दिखाई देता है। धारा को अन्तर्मुख बनाना ही माँ के द्वारा वर्णित सुकौशल है। अर्थात् दृश्य जब जिस किसी आकार में ही प्रकाशित क्यों न हो वह उसी एक का ही प्रकाश है, यह ध्यान में रखना चाहिए। पहले पहल इसे भावना के द्वारा सम्पन्न करना होगा। तत्पश्चात् वह अपने आप ही अभिव्यक्त होगा। यद्यपि भगवान् सदा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं, तथापि इस कौशल के अभाव में उनका आवरण हटता नहीं एवं वे अनुगत भक्त के निकट प्रकाशित नहीं हो सकते। जीव जब तक थोड़ा बहुत पुरुषार्थ न करे तब तक यह आवरण हट नहीं सकता। सर्वत्र अर्थात् प्रत्येक दृश्य की पृष्ठभूमि में तथा सर्वदा प्रत्येक घटना के मध्य में एकमात्र उसी महाप्रकाश को ही देखने की चेष्टा करनी चाहिए। इसी को उत्तम कौशल कहते हैं।

८–"नहीं है" और "है" एक के ही रूप हैं

जगत् परिवर्तनशील है। जगत् के अन्तर्गत कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। यह निरन्तर बदल रहा है। इससे जो "है" वह "नहीं" हो जा रहा है। क्योंकि अनागत (भविष्यत्) से काल का प्रवाह आगत हो (चल) कर वर्तमान को अतीत के उदर में लीन कर दे रहा है। किन्तु अतीत होने पर भी उसे "नहीं है" नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी तो है। वह अव्यक्त रूप से स्थित है। "नहीं" के रूप में वर्णन करने पर भी वह सृष्टि की एक दिशा का ही वर्णन करना है। इसलिए अखण्ड राज्य में उसका भी एक निर्दिष्ट स्थान है। उसी प्रकार जिसका चिन्मय राज्य के रूप में वर्णन किया जाता है उसमें सभी वस्तुएँ नित्य वर्तमान हैं। कोई भी वस्तु बदलने वाली नहीं है, पर अनन्त क्षणिक प्रकाश में वह महाप्रकाश अभिन्न रूप से प्रकाशित होता है। इसका भी एक स्तर है। पूर्ण में "नहीं" और "है" दोनों का ही समान स्थान है। पूर्ण "नहीं" और "है" दोनों से परे होकर भी उदयरूप है। वस्तुतः इस वर्णन से भी पूर्ण का सच्चा परिचय नहीं दिया जा सकता। इसी से माँ ने कहा है "एक जगह में "नहीं" और "है" दोनों एक साथ "नहीं भी" नहीं और "है भी नहीं"—यह कह

कर माँ ने यह इंगित किया है कि भाषा के राज्य का पार कर आगे बढ़े बिना पूर्ण सत्य का ठीक-ठीक परिचय हृदयंगम नहीं किया जा सकता।

९–महाशून्य

हम लोगों को साधारणतः शून्य शब्द से निराकार का बोध होता है, अर्थात् आकारशून्य कहने से हम लोगों की आकार-रहित किसी एक अवस्था पर दृष्टि जाती है। किन्तु आकारशून्य शब्द का वास्तविक तात्पर्य यह है कि आकार भी शून्य अर्थात् आकार को हटा कर शून्य का लाभ करना उसका तात्पर्य नहीं है। किन्तु आकार रहते हुए ही उस में ही निराकार को लक्ष्य कर निराकार का ग्रहण करना है। यह अत्यन्त कठिन काम है। आकार के न रहने पर उस अतीत आकार का ध्यान कर निराकार का चिन्तन यथार्थ शून्यचिन्तन नहीं है। वह स्पष्टरूप से आकारचिन्तन न होने पर भी प्रकारान्तर से आकार का ही चिन्तन है। क्योंकि जो आकार को नहीं जानता वह इस प्रकार के आकारहीन अथवा शून्य को जान नहीं सकता। मनुष्य का मन जब तक प्रकृति-राज्य में विचरण करता है तब तक वास्तविक शून्य को पहचानना उसके लिए बहुत कठिन है। माँ ने इस शून्य को प्राकृतिक रूप ही कहा है। इस प्राकृतिक शून्य के पार गये बिना महाशून्य में प्रवेश पाना सम्भव नहीं है। महाशून्य ही वास्तव में अरूप है, प्राकृतिक शून्य केवल संस्कारात्मक रूप है।

१०–बोध देवरूप में प्रकट होता है

साधना-क्षेत्र में अग्रसर होते होते क्रमशः ऐसी एक अवस्था प्राप्त होती है जिसमें बोध का रूपान्तर हो जाता है। साधारण मनुष्य सर्वदा जिस बोध से युक्त रहता है, वह उस समय दूसरा रूप धारण कर लेता है। पहले के बोध ने उसके शरीर, मन और इन्द्रियों की जगत् के रूप में भावना कर उन्हें बद्ध कर रखा था, किन्तु जब अपने कर्तृत्वाभिमान के हट जाने के बाद एक अनन्त महाशक्ति का स्वातन्त्र्य प्रत्यक्षरूप से अनुभूत होता है तब उसका सम्पूर्ण बोध विश्वबोध का अंग मालूम पड़ता है। उसका खण्डभाव चला जाता है एवं सबके साथ सम्बन्ध होने पर वह अपने को भी सभी का एक अंग समझ सकता है। यह बोध खण्ड जीवबोध नहीं है, यह अखण्ड विश्वबोध की ही एक तरंग या भंगी मात्र है। इसी को माँ ने कहा है—"बोधदेव।" यह बोध ही देवतारूप है—यह चित्शक्ति का ही एक उल्लासमात्र है। आगमशास्त्र में कहा है कि उच्चाधिकार-सम्पन्न साधक को बाहर किसी आचार्य से चैतन्यमय ज्ञान प्राप्त न होने पर भी उसका स्वाभा-

विक ज्ञान चैतन्यरूप में परिणत होकर उसे दीक्षित कर सकता है। इस अवस्था में उसको सब इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होकर उसके आत्मस्वरूप में मिल कर चिन्मयता को प्राप्त हो जाती हैं। तब ये इन्द्रियशक्तियाँ संवित् देवी के रूप में गिनी जाती है। ये सब देवियाँ अपने स्वरूप चैतन्य द्वारा उसे प्लावित कर उसे अभिषिक्त कर देती हैं। माँ जिसको बोधदेव के रूप में प्रकट करती हैं वह बहुत कुछ अंशों में इसी के अनुरूप है। इस अवस्था में रूप और अरूप का ज्ञान असंख्य प्रकारों से निज वोध-रूप में प्रकाशमान होता है।

११—ऋषिपथ का स्फुरण

जो कोई जिस किसी रास्ते को पकड़कर ही क्यों न चले, यही रास्ता मेरा अपना रास्ता है या नहीं यह बात पहले वह समझ नहीं सकता, किन्तु तो भी उस रास्ते पर चलना उसका निष्फल नहीं जाता। चलते-चलते किसी समय उसका अपना रास्ता खुल जाने की संभावना होती है। किसी मनुष्य का अपने संस्कारों के साथ पूरा परिचय नहीं रहता। इसलिए वह जिस किसी रास्ते पर ही क्यों न चले, चलते-चलते उसका अपना संस्कार जाग उठे तो उसका रास्ता प्रकाशित हो जाता है। तब वह रास्ता उसे आकर्षण कर खींच ले जाता है। उसे व्यर्थ का परिश्रम करना नहीं पड़ता। इसलिए वेदान्त की धारा में साधन जीवन आरम्भ करके भी वह धारा ऋषि धारा में परिणत हो जा सकती है। इसी प्रकार सभी दिशाओं में समझना चाहिए। इस प्रकार के पथ का स्फुरण होने पर ही स्वभाव के स्रोत में अग्रसर होना सम्भव होता है। इसलिए सर्वत्र माँ का मुख्य उपदेश यह है कि जो जिस जगह रहे किसी एक रास्ते को पकड़ कर चलता रहे—चलते-चलते ही वह कभी न कभी अपना रास्ता पा जाएगा।

१२—सम्प्रदाय का रहस्य

सम्प्रदाय का अर्थ है सम्यक् प्रदान अर्थात् जहाँ भगवान् अपने को आत्मीयों के मध्य प्रदान कर रहे हैं। अर्थात् जो दे रहे हैं और जो ले रहे हैं मूल में दोनों ही एक है। पर दाता की ओर से अभेद और ग्रहणकर्ता की ओर से भेद, दोनों ही एक साथ सत्य है, इसलिए इस सम्प्रदान व्यापार में भेद और अभेद दोनों संबंध रह जाते हैं। क्योंकि दोनों ही तो सत्य हैं। फिर ऐसी भी एक दिशा है, जहाँ भेदाभेद का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए माँ ने कहा है, वहाँ किसी रूप, गुण, भाव, अभाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

१३–अनन्तस्थिति–मूल एक

मनुष्यों की बुद्धि और संस्कारों के भेद से दृष्टि जैसे भिन्न-भिन्न होती है वैसे ही साधनापथ की स्थिति भी भिन्न है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि दार्शनिक वाद नाना प्रकार के हैं। ठीक उसी तरह सृष्टिप्रकरण में भी आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद, आभासवाद आदि भाँति-भाँति के दृष्टिभेद हैं। मूल में शून्य है अथवा मूल में पूर्ण है दोनों तरह की दृष्टियाँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं। इनमें से किसी को भी असत्य कहना नहीं बनता एवं किसी को एकमात्र सत्य भी कहना सम्भव नहीं है। जिस भूमि में एक से एक बढ़कर सिद्धान्त आविर्भूत होते हैं वह सर्वांश में आवरणशून्य भूमि नहीं है। क्योंकि दृष्टि में आवरण रहने से ही सब लोग सब वस्तुओं को देख नहीं पाते एवं सब दृश्य सबको रुचिकर भी नहीं होते। आवरण का पर्दा पूर्ण रूप से हट जाने पर सीमित दर्शन नहीं रहता। तब आवरणमुक्त दृष्टि के सामने सत्य के अनन्त रूप खुल जाते हैं। जिस आलोक से इस महा सत्य के द्वार का उद्घाटन होता है वही उस अखण्ड प्रकाश का आलोक है। तब अनुभव में आता है, "वे स्वयं सब रूपों में, अरूप में तथा नाना प्रकारों में प्रकाशित हैं।" यद्यपि हर-एक सम्प्रदाय ने अपने-अपने लक्ष्य का निर्देश किया है एवं उक्त लक्ष्य परस्पर भिन्न ही प्रतीत होते हैं, तथापि यह सच है कि लक्ष्य पर पहुँचने पर आगे की अखण्ड अवस्था अपने आप ही खुल जाती है। उसके लिए फिर अलग प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। जब तक विरोध रहे तब तक समझना होगा कि वह स्थिति की भूमि नहीं है। महाप्रकाश से विरोध हट जाने पर तुरन्त ही यथार्थ स्थिति का पता लग जाता है। क्योंकि विरोध-रहित स्थिति ही वास्तविक स्थिति है—वही विरोधहीन परिपूर्ण प्रकाश है। विरोध अपूर्णता का लक्षण है, पूर्णता की अभिव्यक्ति होने पर विरोध रहेगा कैसे ? रास्ते पर चलते समय इष्ट पर निष्ठा अवश्य रहनी चाहिए, किन्तु रास्ते का अन्त होने पर सब जगह अपने इष्ट का स्फुरण होता है तथा अपने इष्ट में सब सत्ताओं का दर्शन होता है। इसीलिए उस समय विरोध नहीं रह सकता।



अठारह

१—समाधि या चमत्कार

समाधि अवस्था में किसी तरह के चमत्कार की अनुभूति हो सकती है या नहीं एवं यदि कभी इस तरह की अनुभूति हो तो समाधि-अवस्था से स्खलन हुआ यह कहा जा सकता है अथवा नहीं ? ऐसी शंका किन्हीं किन्हीं के मन में उठती है। ऐसी शंका होना स्वाभाविक है, किन्तु स्वाभाविक होने पर भी यदि समाधि के स्वरूप का स्पष्ट बोध रहे तो उसका समाधान भी स्वाभाविक रूप से ही हो जाता है। माँ यद्यपि शास्त्रीय परिभाषा का अवलम्बन कर तत्त्व-व्याख्या नहीं करती हैं, तथापि उनकी व्याख्या और सिद्धान्त शास्त्रविरुद्ध तो होते ही नहीं, बल्कि कभी-कभी ऐसा व्यापक रूप धारण करते हैं जो साधारणतः शास्त्रों में भी खोजने पर नहीं मिलता। माँ 'समाधि' शब्द का जो अर्थ करती हैं, वह शास्त्र में प्रकारान्तर से बार-बार आया है। माँ कहती है, समाधि माने समाधान अर्थात् समाप्त हो जाना। जैसे प्रश्न उठता है, फिर उस प्रश्न की मीमांसा होने पर उसका समाधान हो जाता है। वैसे ही यह जो अनन्त विश्व अनन्त विचित्रताओं के रूप में स्फुरित हो रहा है, इन विचित्रताओं के हटने पर समस्त विश्व एक परम सत्ता में समाहित हो जाता है, ऐसी एक अवस्था है। वैचित्र्य के तिरोहित होने पर जब एकत्व का स्पष्टतः भान होता है, अर्थात् भागवत नानात्व जब एक महान् भाव में अपना आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह एक महाभाव ही परिपूर्ण हो कर चैतन्य से विराजमान होता है।

मन की बहुमुखी वृत्ति-विषय-भेद के अनुसार वृत्ति-भेद होता है, किन्तु जब एक ही विषय अवलम्बन रूप में स्थित रहता है और जगत् के सम्पूर्ण विषय उस एक विषय में लीन हो कर उस एक को ही पूर्णरूप से पुष्ट करते हैं, तब ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में वह एक ही सत्ता भासित होती रहती है। उसमें सम्पूर्ण खण्ड-सत्ताएँ विलीन हो कर उस एक सत्ता की ही पुष्टि या विकास करती हैं। वह एक सत्ता कौन है ? इसके विचार की कोई आवश्यकता नहीं। अपनी इच्छा

के अनुसार चाहे किसी भी सत्ता का ग्रहण क्यों न किया जाए, वृत्ति की विक्षिप्तता हट जाने पर वह एक सत्ता ही महा सत्ता का रूप धारण कर लेती है। तब उसके बाहर और कोई सत्ता रह नहीं सकती। यह समाधान ही समाधि है। किन्तु यह समाधान समाधान होने पर भी वास्तविक समाधान नहीं है। क्योंकि एक तो है, नानात्व न रहने पर भी उस एक में ही नानात्व भी विलीन है। जो एकसत्ता विद्यमान है, वही पूर्ण सत्ता है। यह समाधान है इसमें कुछ सन्देह नहीं है, किन्तु यह समाधान जब तक एकसत्ता को भी तिरोहित नहीं कर सकेगा, तब तक पूर्ण समाधान नहीं कहा जा सकता।

मैं पहले ही कह आया हूँ कि चित्त की वृत्ति विषयों के अनुसार विभक्त होती है। विषय एक होने पर वृत्ति एक हुए बिना नहीं रह सकती। प्रारम्भिक अवस्था में विक्षेप का संस्कार रहने के कारण इस एकत्व के साथ-साथ संस्कारवश नानात्व का भान भी जाग उठता है। वह एकाग्रता के अंगरूप में विद्यमान रहता है। एकाग्रता के साथ उसका कुछ विरोध नहीं है। किन्तु उसके रहने तक एकाग्रता पूर्ण नहीं हो सकती। क्रमशः जब अभ्यास परिपक्व होता है तब विक्षेप का आविर्भाव होना बन्द हो जाता है, एवं एकाग्रभाव एकीभूत प्रज्ञा के रूप में अपने को प्रकट करता है। यह प्रज्ञा वास्तव में चित्त का ही स्वरूप है। चित्तही विषय की सन्निधिवश वृत्तिरूप में परिणत होता है एवं वह वृत्ति एक ही ओर प्रवाहित हो कर एकाग्रता के रूप में आविर्भूत होती है। चित्त में आलम्बन अथवा विषय प्रकाशित होता है—अर्थात् उस एक आलम्बन को धारण कर चित्त अपने उज्ज्वल आलोक से प्रकाशित होता है इसलिए नानात्व के हट जाने पर भी यह जो एक-सत्ता-रूप प्रज्ञा का प्रकाश है वह वास्तव में चित्त ही है। इसके बाद की अवस्था में एकाग्र वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। उस समय चित्त फिर वृत्ति के रूप में नहीं रहता, केवल संस्कार के रूप में रहता है। उस अवस्था में प्रज्ञा अस्त हो जाती है। यह ज्ञान की अतीत अवस्था है। ज्ञान के होने के बाद तथा ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होने के बाद ज्ञानगत विषय का जो स्पष्ट रूप से प्रकाश होता है, वही समाधि की प्रारम्भिक अवस्था है। माँ ने स्पष्ट ही कहा है। "एक है विश्व ब्रह्माण्ड का एक सत्ता में परिणत होना और दूसरी में 'सत्ता' की भी बात नहीं है।" यह जो एकसत्ता के रूप में प्रकाश है वही शास्त्र में वर्णित 'सम्प्रज्ञात समाधि' है। अथवा किसी मत में सविकल्प समाधि है। इस अवस्था में मन या चित्त अवस्थित रहता है, क्योंकि यह एकसत्ता वास्तव में चित्त की ही सत्ता

है। उस समय सम्पूर्ण विश्व एक अद्वितीय चित्त के रूप में परिणत हो जाता है। एवं यह विश्व की प्रज्ञा के रूप में प्रकट हुआ है। कारण विषय की सन्निधि से चित्त द्रवीभूत हो कर अथवा विगलित हो कर विषय का आकार ग्रहण करता है। इसलिए चित्त का आकार चाहे जो भी क्यों न हो, वह प्रज्ञा के रूप में परिणत होता है एवं विश्व के अनन्त आकार उस प्रज्ञा के आलोक में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् समाधान को प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड एकसत्ता में परिणत होता है। यही आपेक्षिक समाधान है। पूर्ण समाधान के लिए उस एक आत्मा का भी समाधान होना आवश्यक है। वह एक-सत्ता चित्त है, इसलिए वह समाधान चित्त की सम्यक् निवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात् चित्त की निरोधावस्था। चित्त अथवा मन नाम की वस्तु उस समय बिलकुल नहीं रहती। साधारणतः लोग जिसे उन्मनीभाव कहते हैं, वह यही है। विश्व तो रहता ही नहीं, जिस प्रकाश से विश्व प्रकाशित होता है वह प्रकाश भी नहीं रहता। केवल वह नहीं रहता सो बात नहीं है, उसके रहने का संस्कार भी नहीं रहता। इसी का नाम "सर्वसमाधान" है। इस अवस्था का उदय होने पर ज्ञात होता है कि इस स्थिति में देह के रहने न रहने का कोई प्रश्न उठता ही नहीं। मन रहता है या नहीं रहता, इस प्रश्न का भी अवकाश नहीं रहता। किन्तु यह जो पूर्ण समाधान की चर्चा की गयी है, इसके बाद आनेवाली महा-स्थिति में किसी प्रकार के द्वन्द्व का प्रश्न न उठता है और न उठ ही सकता है।

चमत्कारों का दर्शन या चमत्कारों का आविर्भाव चित्त-सापेक्ष है। जो चमत्कार कहे जाते हैं वे एक प्रकार की चित्त की ही विभूति हैं और चित्त ही उनका दर्शन करता है इसलिए जहाँ पूर्ण समाधान है, वहाँ चमत्कार का कोई प्रश्न उठता ही नहीं। वहाँ चमत्कार है या नहीं है, इस कथन का कोई अर्थ ही नहीं है। किन्तु जहाँ पर आपेक्षिक समाधान होता है, वहाँ पर भी चमत्कार का कोई प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि आपेक्षिक समाधान भी तभी हो सकता है जब कि सब विचित्रताएँ एक में समाहित हो जाएँ। यदि चमत्कार प्रकाश में आये तो समझना होगा कि एकत्व का प्रकाश अपूर्ण है एवं विक्षेप के संस्कार से युक्त है। अतएव आपेक्षिक समाधान में भी चमत्कार का प्रश्न नहीं उठ सकता। यही है योगी अथवा ज्ञानी का स्वरूप की ओर दृष्टि का समन्वय। हाँ, वहिर्मुख दृष्टि को लेकर चमत्कारों की आलोचना करना दूसरी बात है। यहाँ यह विचार का विषय नहीं है।

जहाँ चमत्कार के दर्शन की बात उठती है वहाँ समाधान का अंगीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि समाधान में सम्पूर्ण विश्व की सत्ता एकसत्ता के रूप में परिणत हो जाती है, वहाँ चमत्कार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जब वह एक-सत्ता भी नहीं रहती तब की तो बात ही क्या है। चित्तक्षेत्र में पूर्वोक्त चमत्कारों का बीज न रहने पर चमत्कार-दर्शन नहीं होता। यह बीज ही वासना है, इसलिए आपेक्षिक समाधान से उदित हुई प्रज्ञा का उद्देश्य और फल यदि वासना-विनाश है तो ऐसी स्थिति में चमत्कार की बात ही कहाँ ? चित्त की बहिर्मुख अवस्था में चमत्कार और अन्तर्मुख अवस्था में समाधान यानी प्रारम्भिक समाधान होता है। और जब अन्तर्मुख या बहिर्मुख कोई अवस्था ही नहीं रहती, जब भीतर-बाहर एक समान हो जाता है। तब पूर्ण समाधान होता है। उस समय एक भी नहीं रहता और नाना भी नहीं, अथवा एक भी है और नाना भी, किन्तु है अभिन्नरूप से।

चमत्कार-दर्शन विभूति-प्रादुर्भाव का ही नामान्तर है। विभूति मिथ्या नहीं है, क्योंकि उसका भी एक स्थान है, किन्तु वह जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। चरम लक्ष्य तो नहीं ही है, आदि लक्ष्य भी नहीं है। भगवान् पतंजलि ने योग-दर्शन में साफ ही कहा है, विभूतियाँ व्युत्थित चित्त के लिए सिद्धियाँ मानी जाती हैं, किन्तु निरोध के लिए वे विघ्न हैं। योग का लक्ष्य कैवल्य है, न कि विभूति। विभूतियों से पार न हो सकने पर कैवल्य के मार्ग में आगे बढ़ा नहीं जा सकता। पर यह बात सत्य है कि विभूतियों की भी किस्में हैं। इसीलिए शंकराचार्य ने दश-श्लोकी में तथा उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने उसके वार्तिक में सर्वात्मक के रूप में महाविभूतियों का उल्लेख किया है, वे हेय नहीं हैं। कारण, पुरुष और परमेश्वर की एक ही सत्ता है। माया और महामाया के संस्पर्श से छुटकारा पाकर अपना शिवत्व स्वरूप प्राप्त कर सकने पर इस महाविभूति का प्रकाश होता है। इसके लिए किसी प्रकार का यत्न नहीं करना पड़ता, एवं संयम आदि करने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। यह आत्मा की अकृत्रिम, स्वयंसिद्ध विभूति है। आत्मा के स्वरूप का आवरण हट जाने पर वह अपने आप ही प्रकट हो जाती है। यह विभूति वस्तुतः स्वयंप्रकाश और आत्मस्वरूप से अभिन्न है। यही पूर्ण स्वातन्त्र्य या महाशक्ति है। यह कृत्रिम नहीं है अथवा आगन्तुक भी नहीं है। यह आत्मा की सहजरूपी अपनी शक्ति है। इसके सामने अणिमा आदि सिद्धियाँ समुद्र के सामने बिन्दु के समान अत्यन्त तुच्छ हैं। यह विभूति अथवा स्वभाव कैवल्य का

अन्तराय नहीं है। किन्तु चित्त की शुद्धि से सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने के कारण जो विभूतियाँ प्रकाश में आती हैं, जो अप्राकृत शुद्ध सत्त्व अथवा ईश्वरीय रूपादि का स्फुरण नहीं हैं, वे ही विभूतियाँ कैवल्य की अन्तराय हैं। साधारण साधक के लिए उन्हीं आगन्तुक विभूतियों को ही शास्त्रों में कैवल्य की विरोधिनी कहा गया है। योगी लोग साधारणतः योगभूमि को चार भागों में विभक्त करते हैं, उनमें पहली है—प्रथम कल्पिक। इस भूमि में समाधि से उत्पन्न प्रज्ञारूप ज्योतिमात्र की प्रवृत्ति होती है। दूसरी भूमि का नाम मधुमती है। इस भूमि में साधक अथवा योगी की परीक्षा होती है। भाँति भाँति की अलौकिक प्रलोभन की वस्तुएँ उसके सामने उपस्थित होती हैं और उसे ललचाती हैं। उसी तरह कभी-कभी विभीषिका आदि का भी आविर्भाव होता है। इसके सिवा अहंकार और चित्त-स्फीति की भी यथेष्ट सम्भावना इस भूमि में रहती है। इसका कारण यह है कि प्रथम भूमि में जिस ज्योति का आविर्भाव होता है वह पूर्ण विशुद्ध नहीं है। यदि साधक साधना के बल से इस ज्योति को विशुद्ध कर सके तो अत्यन्त सरलता से ही मधुमती भूमि को पार करने में समर्थ होता है। ज्योति ही शक्ति है। विशुद्ध ज्योति कहने से विशुद्ध शक्ति का बोध होता है। इस शक्ति के उपार्जित और संशोधित होने के बाद इससे योगी के देह, इन्द्रिय आदि के सब उपादान संस्कृत हो जाते हैं। उस निर्मल शक्ति के प्रभाव से पंचभूत निर्मल हो जाते हैं। इन्द्रिय-करण आदि का समुदाय भी निर्मल हो जाता है। बहुत क्या, प्रकृति के जिन-जिन उपादानों से मनुष्य का शरीर और अन्तःकरण बना है वे सभी निर्मल ज्योति से शोधित हो जाते हैं। यही वास्तविक योगविभूति के उदय की अवस्था है। इस अवस्था में फिर परीक्षा की सम्भावना नहीं रहती। इसके बाद वे सब विभूतियाँ भी स्वरूप में लीन हो जाती हैं। कारण, जब तक विभूतियाँ अन्तर्लीन नहीं होतीं तब तक कैवल्य अथवा स्वरूप में स्थिति असम्भव है। इसलिए तृतीय भूमि का नाम भूतेन्द्रियजय है। चौथी भूमि अव्यक्त है। उसका योगी लोग "अतिक्रान्त भावनीय,' नाम से निर्देश करते हैं। वस्तुतः यह भावना के परे की अवस्था है। इसके बाद ही कैवल्य है। चमत्कार दर्शन का स्थान कहाँ है, यह बात इस संक्षिप्त विवरण से ज्ञात हो जायेगी।

२—शुद्ध ज्ञान और देहस्थिति

विषय बड़ा जटिल है। कुछ लोग मानते हैं कि तत्त्वज्ञान होने पर संचित कर्म उस ज्ञानाग्नि से जल जाते हैं। पर संचित के जिस अंश ने प्रारब्ध के रूप में

फल देना शुरू कर दिया है अर्थात् जन्म, आयु और भोग का हेतु बना है वह तत्त्वज्ञान से नष्ट नहीं होता। उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान, तीव्र होने पर संचित के तुल्य प्रारब्ध कर्मफल को भी नष्ट कर सकता है। अज्ञान की आवरण शक्ति ज्ञान की मृदु (प्रारम्भिक) अवस्था में ही नष्ट हो जाती है, किन्तु अज्ञान की विक्षेप शक्ति नष्ट करने के लिए अत्यन्त तीव्र ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसलिए तीव्र ज्ञान उदित होने पर प्रारब्ध भी उसका बाधक नहीं हो सकता। प्रारब्ध स्वयं ही उस ज्ञान के प्रभाव से निष्क्रिय हो जाता है। उस अवस्था में देहपात भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। वास्तविक बात तो यह है कि पूर्ण ज्ञानी की दृष्टि में देह की सत्ता और असत्ता का कोई प्रश्न ही वहाँ नहीं रहता। माँ ने भी ठीक वही कहा है। अवश्य ही, यहाँ इतना है कि ज्ञानी की दृष्टि में देह के रहने और न रहने का कोई पार्थक्य न रहने पर भी तटस्थ दृष्टि से उस अवस्था में दो प्रकार की स्थितियाँ हो सकती हैं। दोनों ही स्थितियों में अज्ञान का लेश नहीं रहता, यह मान लिया गया। विक्षेपशक्तिरूप अज्ञान उस समय नहीं रहता अर्थात् प्रारब्ध कर्म भी उस समय नहीं रहता यह ध्यान में रखना होगा। किन्तु इस साधारण भित्ति के ऊपर तटस्थ दृष्टि के अनुसार दो पृथक्-पृथक् स्थितियों की सम्भावना है। अवश्य ज्ञान की दृष्टि से कोई प्रश्न नहीं है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। इन दो स्थितियों में एक स्थिति तीव्र ज्ञान के साथ ही प्रारब्धमूलक देह का पतन एवं विदेह कैवल्य का उदय है। दूसरी स्थिति है देह का रूपान्तरित हो कर विद्यमान रहना। इसी का नाम शिवमय तनु है। यह चिन्मय स्वरूप है। इस प्रकार की देह प्रारब्ध कर्म से होने वाली देह से सर्वथा भिन्न है। इस स्थल में प्रारब्ध-जनित देह नहीं है किन्तु वह परिवर्तित होकर चित्शक्ति की पूर्ति के लिए नूतन चिन्मय देह है। इस देह में कर्माशय अथवा कर्मबीज नहीं रहता। यह विशुद्ध और निर्मल है। ध्यान से उत्पन्न निर्माणकाय में कर्माशय नहीं रहता, यह पतंजलि ने भी कहा है। यह देह उस स्थिति में उस ध्यान से उत्पन्न (ध्यानज) कर्मबीजहीन चिन्मय आकार के अनुरूप है।

देह का रहना, अर्थात् चिन्मय आकार से देह का रहना अथवा न रहना अर्थात् विदेह केवल्य का उदय होना—ये जो दो अवस्थाएँ हैं, इन दोनों अवस्थाओं का भी किसी तीव्र ज्ञानी को स्पर्श नहीं होता। क्योंकि उसे देह के रहने और न रहने के स्वरूप में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। इसलिए माँ ने बार बार कहा है कि

ज्ञान का उदय होने पर भी अविद्या का लेश रहता है, इसका भी एक स्थान है। और नहीं रहता इसका भी एक स्थान है। ये दोनों बातें सत्य हैं।

३–स्वरूपज्ञान और वृत्तिज्ञान

स्वरूपज्ञान और वृत्तिज्ञान में थोड़ा भेद है। वृत्तिज्ञान चित्त का एक प्रकार का परिणाम है अर्थात् वायु के आघात से जल जैसे तरंग के आकार में बदल जाता है, वैसे ही विषय की सन्निधि से चित्त वृत्ति के रूप में परिणत हो जाता है। यही वृत्तिज्ञान है। यह वस्तुतः चित्त का परिणाम है एवं विषय के आकार को लेकर ही साकार प्रतीत होता है। इसका अपना निजी कोई आकार नहीं है। इस वृत्तिज्ञान को स्वरूपज्ञान प्रकाशित करता है। स्वरूपज्ञान यदि न रहे तो वृत्तिज्ञान का उदय ही नहीं हो सकता। किन्तु वृत्तिज्ञान न रहने पर भी स्वरूपज्ञान रह सकता है। वस्तुतः चित्तवृत्ति का आत्यन्तिक निरोध होने पर ही स्वरूपात्मक ज्ञान प्रकट होता हैं। स्वरूपज्ञान स्वयंप्रकाश है। उसका प्रकाशक दूसरा ज्ञान नहों है। वह अपने प्रकाश से ही स्वयं प्रकाशित है। किन्तु वृत्तिज्ञान ऐसा नहीं है। वह स्वरूपज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होता है। वह स्वयंप्रकाश नहीं, परप्रकाश्य है। साधारणतः "ज्ञानी" "अज्ञानी" के विचार के मूल में वृत्तिज्ञान ही रहता है, किन्तु वास्तव में स्वरूपज्ञान के स्फुरण के बिना वास्तविक ज्ञानी होना सम्भव नहीं है। स्वरूपज्ञान और वृत्तिज्ञान के बीच में जो ज्ञान भासता है वह प्रकाश हो कर भी वस्तुतः विषयाकार है एवं विषयाकार हो कर भी स्वरूपतः प्रकाश से अभिन्न है।

४–शिष्य की गति कितनी दूर तक है

माँ कहती हैं, 'जहाँ उपदेष्टा स्थित है, वहीं तक शिष्य की गति है।' सत्य की दो ही दिशाएँ हैं–एक भावमय और सीमाबद्ध, दूसरी भावातीत और सब प्रकार की सीमाओं से विमुक्त। पिता-पुत्र-भाव, भाई-भाई-भाव, मैं-तुम भाव आदि के तुल्य गुरुशिष्य-भाव भी भाव के अन्तर्गत है। अनन्त प्रकार के भाव हैं। किन्तु भाव की सीमा के पार हो जाने पर वहाँ किसी प्रकार के भाव का स्पर्श नहीं रहता। शिष्य और गुरु दोनों ही सापेक्ष हैं। गुरुभाव शिष्यभाव के अधीन है और शिष्यभाव गुरुभाव के अधीन है। गुरु ज्ञान का उपदेष्टा है और शिष्य उस उपदिष्ट ज्ञान का ग्रहणकर्ता है। गुरु का उपदेश भावमूलक तभी हो सकता है जब गुरु-

शिष्य भाव को ध्यान में रखकर शिष्य के कल्याण की कामना से गुरु अपने भाव से शिष्य को उपदेश दें। इस उपदेश के मूल में एक प्रकार से यदि देखा जाय तो गुरु का अहंभाव रहता है। इस कारण इस उपदेश के मूल में शिष्य की ऊर्ध्व-गति (यदि कोई प्रतिबन्धक न रहे) इतनी दूर तक हो सकती है जितनी दूर जाने पर शिष्य गुरु के स्तर तक पहुँच सकता है। इससे सिद्ध है कि शिष्य की यह पहुँच या सिद्धि वस्तुतः आपेक्षिक है। क्योंकि गुरु की समताप्राप्ति ही उसकी साधना का चरम फल है। किन्तु ध्यान रहे कि यही उसका परम लक्ष्य नहीं है, क्योंकि परम लक्ष्य कभी-कभी भाव की सीमा के भीतर आबद्ध नहीं रह सकता। परम लक्ष्य वही है, जहाँ शिष्य जैसे शिष्य नहीं रहता वैसे ही गुरु भी गुरु नहीं रहते—दोनों ही खण्ड भावातीत सत्ता में अद्वयरूप से भासते हैं। प्रश्न उठ सकता है कि यदि यही सत्य है तो उस स्तर में क्या गुरु का उपदेश ग्रहण किया जा सकता है? भाव का अवलम्बन करके कभी क्या भाव का उल्लंघन करने की सामर्थ्य आ सकती है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका उत्तर यह है कि गुरु यदि अपने को गुरु मान कर उपदेश दे तो वह उपदेश शिष्य को गुरुभाव तक ही ले जा सकता है। किन्तु गुरु में यदि गुरुत्व का अभिमान न रहे अर्थात् गुरुभाव यदि भावातीत अखण्ड के साथ एक हो जाय, तो गुरु के मुँह से निर्गत वाणी अन्तर की ही वाणी समझनी चाहिए,—वह भावातीत की ही वाणी है, अखण्ड का आवाहन है यानी असीम की पुकार है। व्यक्तिविशेष या आधार-विशेष में प्रकटित होने पर भी उस व्यक्ति-विशेष में अभिमान न होने के कारण वह जीव का आकर्षण कर किसी भाव-विशेष से उसे बाँधती नहीं है, किन्तु मुक्त अनन्त आत्मस्वरूप में पहुँचा देती है। इसीलिए कहा जाता है, ऐसी एक स्थिति है जहाँ कोई शब्द पहुँचता नहीं है, ऐसा एक स्वरूप का प्रकाश है जहाँ मनुष्य की वर्णन की सब चेष्टाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। उस अखण्ड स्वप्रकाश सत्ता से स्वतःस्फुरित रूप में जो प्रेरणा आती है—वह शब्द के द्वारा ही हो अथवा शब्दातीत ज्ञानरूप से ही हो—यहाँ तक कि भाव के द्वारा भाव रूप में ही हो, वह मनुष्य को सीमा से बद्ध नहीं रखती। उसी से मनुष्य की सब भ्रान्तियों का छूट जाना सम्भव है। वास्तव में उस स्थिति में गुरु के प्रतिष्ठित होने पर गुरु फिर गुरु कहाँ? अर्थात् तभी वे वास्तविक गुरुपदवाच्य होते हैं। क्योंकि वह गुरुभाव नहीं है, भावातीत गुरु हैं। वस्तुतः उस स्थिति में एक के सिवा दूसरे का भान नहीं होता। इसलिए शिष्य का प्रश्न और गुरु का समाधान, इस भाषा का प्रयोग उस स्थिति में नहीं हो

सकता। उस अवस्था में जो वक्ता है वही श्रोता हो जाता है। वास्तव में वक्ता भी कोई नहीं है, श्रोता भी कोई नहीं है। वह एक ही स्वयं में स्वयं के आलोडन को स्फुट कर रहा है, पर मनुष्य की भाषा से इसका कोई निर्देश नहीं किया जा सकता। इस तत्त्व के हृदयंगम होने—समझ में आने—पर पूर्णावस्था में शरीर के रहने और न रहने का प्रसंग क्यों नहीं उठ सकता, यह समझ में आ जाएगा।

५–विचार और विचार के अतीत

विचार मन और बुद्धि का व्यापार है। मन-बुद्धि का अतिक्रमण कर ऊपर उठने पर विचार नहीं रहता। स्वभाव सत्य ही अपने प्रकाश से स्वयं प्रकाशित होता है। विचारातीत अवस्था में एक अखण्ड और अभिन्न सत्ता के सिवा और किसी का भी भान नहीं होता। विचार करने पर अनन्त भेद, अनन्त वैचित्र्य दिखाई देते हैं। किन्तु वह है कहाँ ? उपाधि के साथ सम्बन्ध होने पर मन बुद्धि के स्तर में उतर आता है। वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय है, दोनों का भेद है, एक ज्ञाता के साथ दूसरे ज्ञाता का परस्पर भेद है, प्रत्येक ज्ञेय की अपनी-अपनी विशिष्टता है, उसके सिवा देश, काल, गुण और क्रियागत अनन्त वैचित्र्य हैं, किन्तु इन सबके रहते भी सत्ता एक है। विचार न करने पर सहज भाव से देख सकने पर सब अवस्थाओं और सब कालों में वह एक सत्ता ही दिखाई देती है, दूसरा कुछ भी नहीं। विचार की दृष्टि से ही सृष्टि होती है। इसी का नाम दृष्टि-सृष्टि है। एक ही दृष्टि अनन्त दृष्टियों के रूप में अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न करती है, किन्तु विचार के अतीत स्वरूपसत्ता में कोई सृष्टि नहीं है। एक अखण्ड नित्य सत्ता अनन्त रूपों से विद्यमान रहती है। किन्तु वह सृष्टिरूप नहीं है, वही स्वरूप है। यह अनन्त वैचित्र्य एक ही स्वरूप का वैचित्र्य है वस्तुतः वैचित्र्य ही कहाँ है ? जब एक का दर्शन होता है तब सब वैचित्र्यों में एक ही सत्ता का स्वरूप प्रकट होता है। फलतः वह देश के अतीत, काल के अतीत तथा सब प्रकार के परिच्छेद और गुणों के अतीत है। वहाँ किसी भाषा की गति नहीं है। वह तत्त्व मन और वाणी दोनों का अगोचर है।



उन्नीस

१—आयु का परिमाण

आयु क्या है उसका परिमाण निर्दिष्ट रहता है अथवा किसी कारणवश उसकी ह्रास-वृद्धि हो सकती है ? यह प्रश्न है। योगशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार आयु विपाकोन्मुख कर्म के यानी प्रारब्ध कर्म के तीन विपाकों में से एक विपाक है। यह प्रायः सभी जानते हैं कि कर्म साधारणतः क्रियमाण और प्राक्तन भेद से दो श्रेणियों में विभक्त है। जो कर्म वर्तमान क्षण में अनुष्ठित होता है वही कर्म क्रियमाण कहलाता है। हाँ, इस कर्म की उत्पत्ति के मूल में अविवेक और तन्मूलक देहात्मक ज्ञान या अभिमान रहना आवश्यक है। यह वर्तमान कर्म या क्रियमाण कर्म उत्पन्न होने के बाद ही अपने अनुरूप एक संस्कार को चित्त में डालकर नष्ट हो जाता है। वह कर्म-संस्कार ही कर्माशय कहलाता है। वह चित्त में विद्यमान रहता है। एक के बाद एक किये जा रहे कर्मों के संस्कार क्रमबद्ध होकर चित्त में अंकित रहते हैं। अनादिकाल से इसी तरह कर्म-संस्कार संचित होते आ रहे हैं। ये समष्टिकर्म संचितकर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये संचितकर्म, अतीतकाल के साथ सम्बद्ध होने से, प्राक्तन कर्म भी कहे जाते हैं। इस प्रकार विचार करने पर प्राक्तन और वर्तमान ये दो प्रकार के कर्म ही स्वीकार किये जाते हैं। किन्तु यहाँ पर एक गूढ़ विषय की आलोचना करना आवश्यक है। वह यह कि यह जो संचित कर्मों की बात कही गयी है उनमें से सभी कर्म फल अवश्य प्रदान करेंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि किसी को अपरोक्ष ज्ञान हो जाए तो कोई बात ही नहीं। उस समय उसके सभी संचित कर्म सम्पूर्णतया जल जाएँगे। किन्तु अपरोक्ष ज्ञान न होने पर भी कोई कोई कर्म दूसरे विरोधी कर्म से नष्ट हो सकते हैं एवं नष्ट होते भी हैं। कोई कर्म अपने अंगीरूप मुख्य कर्म की अन्तर्गति को प्राप्त होता है अर्थात् उसके अन्तर्गत हो जाता है। वह अलग फल नहीं देता। किन्हीं कर्मों का फल अवश्य होने के कारण उनका विपाक अर्थात् क्रमिक परिणाम होता है। दूसरे कर्मों में किन्हीं किन्हीं कर्मों का विपाक अनियत होता है। उनका विपाक होगा या नहीं यह किसी समय निश्चित रूप

से नहीं कहा जा सकता। उत्कट कर्म का विपाक निश्चित और साधारणतः वर्तमान जन्म में ही अनुभूत होने वाला होता है। जिसे व्यावहारिक भाषा में हम लोग नियति कहते हैं वही उसका स्वरूप है। किन्तु मृदु कर्म का विपाक हो भी सकता है अथवा विरोधी शक्ति से रोके जाने पर विपाक नहीं भी हो सकता।

प्राक्तन कर्मों के ऊपर वर्तमान कर्मों का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान कर्मों की मात्रा की तीव्रता के अनुसार यह प्रभाव भी तीव्र अथवा मन्द हो सकता है। प्रतिनियत क्रमिकरूप से जो क्रियमाण कर्म का प्रभाव चलता है वह मृत्यु के समय समाप्त हो जाता है। जीव की अन्तिम साँस के साथ ही नये कर्मों की उत्पत्ति का मार्ग बन्द हो जाता है। मरणासन्न अवस्था में जो भाव चित्त में उदित होता है तथा उसके अनुसार जो कर्म उत्पन्न होता है वही अन्तिम कर्म है। क्योंकि उसके बाद फिर क्रियमाण कर्म नहीं हो सकता। इसी से उस कर्म की शक्ति अत्यधिक होती है। क्योंकि वह क्रियमाण दूसरे किसी कर्म से अवरुद्ध नहीं होता। यह कर्म उदित होकर अपनी शक्ति से प्राक्तन अर्थात् संचित कर्मों के भण्डार से अपने अनुरूप कर्म संस्कारों को खींचता है।

ये सब कर्मसंस्कार विपाकोन्मुख कर्म के संस्कार हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। अन्तिम कर्म को केन्द्र बना कर ये उसके अंग के रूप में मात्रा के तारतम्य के अनुसार सजते हैं। एवं सब मिल कर एक समष्टि कर्म के रूप में परिणत होते हैं। मृत्युकाल में स्वभाव के नियमानुसार जो अन्तर्मुखी गति पैदा होती है जिसे एकाग्रता कह सकते हैं एवं स्वाभाविक योग भी कह सकते हैं, उसके कारण वह कर्मसमष्टि घनीभूत होकर पिण्ड का आकार धारण करती है। इस पिण्डीभूत कर्म के केन्द्रस्थित रूप में ही मृत्युकाल के भाव का कर्मबीज रहता है। अन्य सब उसी के सजातीय तथा उसके साथ सम्बद्ध होते हैं। यह कर्मपिण्ड रचित होने पर ही जीव के देहत्याग का समय उपस्थित होता है। उस समय, अर्थात् उस सन्धिक्षण के विगत जीवन की विविध घटनाएँ बहुत अल्प काल में बायस्कोप की चित्रावली की तरह मुमूर्षु की अन्तर्मुख दृष्टि के सन्मुख होती हैं एवं भावी जन्म का एक साधारण खाका भी भासित हो उठता है। मृत्युकाल में जो ज्योति प्रकट होती है उसी में इन दोनों दृश्यों की अभिव्यक्ति होती है। यह जो कर्मपिण्ड की कथा कही गयी है इसी का नाम प्रारब्ध कर्म है। यह प्राक्तन कर्म के ही विपा-

कोन्मुख अंश के सिवा और कुछ नहीं है। अर्थात् प्राक्तन अनन्त कर्मराशि में से जितने कर्म अपना फल प्रदान करने के लिए उन्मुख हुए वे ही प्रारब्ध के अन्तर्गत हैं। प्रारब्ध का मुख्य फल सुख और दुःख का भोग है। परन्तु यदि भोगायतन शरीर प्राप्त न हो तो उक्त भोग नहीं हो सकता। इसलिए भोग-शरीर प्रारब्ध का फल माना जाता है। केवल यही नहीं, इस देह का स्थितिकाल अर्थात् उक्त देह कितने दिनों तक स्थायी रहेगी यह भी उक्त कर्म के द्वारा निश्चित होता है। इस देह के स्थितिकाल को ही आयु कहते हैं। इससे समझ में आ जाएगा कि प्रारब्ध कर्म के तीन विपाक या फल हैं। ये तीनों फल परस्पर संश्लिष्ट हैं। इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु सर्वत्र ही. हर-एक कर्म के ये तीन विपाक होंगे ही ऐसा कोई नियम नहीं है।

जिस कर्म के तीन विपाक अर्थात् जन्म, आयु और भोग होते हैं उस कर्म को त्रिविपाक कर्म कहते हैं। जिस कर्म के केवल दो विपाक अर्थात् आयु और भोग होते हैं वह द्विविपाक कर्म कहलाता है। जिस कर्म से केवलमात्र भोग उत्पन्न होता है उसे एकविपाक कर्म कहते हैं। मृत्यु के समय जो कर्म प्रारब्ध के रूप में प्रकट होता है वह त्रिविपाक है। किन्तु जीवितकाल में क्रियमाण कर्म यदि मृदु हो तो उसका एकविपाक होता है, यदि मध्यम हो तो दो विपाक होते हैं एवं अत्यन्त उत्कट हो तो उसके तीन विपाक होते हैं। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान देह में अनुष्ठित कर्म यदि वर्तमान देह के आरम्भिक प्रारब्ध कर्मों की अपेक्षा अधिकतर तीव्र वेगवाला न हो तो उस कर्म का फल उसी देह में भोगना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रारब्ध द्वारा निर्दिष्ट भोग जबतक पूरे न हो जाएँ तब तक इस प्रकार नूतन भोग की प्राप्ति नहीं हो सकती। पर देहान्तर में अथवा स्वप्न आदि या ध्यान आदि अवस्था में भी वह घट सकता है यह भी सत्य है। वैसे ही वर्तमान जन्म में भी ऐसे कर्म किये जा सकते हैं जिनसे केवल भोग ही नहीं होता, आयु की वृद्धि अथवा ह्रास भी हो सकता है, किन्तु वह कर्म द्विविपाक है। वर्तमान कर्म की तीव्रता यदि अत्यधिक हो तो वर्तमान देह को ही बदल कर देहान्तर उत्पन्न हो सकता है। प्रकृति के आपूरणवश इस प्रकार का जात्यंतर परिणाम हो सकता है।

उपर्युक्त कर्मतत्व के विश्लेषण से ज्ञात हो जाएगा तीव्र क्रियमाण कर्म के प्रभाव से आयु की वृद्धि हो सकती है।

यह क्रियमाण कर्म इष्टदेव का अनुग्रह, श्रीभगवान की अहैतुक करुणा, मन्त्र-शक्ति का प्रभाव अथवा योगसिद्ध महात्माओं की कृपा—इनमें से जिस किसी के द्वारा प्रभावित हो सकता है। जहाँ आयु की वृद्धि हो सकती हो, वहाँ आयु की मात्रा का तारतम्य रहना भी स्वाभाविक है अर्थात् इस वृद्धि की किसी निश्चित सीमारेखा का अंकन नहीं किया जा सकता। दो महीने की और छः महीने की वृद्धि यदि हो सकती है तो दो वर्ष की या सौ वर्ष की वृद्धि क्यों नहीं हो सकेगी? शंकराचार्य की आयु सोलह वर्ष ही की थी ऐसी प्रसिद्धि है। वह दुगुनी हो कर बत्तीस वर्ष की हो गयी। दूसरे पक्ष में मार्कण्डेय ऋषि का आयुष्यकाल केवल बारह वर्ष का था, पर उनकी आयु बढ़ कर कल्पान्त पर्यन्त हुई थी। पहले ही कहा जा चुका है कि यह आयु की वृद्धि जैसे उत्कट कर्म के प्रभाव से होती है वैसे ही महात्मा अथवा ईश्वर या देवताओं के अनुग्रह से भी हो सकती है। पक्षान्तर में दूसरे की आयु से अंशतः या पूर्णरूप से आयु के संचारवश भी आयुवृद्धि हो सकती है। फिर यह भी सम्भव है कि केवल कल्प अथवा महाकल्प तक की आयु के बदले आयु-हीन अवस्था भी हो सकती है। काल के भीतर रहने पर तो आयु रहेगी ही। किन्तु काल के अतीत होने पर आयु का कोई प्रश्न नहीं रहता। अमरत्व या मृत्युंजय अवस्था यदि प्राप्त हो जाए तो आयु की वृद्धि का प्रश्न ही फिर नहीं रहता, क्योंकि भगवान् की जिस प्रकार आयु नहीं है उसी प्रकार विशुद्ध चैतन्यमय किसी पुरुष की भी आयु नहीं है। क्योंकि वे काल द्वारा अवच्छिन्न नहीं हैं। इसी से माँ ने कहा है—"वहाँ सब कुछ सम्भव" है और "एक ढंग से शरीर रखना यदि हो तो वह रखा भी जा सकता है और रहता है।"

२—प्रत्येक जीव के नाना शरीर हैं

विशुद्ध चैतन्य अन्तःकरण और देह से अविच्छिन्न अवस्था में जीवरूप में परिणत होता है। जीव वास्तव में एक है या विविध हैं इस सम्बन्ध में बहुत विचार किया गया है। पर दृष्टिकोण के भेद से दोनों ही मत ठीक हैं। जिस मत में जीव एक माना गया है उसे एकजीववाद कहते हैं। उसी का दूसरा नाम दृष्टिसृष्टिवाद है फिर जिस दृष्टि में जीव भिन्न-भिन्न हैं उसे नानाजीववाद कहते हैं। उसका दूसरा नाम सृष्टि-दृष्टिवाद है। एकजीवाद वेदान्त का चरम सिद्धान्त है। उसके सम्बन्ध में यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु नानाजीववाद सर्वत्र परिचित है। उस मत के अनुसार ही यहाँ पर जीव और देह के

सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है। साधारण लोगों की यह धारणा है कि प्रत्येक जीव का केवल एक ही शरीर रहता है। वह शरीर उसके प्रारब्ध कर्मों के अनुसार रचित होता है। उसकी आयु और भोग भी उस प्रारब्ध के ही अधीन हैं। उस शरीर का अवसान होने पर कर्मानुसार पुनः देह का ग्रहण होता है। जब तक सम्यक् ज्ञान का उदय नहीं होता तब तक एक के बाद दूसरा यों शरीर होते रहते हैं। इस तरह प्रत्येक जीव बहुत से शरीर धारण करता है। यह सर्वत्र सुप्रसिद्ध है एवं इसके सम्बन्ध में किसी के भी मन में सन्देह नहीं उठता। किन्तु एक ही समय में एक जीव बहुत शरीर धारण कर सकता है या नहीं अथवा करता है या नहीं ? यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि योगी आवश्यकता पड़ने पर थोड़े समय में प्रचुर कर्मों का क्षय कर मुक्तिमार्ग में अग्रसर होने के लिए योगबल से एक ही समय में अनेक शरीर धारण करते हैं। इन सब शरीरों को समष्टिरूप से योगी के कायव्यूह कहते हैं। भिन्न-भिन्न शरीरों से भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मों का भोग समाप्त होता है। जिस तरह के कर्म रहते हैं शरीर भी ठीक उन्हीं के अनुरूप रहता है। योगी को यदि इच्छा हो और जरूरत पड़े तो वह एक देह में स्थित होकर गहन वन में घोर तपस्या कर सकते हैं एवं एक ही समय में अन्य देह से राजगद्दी पर बैठ कर राज्यपालन और इच्छानुरूप भोगविलासों का आस्वाद ले सकते हैं। दो ही शरीर क्यों, अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगी तीन, चार, पाँच अथवा अधिक देहों की रहना कर उन भिन्न-भिन्न देहों से भिन्न-भिन्न प्रकार के भोग भोग कर थोड़े समय में प्राक्तन कर्मों का भार हलका कर सकते हैं। यह शास्त्र में प्रतिपादित है और महान् पुरुषों के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने पर भी यही प्रमाण प्राप्त होता है।

सौभरि की सृष्टि की बात इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। किन्तु इन बहुत-से शरीरों के ग्रहण का फिर एक दूसरा उद्देश्य भी है। वास्तव में वे भोग भोगने के लिए नहीं, किन्तु जिज्ञासु जनों को ज्ञान देने, भयभीत को अभयदान करने और आर्त की पीड़ा दूर करने के लिए हैं। पहले जो बहुत से शरीरों को बात कही गयी है वे साधारणतः योनिज शरीर हैं यानी माता के गर्भ से उत्पन्न शरीर हैं ऐसा कोई न समझ लें। योगी पंचभूतों का अधिष्ठाता है, इसलिए वे भौतिक उपादानों का आकर्षण करके ही अनुरूप शरीर की रचना करते हैं। पर उन शरीरों के ग्रहण का मतलब थोड़े ही समय में कर्मफलों के भोग की समाप्ति है। दूसरे प्रकार का शरीर अर्थात् जो दूसरों में ज्ञान और भक्ति के संचार के

लिए रचा जाता है उसे योगी लोग निर्माणकाय कहते हैं। कभी-कभी उसे निर्माण-चित्त भी कहा जाता है। वास्तव में उस अवस्था में काय और चित्त में कोई भेद नहीं रहता। ये सब शरीर अथवा चित्त संख्या में बहुत हो सकते हैं एवं एक ही समय में विभिन्न स्थानों में प्रकट हो सकते हैं। किन्तु इनका संचालक चित्त एक ही है। वह एक ही चित्त सब शरीरों को नियन्त्रण में रखता है। सब शरीरों का संकोच और आविर्भाव उस मूल चित्त पर निर्भर रहता है। बौद्धों का निर्माणकायव्यूह बहुत कुछ अंशों में इसी तरह का है।

यह तो हुई असाधारण और अलौकिक महापुरुषों की बात। किन्तु प्रश्न यह है कि साधारण लोगों के भी अर्थात् जो व्यक्ति अज्ञानान्धकार से आवृत्त हैं, उनके भी एक ही समय में बहुत शरीर रह सकते हैं, या नहीं—इसका उत्तर है, हाँ—यह भी सम्भव है। सम्भव क्यों ? प्रत्येक जीव के असंख्य शरीर हैं, किन्तु अज्ञानी होने के कारण वह उन्हें जानता नहीं एवं वह उन सब शरीरों पर नियन्त्रण भी नहीं रख सकता। उन सब शरीरों का रहना और न रहना उसके लिए एक-सा है। किन्तु ऐसा है यह सत्य है, क्योंकि मूल सिद्धान्त ही यह है कि सृष्टि के अन्दर प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु अभिन्न रूप से विद्यमान है—सर्वं सर्वात्मिकम्। इसलिए जगत् के प्रत्येक स्तर में तथा प्रत्येक स्तर के प्रत्येक भाग में प्रत्येक की सत्ता विद्यमान है, किन्तु वह सत्ता साकार रूप से अभिव्यक्त नहीं होती, अतः उसका अनुभव नहीं हो सकता।

इसलिए अज्ञानावस्था में वह अपने को परिच्छिन्न समझता है। वह स्थूल दृष्टि से जहाँ अपने अस्तित्व का अनुभव करता है, उसका विश्वास है कि वह केवल वहीं पर है; किन्तु वह यह नहीं जानता कि परमात्मा के समान वह भी समान रूप से विश्वरूप है। अनन्त विश्व के प्रत्येक अणु परमाणु में उसकी सत्ता ओत-प्रोत है। जहाँ वह प्रवेश करेगा वहीं तत्क्षण उसे अनुभव होगा कि वह भी वहीं का एक व्यक्ति है। वस्तुतः ऐसा ही हो जाता है। किसी मनुष्य का लिंग शरीर यदि देवलोक में प्रविष्ट होता है तो वह लिंगशरीर देवशरीर से युक्त हो कर प्रकाशित होता है। वह दिव्य शरीर उसी का शरीर है। यदि कभी वह लिंग शरीर ब्रह्मलोक में जाता है तो वह तुरन्त ब्रह्मलोक के उपयुक्त शरीर को ग्रहण करके ही प्रकाश में आता है। वह स्वर्गीय शरीर से भिन्न है। फिर ब्रह्मलोक त्याग करने के साथ ही साथ वह ब्राह्म ज्योति में बदल जाता है और वह लिंग शरीर

अकेले ब्रह्मलोक से बाहर आता है। वैसे ही शिवलोक में प्रवेश करते समय वही लिंग शरीर शिवलोक के उपयुक्त शरीर को पा कर प्रकाश में आता है। फिर उसके शिवलोक का त्याग करने के साथ ही साथ वह शैव शरीर ज्योति में परिणत हो जाता है। इससे ज्ञात हो जाएगा कि प्रत्येक जीव में जगत् के प्रत्येक स्थान में अपने को प्रकट करने की क्षमता है, क्योंकि सभी जगह उसकी सत्ता अक्षुण्ण है। उसके निज के साथ अथवा अहंकार के साथ स्तरात्मक विशेष ज्योति का विशेष संसर्ग होने पर ही उस स्तर के उपयुक्त उसी का निज शरीर प्रकाशित होता है। यही प्रकृति का नियम है। इससे किसी की भी विशिष्टता नहीं है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर समझ में आ सकेगा कि सभी जीव सब स्थानों में उन स्थानों के उपयुक्त शरीर के साथ ही विद्यमान हैं, शरीर इस समय अव्यक्त है। लिंग अथवा अहंकार के सम्बन्ध से अभिव्यक्त होता है। किन्तु अव्यक्त होने पर भी वह है अवश्य। ज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं एवं इस तरह से अपने एक ही स्वरूप में अनन्त स्वरूप देख पाते हैं। वे सब स्वरूप एक होने पर भी अलग-अलग कर्म के विचित्र विधान के अनुसार कभी इनमें से कोई अज्ञात-रूप से प्रकट हो सकता है। वस्तुतः अपने अन्दर ही जैसे बचपन, यौवन और वृद्धावस्था हैं, वैसे ही अपने अन्दर ही विश्व के सब रूप हैं। फिर विश्व के सब रूपों में भी स्वयं ही प्रकाशमान है। इस सत्ता दृष्टि से त्रिकाल के भेद द्वारा व्यक्तता और अव्यक्तता के विषय में वैलक्षण्य रहने पर भी वास्तविक कोई भेद नहीं है। इसीलिए माँ ने कहा है "वैसे ही तुम्हारे सब अवस्थाओं के शरीर सदा मौजूद हैं—जो पहले हुआ था, वर्तमान में है और आगे होगा" इत्यादि।

३—गुरुशक्ति और पुरुषकार

दार्शनिक चिन्तन के प्रथम उन्मेष से ही कृपा और पुरुषकार के अपेक्षाकृत बलाबल तथा दोनों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से नाना प्रकार के वादविवाद चले आ रहे हैं। जिन्हें सद्गुरु का आश्रय प्राप्त हो चुका है वे जानते हैं कि कृपा शब्द से वास्तव में गुरुशक्ति ही लक्षित होती है। फिर गुरुशक्ति कोई दूसरी वस्तु नहीं है; वह ईश्वर की निज शक्ति है, जिसे वे आर्त और अज्ञानी जीवों का उद्धार करने के लिए प्रयोग में लाते हैं। पुरुषकार कहने से जीव का अर्थात् मनुष्य के व्यक्तिगत उद्यम का बोध होता है। प्रश्न यह है कि कोई साधक अपने व्यक्तिगत प्रयत्न से ज्ञान प्राप्त कर सकता है या नहीं, अथवा गुरुकृपा की शक्ति के प्रभाव से साधक को बिना किसी प्रकार के उद्यम के

ज्ञान प्राप्त हो सकता है या नहीं ? द्वैत दृष्टि से देखने पर कहना पड़ेगा कि दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। क्योंकि गुरुकृपा केवल कृपा नहीं है। कृपा का संचार होने पर भी शिष्य में धारणा की शक्ति यदि न हो तो यथोचित रूप से कार्य नहीं हो सकता। आधार का कार्य धारण करना है। गुरु से कृपा रूप में जिस शक्ति का संचार होता है, शिष्य का आधार यदि उसे धारण न कर सके तो वह शक्ति उस रूप में कार्य नहीं कर सकती। शिष्य या आधार में धारण शक्ति की कमी या अभाव होने पर गुरु द्वारा प्रदत्त शक्ति को पूर्णरूप से सफलता प्राप्त नहीं होती। दूसरे पक्ष में आधार चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो एवं साधक की धारण-सामर्थ्य चाहे कितनी अधिक क्यों न हो, कार्य करने वाली शक्ति गुरु से प्राप्त हुए बिना केवल आधार की शक्ति से फल प्राप्ति नहीं हो सकती, यही साधारण मीमांसा है। किन्तु जिस दृष्टिकोण से यह अनुभव में आता है कि शिष्य अथवा साधक की धारणशक्ति बहुत कम है एवं इसी कारण गुरुशक्ति का संचार तत्काल में यानी बिना विलम्ब के फल उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, उस दृष्टिकोण के अनुसार यह कहना ही पड़ेगा कि गुरु का पूर्ण उत्तरदायित्व तभी सफल हो सकता है जब वे शिष्य की केवल प्राप्ति की ओर ही नहीं; धारण या ग्रहण की ओर भी अवसर और योग्यता का सम्पादन कर दें। गुरु ने ज्ञानलोक प्रदान कर जगत् की अनन्त विचित्रताओं का दर्शन करने का सौभाग्य दिया। यह बात ठीक है, किन्तु साधक की दृष्टि यदि अन्धकार से आवृत रहे तो वह ज्ञानलोक सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने पर भो उसके लिए किसी प्रकार कार्यसाधक नहीं होता अत-एव गुरु केवल आलोक प्रदान कर यदि निवृत्त हो जाएँ तो उनका पूर्ण दायित्व सम्पन्न हो गया, यह नहीं कहा जा सकता। आलोकदान के साथ-साथ आलोक को ग्रहण करने की क्षमता भी—अर्थात् अन्धे का अन्धपना हटाना भी उनके कर्तव्य का अंग हो जाता है। इसीलिए अन्तिम विश्लेषण से कहना पड़ता है कि यद्यपि कृपा और पुरुषकार परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तथापि कृपा की महिमा अधिक है, क्योंकि पुरुषकार की कमी अथवा कमजोरी उत्कृष्ट कृपा के बल से दूर हो सकती है। इसके अलावा दूसरी दृष्टि से देखने पर यह भी सत्य है कि जितना पौरुष जीव में है उसके मूल में भी कृपा विद्यमान है। पुरुषकार के मूल में इच्छाशक्ति और कृपा के मूल में गुरुशक्ति विद्यमान है। जरा अन्तर्मुख हो कर विचार करने पर समझ में आ जाएगा कि गुरुशक्ति इच्छा-शक्ति की भी मूल है। एक प्रकार से यद्यपि दोनों ही अभिन्न हैं, तथापि भेददृष्टि से देखनेपर

गुरुशक्ति से ही इच्छाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए इच्छाशक्ति की तीव्रता गुरुशक्ति के ऊपर निर्भर रहती है। गुरुशक्ति महाशक्ति है। इच्छाशक्ति यदि संकल्पविकल्प-रूप हो तो जीव-शक्ति है तथा यदि शुद्धसंकल्परूप हो तो वही ईश्वर की शक्ति है। संकल्प के साथ दूसरे संकल्प का मिश्रण रहने पर वही विकल्प-रूप में बदल जाती है। विकल्प यदि न हो अथवा संशय यदि न हो तो वही सत्य संकल्प रूप धारण कर ईश्वरशक्ति के रूप में प्रकट होता है। वस्तुतः दोनों ही इच्छाएँ हैं। एक इच्छा में रजोगुण और तमोगुण की क्रिया रहती है, दूसरी इच्छा में केवल निर्मल सत्त्वगुण का भाव रहता है। किन्तु महाशक्ति में इच्छा नहीं है। वह इच्छाहीन पूर्ण स्वातन्त्र्य की अवस्था है। माँ ने इसीलिए इच्छा का, एक पक्ष में, गुरुशक्ति की क्रिया के रूप में वर्णन किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से ही समझा दिया है कि दोनों के ही मूल में अर्थात् गुरुशक्ति और इच्छाशक्ति इन दोनों क्षेत्रों में एकमात्त स्वयंप्रकाश महाशक्ति ही कार्य करती है। इसीलिए वस्तुतः यदि कोई गुरु को स्वीकार न भी करे तो भी यह इच्छाशक्ति अवश्य ही स्वीकार-योग्य है जिसके मूल में एकमात्र महाशक्ति का स्वभाव ही खेल खेल रहा है। गुरुभाव को स्वीकार करने पर भी यह जैसा सत्य है, गुरुभाव स्वीकार न करने पर भी यह वैसा ही सत्य है। इसीलिए माँ ने कहा है, "यह जो इच्छाशक्ति है, वह भी कहा जा सकता है, गुरुशक्ति से ही। ऐसी स्थिति में दोनों ओर स्वयं ही प्रकाश है। ....पुरुषकार में जो गति है उसमें भी तो उसी शक्ति की क्रिया है।"

४-शेष रक्षा

मनुष्य के लौकिक जीवन की उन्नति के मार्ग में विविध प्रकार की विघ्न-बाधायें आती हैं। अध्यात्म जीवन के इतिहास में भी ठीक ऐसी ही बात दिखाई देती है। इस कारण विशेष अवस्था में हतोत्साह होकर कोई-कोई विचार करते हैं कि जीवन में सफलता प्राप्त होना बहुत दूर की बात है। अध्यात्मजीवन की बात भी लौकिक जीवन के ही तुल्य है। अध्यात्ममार्ग में विविध प्रकार के विघ्न आते रहते हैं और उनका आना स्वाभाविक है। इन विघ्नों अथवा साधक की निराशता को देखकर निराश नहीं होना चाहिए। क्योंकि अध्यात्म-मार्ग की चरम प्राप्ति ही स्थायी प्राप्ति है। सारे जीवन में तेजी के साथ साधन भजन न कर सकने पर भी यदि कोई मृत्यु के समय भगवान् की ओर उन्मुख हो जाए तो वही उसके भावी उन्नत जीवन का सूत्रपात कर देता है। मृत्युकाल में अन्तिम साँस छोड़ते समय, यदि सद्भाव हृदय में जाग जाए तो वह सद्भाव प्रबल होकर

अपने अनुरूप सब संस्कारों को आकृष्ट कर घनीभूत हो जाता है और भा ी आनन्दमय जीवन का सूत्रपात करता है। इसलिए एक कहावत है, 'साधन भजन जो ही करो, मरते समय ज्ञान होने से ही सफल होता है।" इसी का नाम शेष रक्षा है। सारा जीवन व्यर्थ नष्ट करके भी यदि अन्तिम समय में तल्लीन हो कर इष्टदेव के ध्यान में निमग्न हुआ जाए तो वही उत्तम फलदायक हो कर उसके भावी जीवन को उज्ज्वल बना डालता है। पक्षान्तर में सम्पूर्ण जीवन सदाचार से व्यतीत करके भी यदि अन्त समय में भगवान् का स्मरण न हो तो वह समस्त सदाचार आपाततः उसे सहायता प्रदान नहीं कर सकता। कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह बात सत्य है। किन्तु जब तक वह कर्म प्रारब्ध के रूप में परिणत नहीं होता तब तक उसका मूल्य अधिक नहीं है। इसीलिए वास्तव में अन्त रक्षा ही रक्षा है। थोड़े काल के मनन से एक सम्पूर्ण जीवन का सुखमय परिणाम संगठित हो सकता है।

५—मन्त्र का स्वरूप क्या है ?

मन्त्र एक रहस्यमय वस्तु है। उसके अन्दर दो परस्पर विरोधी अंश अविरुद्धरूप से प्रकट हो कर मन्त्र में मन्त्रत्व का सम्पादन करते हैं। उनमें से एक अहंकार है जो "तुम" अथवा "मैं" के रूप से बोधस्वरूप में विद्यमान रहता है। और दूसरा शब्द यानी चैतन्यमय शब्द है। शब्द के साथ अहंकार के सम्बन्ध से मन्त्र का प्रादुर्भाव होता है। जो शब्द कहा गया है वह स्वयंरूप में आत्मप्रकाश है। दूसरे पक्ष में जो अहंकार है वह "तुम" के रूप में आविर्भूत हो अथवा "मैं" के रूप में ही आविर्भूत हो, वह प्रकृति का काम है। इन दो अंशों से युक्त होने पर अहंकारयुक्त चैतन्यमय शब्द ही मन्त्र है, इस प्रकार का तात्पर्य ज्ञात होगा। मन्त्रों की साधना करते-करते जब अहंकार का अंश हट जाता है अर्थात् संघर्ष के कारण जब चिदग्नि जल उठती है तब उस शब्द का चैतन्यरूप ज्योति के आकार में भासमान होता है। अहंकार का सम्बन्ध रहने से वह ज्योति भी एक साकार पिंड के रूप में प्रकट होती है। अहंकारवश उस साकार पिंड में अभिमान का उदय होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मन्त्र का व्यापार भी मन का ही खेल है। क्योंकि शास्त्रों के अनुसार मन के द्वारा मनन से अपना जो त्राण होता है अर्थात् आत्मरक्षा होती है वही मन्त्र के स्वरूप का निदर्शन है। यह मन यद्यपि शुद्ध है, तथापि बन्धन स्वरूप ही है। किन्तु बन्धन होने पर भी इस बन्धन की उपयोगिता है। क्योंकि किसी एक बन्धन को स्वीकार कर यदि जगत् के

अनन्त बन्धनों से छुटकारा प्राप्त किया जा सके तो वह बन्धन हेय नहीं है, बल्कि उपादेय है। वास्तव में मन्त्ररूपी जो शब्द हैं वे मंत्राख्य ब्रह्मतत्त्व अथवा अक्षर पुरुष के साथ सम्बद्ध हैं। इस विषय में विशेष ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि मन्त्र और शब्द ब्रह्म आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करने का एक मुख्य उपाय है। मन्त्र-शक्ति अनन्त महाशक्ति का ही एक कणमात्र है। किन्तु कण होने पर भी आग की चिनगारी के समान वह जीता-जागता कण है। क्योंकि वह महाज्ञान से अभिन्न है। इसीलिये माँ ने कहा है "ये टुकड़े आग के टुकड़े नहीं तो और क्या हैं—वह ज्ञान-स्वरूप है।" और एक बात है अखण्ड महासत्य में एक अंश है जो शब्दात्मक और शब्दमय है, दूसरा एक अंश है जो शब्दातीत नित्य निर्विकार है। समूचा जगत् इस शब्दमय अंश में अर्थात् शब्दब्रह्म में डूबा है। इस अंश के बाहर गये बिना महाज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं होती। शब्दब्रह्म और शब्दातीत परब्रह्म ये दो सत्ताएँ मिल कर ही अखण्ड ब्रह्मसत्ता है। पर साधक की दृष्टि से शब्द में भी तारतम्य है। हम लोग साधारणतः जिस शब्द का प्रयोग करते हैं वह विकृत और जड़ शब्द है। उन सब शब्दों के प्रभाव से चित्त स्वभावतः ही बहिर्मुख हो कर दौड़ता है। इसके विपरीत ऐसा भी शब्द है जो संस्कार के प्रभाव से शुद्ध वाक्-रूप में परिणत हुआ है। उसको संस्कृत शब्द या संस्कृत वाणी कहते हैं। इसके प्रभाव से विक्षिप्त चित्त क्रमशः अन्तर्मुख होता है। शब्द के इन दो प्रकारों के भावों को लक्ष्य में रखकर प्राचीन काल के ऋषियों ने अन्तर्मुख होने के लिए साधकों को संस्कार-युक्त शब्द का आश्रय लेनें का उपदेश दिया है। मन्त्रों के साथ जिन शब्दों का योग है वे विकृत शब्द नहीं है, वे संस्कारयुक्त शब्द के ही रूप हैं। माँ ने कहा है, "जब तक उस स्थान में नहीं पहुँचेंगे, तब तक तरंग और शब्द के मध्य में सभी हैं। एक शब्द बाहर ला देता है, और एक शब्द अन्तर्मुख कर देता है।" यह जो शब्द और उसकी महिमा का वर्णन किया गया है वह सब वादियों का सम्मत सिद्धान्त है। किन्तु साथ ही साथ यह भी इनकार नहीं किया जा सकता कि एसी भी स्थिति है कि जहाँ बाहरी शब्द के बिना भी स्वयं प्रकाश अपने आप प्रकट हो सकता है। जो नित्य शब्द के अगोचर हैं और संचार के समय, सदा ही शब्द का वाहन के रूप में व्यवहार करते हैं वे शब्द के अधीन नहीं हैं यह सदा ही ध्यान देने योग्य विषय है। शब्द की महिमा चाहे जितनी भी हो—अवश्य संस्कृत और शोधित शब्द की बात ही यहाँ कही जा रही है—उससे भी अधिक महिमा निःशब्द अथवा शब्दातीत की है। इस अवस्था को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है, "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु छिन्नसंशयः ॥" ●

बीस

१–अपरोक्ष ज्ञान और आवरण

बहुत लोगों की यह धारणा है कि अपरोक्ष ज्ञान का उदय होने पर आवरण हट जाता है, किन्तु शास्त्रों में कहीं-कहीं ऐसा देखने में आता है कि किसी-किसी को अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी आवरण नहीं हटता। अर्थात् असम्भावना, विपरीत भावना आदि दोष निवृत्त नहीं होते। स्थूल दृष्टि से यह एक प्रकार की समस्या सी प्रतीत होती है किन्तु वास्तव में यह कोई समस्या नहीं है। क्योंकि जिसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं है अर्थात् यद्यपि वह अपरोक्ष ज्ञान है, तथापि उसमें नाना संस्कार बीज रूप में रह जाते हैं, इसलिए आवरण की निवृत्ति पूर्णरूप से नहीं होती। अर्थात् केवल उक्त ज्ञान से विक्षेप निवृत्त नहीं होता सो बात नहीं है, आवरण भी पूर्ण रूप से निवृत्त नहीं होता। वास्तविक अपरोक्ष ज्ञान होने पर आवरण की सम्भावना बिलकुल नहीं रहती। स्वयंप्रकाश पूर्ण सत्य का जहाँ स्फुरण हो रहा हो वहाँ आवरण का अन्देशा कहाँ? शास्त्रों में कहा है कि तत्त्वज्ञान का उदय, मनोनाश और वासना-क्षय इन तीनों का सम्मिलन हुए बिना पूर्ण प्रकाश का आविर्भाव नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञान होने पर भी चित्त में वासनारूप मल और प्राण के वेग के कारण साम्य-भाव का अभाव रह जाना सम्भव है। इसलिए ज्ञानोदय होने पर भी जीवन्मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ज्ञानोदय तत्त्वविचार से हो सकता है एवं प्राचीन क्रम के अनुसार उपासना के प्रकर्ष से भी हो सकता है। ज्ञानोदय की प्रक्रिया चाहे जो भी हो किन्तु ज्ञान का प्रभाव दोनों जगह अलग-अलग होता है। उपासना से भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि होने से अथवा भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि का अर्जन कर उपासना में प्रवृत्त होने से उपासना से प्राप्त अपरोक्ष ज्ञान वास्तविक अपरोक्ष ज्ञान है। उसके उदय के साथ ही साथ जीवन्मुक्ति पद प्राप्त हो जाता है। क्योंकि अन्तःकरण और प्राण की मलिनता तब नहीं रहती। अपरोक्ष ज्ञान का उदय होने के अनन्तर बुद्धि को उसका परिचय मिलता है। तब आवरण-रहित अपना स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई देता है। किन्तु तत्त्वविचार के प्रभाव से श्रेष्ठतम अधिकारी के चित्त में कभी-कभी अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। यह अपरोक्ष ज्ञान तीव्र शक्ति-सम्पन्न नहीं होता।

इसलिए मन पूर्णरूप से निवृत्त नहीं होता। कर्मबीज भी कुछ रह ही जाते हैं। केवल प्रारब्ध ही नहीं, प्रारब्ध के बाद के कर्मों की बात भी कही जाती है। यहाँ पर योग आदि से अथवा उपासना से या अन्य किसी उपाय से चित्त का शोधन होने पर उक्त अस्पष्ट अपरोक्ष ज्ञान स्पष्ट हो जाता है तब स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। वह आवरणशून्य प्रकाश है। क्योंकि आवरण के सब बीज जल जाते हैं। इसीलिए माँ ने कहा है, "एक निरावरण प्रकाश होता है और दूसरा होता है आवरण की सम्भावना रख कर।" निरावरण प्रकाशस्थल में आवरण के पुनः उदय होने की बात उठती ही नहीं। जिसे साधारणतः निरावरण कहा जाता है वह स्थूलदृष्टि से यद्यपि आवरणशून्य प्रतीत होता है, पर उसमें सूक्ष्म आवरण रह ही जाता है।

आगमशास्त्र में ज्ञान और अज्ञान के सम्बन्ध में जो आलोचन दिखाई देता है उससे यह विषय और भी स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है। आगममत में ज्ञान और अज्ञान दोनों ही पौरुष और बौद्ध भेद से दो प्रकार के हैं। अर्थात् जो अज्ञान या ज्ञान पुरुषगत या आत्मगत है वह पौरुष अज्ञान या पौरुष ज्ञान है, दूसरे पक्ष में जो अज्ञान या ज्ञान बुद्धिगत है उसे बौद्ध अज्ञान या बौद्ध ज्ञान कहते हैं। आत्मा मूल में एक और अभिन्न है। वह अपनी स्वतन्त्रता से अपनी पूर्णता को संकुचित कर परिच्छिन्न होते हैं और अणुभाव धारण करते हैं। यह अणुभाव ही मन अथवा पशुत्व या जीवत्व कहा जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जीव के मूल में भगवत्स्वरूप आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक संकोच विद्यमान रहता है। यह आत्मसंकोच शुद्ध आत्मा के ऊपर एक तरह के पर्दे के रूप में परिगणनीय है। इसी का नाम पौरुष अज्ञान है। जीवमात्र के मूल में यह अज्ञान रहता है। परन्तु बौद्ध अज्ञान इस तरह का नहीं है। वह बुद्धि का धर्म है। बुद्धि में जिस अज्ञान का भान होता है वही बौद्ध अज्ञान है। आत्मा की अनावृत अवस्था में 'शिवोऽहम्' रूप से अपने शिवत्व अथवा भगवत्त्व का अपरोक्षरूप से अनुभव होता है। यह अनुभव वास्तव में स्वयंप्रकाश चित् का व्यापार है। क्योंकि अनावृत आत्मस्वरूप शिवभाव में ही उस समय स्थित रहता है। यही पौरुष ज्ञान के उदय का फल है। बौद्ध ज्ञान बौद्ध अज्ञान की तरह बुद्धि का व्यापार है। बुद्धि में 'शिवोऽहम्' ऐसी वृत्ति का जो उदय होता है वही बौद्ध ज्ञान है। बौद्ध ज्ञान के फल से जीवन्मुक्ति होती है, यह कथन ठीक है, किन्तु उससे पहले पौरुष अज्ञान निवृत्त होना चाहिए। पौरुष अज्ञान योगादि क्रिया से अथवा उपासना के प्रभाव से निवृत्त हो सकता है। उसकी निवृत्ति का एकमात्र

उपाय दीक्षा है, जो भगवदनुग्रह-मूलक भगवत्शक्ति का संचाररूप है। जिस निग्रह-शक्ति के प्रभाव से आत्मा पूर्ण होकर भी अपूर्ण बना है एवं जीवरूप में परिचित हुआ है उसे यदि हटाना हो तो उस आत्मा की ही अनुग्रहशक्ति की क्रिया आवश्यक है। दीक्षा वास्तव में उस शक्ति के संचार के सिवा और कुछ नहीं है। उसके प्रभाव से संकोच या परिच्छिन्नता अर्थात् जीवत्व मिट जाता है एवं नित्य-सिद्ध शिव भाव का उदय होता है।

सम्प्रति प्रासंगिक आलोचना के दृष्टिकोण से विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि भगवदनुग्रह से अथवा गुरुकृपा से पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी साथ-साथ बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि बौद्ध ज्ञान का उदय हुए बिना बौद्ध अज्ञान मिट नहीं सकता। बुद्धि में जो आवरण पड़ा है उसे हटाने के लिए साधना, उपासना, योगाभ्यास आदि की आवश्यकता होती है। पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर मनुष्य का यह अधिकार अपने आप उदित हो जाता है। जब साधना के फलस्वरूप बौद्ध ज्ञान का उदय होता है तब बुद्धि में स्थित आवरण हट जाता है। यह ज्ञान बुद्धि का ही धर्म है। इससे सिद्ध हुआ कि यह स्वरूप से अभिन्न नहीं है, किन्तु स्वरूप का लिंग है। इस ज्ञान का उदय होने पर साधक अपने को 'शिवोऽहम्' जान सकता है। इस ज्ञान के प्रभाव से बौद्ध अज्ञान निवृत्त होता है तथा जीवन्मुक्ति का आस्वादन होता है। तब प्रारब्ध कर्म रहने पर भी आवरण नहीं रहता। यह आवरणरहित प्रकाश है। देह में स्थित होकर भी इस पूर्ण प्रकाश का अनुभव किया जा सकता है। क्योंकि यह बुद्धि का व्यापार है। किन्तु देहान्त के समय अथवा प्रारब्ध के अन्त में स्वभावतः ही बुद्धिक्षेत्र का खेल फिर नहीं रहता। उस समय पौरुष ज्ञान का उदय होता है। तब शिवत्व में प्रतिष्ठा होती है। इस जगह दिखाई देता है कि पौरुष स्थल में सर्वप्रथम अज्ञाननिवृत्ति आवश्यक है। एवं सबके अन्त में ज्ञान का उदय होकर शिवस्वरूप में स्थिति होती है। किन्तु बुद्धिक्षेत्र में सर्वप्रथम ज्ञान का उदय होता है। तदनन्तर उस ज्ञान के प्रभाव से अज्ञान निवृत्त होता है। तब जीवन्मुक्ति का उदय होता है। यह जीवन्मुक्त पुरुष बुद्धि द्वारा अपने शिवत्व का प्रत्यक्ष करता है। पौरुष अज्ञान की निवृत्ति के बाद बौद्धज्ञानोदय से बौद्ध-अज्ञान की निवृत्ति होने पर यह सम्भव होता है। इससे ज्ञात हो जाएगा कि अपने को शिवरूप में जान लेने पर भी वास्तविक शिव नहीं हुआ जाता। क्योंकि यह जानना केवल बुद्धि को जानना मात्र है, स्वरूप को जानना नहीं है। स्वरूप को जानना ही पौरुष ज्ञान का उदय है। उस समय

जानना और होना एक हो जाता है, अपने शिवत्व की पुनः प्राप्ति होने पर फिर कोई बाधा या आवरण नहीं रह जाता। बुद्धि जितनी स्वच्छ होती है उतना ही प्रतिबिम्ब साफ प्रतीत होता है। किन्तु तब भी प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्ब ही है बिम्ब नहीं। बुद्धि दर्पणस्वरूप है। दर्पण हट जाने पर फिर प्रतिबिम्ब नहीं रहता, एकमात्र बिम्ब ही रहता है। यह ज्ञान और सत्ता का अभेद है। कहना न होगा देहसंबंध रहने पर भी ऐसी स्थिति हो सकती है, क्योंकि उस समय देह के रहने और न रहने का प्रश्न नहीं रह सकता। इसे माँ ने अनेक अवसरों पर अनेकों बार समझाया है। जिस जगह देह के रहने न रहने का प्रश्न ही नहीं उठता उस जगह उस स्थिति को नित्य महाप्रकाश के सिवा और क्या कहा जा सकता है।

२—शास्त्र में क्या सब बातें रहती हैं?

कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करना हो तो एकमात्र शास्त्र ही मध्यस्थ होकर निर्णय करने में सहायता प्रदान कर सकते हैं। इसीलिए कहा जाता है, 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।' यह सत्य बात है। किन्तु शास्त्र का स्वरूप क्या है यह जानने का प्रयत्न किया जाए तो ज्ञात होगा कि यहाँ भी वास्तविक सत्य का रहस्य आच्छादित है। शास्त्र में ही कहा है कि श्रुति और स्मृति मेरी अर्थात् परमात्मा की आज्ञा हैं। श्रुति और स्मृति शब्द यहाँ उपलक्षण-मात्र हैं। वस्तुतः सभी शास्त्र उन्हीं के आज्ञास्वरूप हैं। भगवान् के आदेश का ही शास्त्रों के रूप में प्रचार हुआ है। अवश्य यह वास्तविक शास्त्र के सम्बन्ध में ही कहा जा रहा है। कर्तव्य का निर्णय शास्त्ररूप भगवत्-आज्ञा के ऊपर ही निर्भर है। गुरु को भगवत्स्वरूप मानने पर गुरु की आज्ञा भी एक प्रकार से शास्त्र के समान ही उपादेय होती है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्र अनन्त हैं, वेद अनन्त, स्मृति या धर्मशास्त्र, पुराण, तन्त्र यहाँ तक कि महाजनों के वचन भी, सर्वत्र ही साक्षात् अथवा परम्परा से उनमें भगवत्-निर्देश रहने पर भी अनन्त हैं। इन अनन्त शास्त्रों का बहुत थोड़ा अंश ही जगत् में प्रकाशित है एवं जो प्रकाशित हुआ है वह भी प्रकाशयन्त्र की अपूर्णतावश थोड़ा बहुत विकृत हुआ है। प्राचीन-काल में इसीलिए यह कहा जाता था कि वेद का स्वरूप सूक्ष्मवाणी है। वह इन्द्रियों की अगोचर एवं सर्वसाधारण की बुद्धि के अगम्य है। किन्तु ऋषिगण उस सूक्ष्म-वाणी का साक्षात्कार करते थे तथा जीवों के कल्याण के लिए ऋषियों के माध्यम से लोकसंग्रह के उपयोगी पूर्वोक्त सूक्ष्मवाणी वैखरी के रूप में अवतीर्ण होती थी। इसी का 'विल्म' नाम से निर्देश किया जाता था। यह वेद का ही बाहरी प्रकाश

है, किन्तु उसमें वेद का वास्तविक स्वरूप कुछ आच्छन्न रहता है। अतः यह कहना ही पड़ेगा कि शास्त्र अनन्त तथा सर्वसाधारण की बुद्धि के अगोचर है, अतः किसी के लिए भी शास्त्र की दुहाई देकर सम्भव और असम्भव का मापदण्ड बना लेना सम्भव नहीं है ? अनन्त शास्त्र का कितना-सा अंश हम लोग जानते हैं। और जितना जानते हैं वह भी ठीक-ठीक जानते हैं या नहीं, इनमें भी सन्देह है। ऐसी अवस्था में जो शास्त्र में नहीं है उसका सम्भव नहीं हो सकता, ऐसी धारणा के लिए कोई युक्ति-युक्त कारण नहीं है। शास्त्र में न हो ऐसा कोई विषय हो ही नहीं सकता। क्योंकि शास्त्र अनन्त हैं तथा सब ज्ञानों के आधार हैं। किन्तु शास्त्र का जितना अंश हम लोगों का परिचित है उसमें सब कुछ रहेगा अथवा रहने पर भी हम लोगों की सीमित बुद्धि में फुरेगा इसकी कोई आशा नहीं है। अनन्त शास्त्र महाज्ञान-रूप में यदि किसी के निकट अपने को प्रकट करें तो तब की बात अलग है। निष्कर्ष यह कि शास्त्रों में सब कुछ है यह बात सर्वथा सत्य है, पर लौकिक दृष्टि से देखने पर सब कुछ है यह कथन संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि हम लोगों की सीमित ज्ञानशक्ति से सीमित शास्त्र भण्डार में सब तथ्यों का पता नहीं लग सकता, इसे अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए माँ ने कहा है, 'देखो, शास्त्र में सब बातें हैं और नहीं भी हैं।'

और एक विषय पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह है चिर पुरातन अर्थात् सनातन और नित्य नूतन का परस्पर सम्बन्ध। पूर्ण में अभिन्न रूप से अनन्त सत्य विद्यमान रहता है। अतएव चाहे जो भी क्यों न हो, कुछ भी नवीन-रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि जो भीतर अभिन्न रूप से विद्यमान रहा वही भिन्न सा बनकर बाहर प्रकट होता है। जो अभेद अवस्था में नित्य विद्यमान है वही मायावश भिन्न रूप से प्रकाशित होता है। इसलिए जो नहीं है वह है, यह कहना नहीं बनता। किन्तु अन्य मत में यह भी सत्य है कि जब जो कुछ होता है सभी नूतन होता है। एक उन्मेष के बाद ठीक उसी की पुनरावृत्ति नहीं होती। हर-एक उन्मेष पृथक्-पृथक् नित्य नूतन है। प्रतिक्षण नवीन-नवीन उन्मेष होते हैं। अनन्त वैचित्र्य तथा वैचित्र्य के मध्य में प्रत्येक कण में फिर अनन्त वैशिष्ट्य दिखाई देता है। इस प्रकार विचार करने पर स्फुरण में भी नित्य नवीनता पाई जाती है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जो चिर प्राचीन है वही नित्य नूतन है। जो एक है वही अनन्त है। जो अखण्ड है वही खण्ड के रूप में प्रकाशमान है। इसीलिए माँ ने भी इस प्रसंग में कहा है, 'अन्त में अनन्त और

अनन्त में अन्त है, वह महान् धारा जिस समय धरा होती है (पकड़ में आती है)। मनोराज्य के व्यापार ही केवल नहीं हैं। नूतन धारा में नित्य नया-नया रूप जहाँ है। अखण्ड धारा में योग का सहयोग होना स्वाभाविक है।

माँ ने भिन्न-भिन्न प्रसंगों में स्पष्ट रूप से ही समझाया है कि सत्य-निर्णय के मार्ग में 'धारा', 'धरा' और 'अधरा' इन तीनों का स्वरूप और आपस का सम्बन्ध ध्यान में रहना आवश्यक है। यह जो सनातन और नवीन के सम्बन्धों में चर्चा हमने की है, यह धारा में नहीं है। अधरा में भी नहीं है, किन्तु धरा में है। अधरा परम अगम्य गुप्ततम रहस्य है। उसके सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं बनता। धारा अपनी-अपनी विशेषता का अवलम्बन कर अलग-अलग प्रवाहित होती है। किन्तु सब समस्त विशेषताओं का समाधान धरा में प्राप्त होता है। सामान्य रूप से सभी वहाँ एक में गृहीत होते हैं। पर व्यक्तिगत वैचित्र्य नष्ट भी नहीं होता, इसलिए धरा में ही एक और अनेक अथवा सनातन और नवीन या सामान्य और विशेष की पूर्ण मीमांसा हो सकती है। इसलिए सत् या असत् अथवा क्या हो सकता है, क्या नहीं हो सकता है ये सब मीमांसाएँ खण्ड बुद्धि से खण्ड शास्त्रज्ञान से नहीं हो सकती हैं। माँ ने भी इस बात का समर्थन कर कहा है, 'जहाँ यह बात कहनी सम्भव है, वहाँ सब कुछ सम्भव है, वहाँ किसी शास्त्र में या ग्रन्थ में न पाने के कारण प्रकाश नहीं हो सकता अथवा नहीं होता यह कहना नहीं बनता। क्योंकि प्रकाश जो है उसी के प्रकाश के लिए तो एड़ी चोटी का पसीना एक होता है।'

३--गुरु की आवश्यकता

कुछ लोग कहते हैं कि गुरु करना अनावश्यक है। केवल अनावश्यक ही नहीं सम्यक् ज्ञान के मार्ग में बाधक भी है। गुरु-शिष्य-भाव कल्पित है, अतएव किसी को गुरु रूप में मानकर उसमें आत्मसमर्पण करना आत्मा के नैसर्गिक स्वातंत्र्य के प्रतिकूल है। इस प्रसंग में माँ कहती हैं कि मूल में एक ही अखण्ड सत्य विद्यमान रहता है, इसलिए गुरु-शिष्यभाव उसी एक सत्य पर ही आरोपित है, इसमें किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं है। किन्तु इस कल्पित भाव की कोई सार्थकता नहीं है, यह कहना भी नहीं बनता। वस्तुतः जो यह कहते हैं कि सम्बन्ध कल्पित और अनावश्यक है, वे भी एक प्रकार के सत्य का उपदेश देते हैं, इसलिए उपदेशक के रूप में वे गुरुपद-वाच्य हैं। जिनके द्वारा वचन से, इशारे से, व्यवहार से अथवा उनसे प्रेरित शक्ति की सहायता से ज्ञान के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में मदद

मिलती है, उन्हीं को एक प्रकार से गुरु कहना बनता है। उन्हें गुरु न कहने पर भी वास्तव में उनका गुरुत्व खण्डित नही होता। क्योंकि उपदेशक और उपदेश्य भाव विद्यमान है। सन्देह-निवृत्ति होने पर गुरुशिष्यभाव नहीं रहता और रहने की आवश्यकता भी नहीं है, किन्तु जब तक संशय रहता है, तब तक उसके समाधान के लिए गुरु भी रहता है। कल्पना राज्य में शिष्य भी कल्पित है, गुरु भी कल्पित है; वैसे ही संशय भी कल्पित है और संशय का समाधानरूप निश्चयात्मक ज्ञान भी कल्पित है। पूर्ण सत्य में एक और अद्वैत स्वतः स्फुरित होता है। वहाँ गुरु और शिष्य नहीं हैं अथवा रहने पर भी स्वयं ही गुरु और स्वयं ही शिष्य हैं, दूसरा कोई नहीं रहता। अवश्य यह बात सत्य है कि बाहर किसी से उपदेश न पाकर भी किसी-किसी व्यक्ति-विशेष की अन्तर्दृष्टि अथवा आभ्यन्तरीण उद्योग से ग्रन्थि खुल जाना सम्भव है। अन्तर की ग्रन्थि के खुल जाने पर सब प्रकार के सन्देह अपने आप मिट जाते हैं। किन्तु विचारपूर्वक देखने पर ज्ञात हो सकेगा कि संशयों के रहने पर गुरुसत्ता का खण्डन नहीं हो सकता। क्योंकि बाहरी गुरु के समान आन्तरिक गुरु भी है। अन्तरात्मक या अन्तर्यामी प्रत्येक के हृदय में अधिष्ठित होकर केवल साक्षी या द्रष्टा के रूप में जीव के कर्म और भोग को देखते हैं सो बात नहीं है। नियामक के रूप में उसका सत्य के मार्ग में संचालन भी करते हैं। यह भी तो गुरु का ही काम है। इसलिए बाहरी गुरु के—चाहे वह मनुष्य हो, चाहे सिद्ध हो, चाहे दिव्य हो—न होने पर भी आन्तरिक गुरु रहता ही है एवं उस गुरु के कार्य को अनंगीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यह कब तक? जब तक संशय है तभी तक। संशय कट जाने पर फिर आन्तरिक गुरु का भी कोई काम शेष नहीं रहता। क्योंकि आत्मा अपने में ही विश्रान्त हो जाता है तब आत्मा स्वेच्छा-विहारी होता है। तब उसे संशय नहीं रहता और अज्ञान भी नहीं रहता। उसके स्वाधीनता-मार्ग में बाधक भी कुछ नहीं रहता। तब वह अपने नित्यमुक्त स्वरूप को प्राप्त होकर शिवरूप में विराजमान होता है। इसलिए गुरु की आवश्यकता नहीं रहती, ऐसी व्याख्या करने पर भी प्रकारान्तर से गुरु की आवश्यकता ही सिद्ध होती है।

किन्तु ऐसी स्थिति भी है जहाँ पहले से ही भीतर सन्देह नहीं है। ऐसी जगह बाहरी गुरु तो नहीं ही रहते, आन्तरिक गुरु का भी प्रश्न नहीं उठता। किन्तु यह ठीक उसी जगह हो सकता है जहाँ वही पूर्ण सत्ता, अनवच्छिन्न स्वयं-सिद्ध सत्ता, ज्ञान की सहायता से मनुष्य देह धारण कर प्रकट होती है। किन्तु यह साधारण सांसारिक जीव की बात नहीं है। ■

इक्कीस

१—स्वयं ही

मनुष्य कालराज्य में सदा और सर्वत्र एक परिवर्तन का अनुभव करता है। कालराज्य कहने से माया-जगत् समझना चाहिए। किन्तु मायातीत और कालातीत जो निष्क्रिय सत्ता है वहाँ परिवर्तन अथवा परिणाम बिल्कुल ही नहीं है। एक स्वभावतः परिणामशील है और दूसरा स्वभाव से ही अपरिणामी है। दार्शनिक विचार से इन दोनों परस्पर विरुद्ध सत्ताओं का समन्वय अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। किन्तु इस समन्वय के ऊपर ही पूर्ण सत्य का स्वरूपज्ञान निर्भर है। विचार-क्षेत्र में कोई निष्क्रिय अक्षर सत्ता की प्रधानता स्वीकार करते हैं एवं दूसरे कोई विशेषतः आधुनिक वैज्ञानिक क्रियात्मक क्षर सत्ता का प्राधान्य स्वीकार करते हैं। कुछ लोग अक्षरसत्ता को ही 'सत्य' मानते हैं एवं परिणाम या विवर्त को माया का खेल अथवा भ्रम मानते हैं। दूसरे पक्ष में कोई कोई लोग इस परिणाम को ही एकमात्र 'सत्य' मानते हैं एवं अपरिणामी अथवा कूटस्थ सत्ता का अस्तित्व ही नहीं मानते। वर्तमान विज्ञान के समान प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदाय का दृष्टिकोण कई अंशों में इसी तरह का है। किन्तु वास्तविक पक्ष में ये दोनों ही दृष्टियाँ परस्पर सापेक्ष होने से पूर्ण सत्य का निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। और एक बात है। वह यह कि एक सत्य ही यदि एकमात्र सत्य होता—वह चाहे कोई भी क्यों न हो—तो दूसरी ओर के सत्य का आभास तक ज्ञानगोचर होने की सम्भावना नहीं रहती। अविद्या की दुहाई देकर समन्वय की चेष्टा दोनों ही पक्षों में हो सकती है। किन्तु वास्तव में यथार्थ समन्वय का मार्ग इससे खुलता नहीं है, इसलिए क्षर और अक्षर के सन्धिस्थल में पूर्ण सत्य की स्थापना करना आवश्यक है। गीता में भी क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष के परे परम पुरुष या पुरुषोत्तम के नाम से तृतीय पुरुष को स्वीकार करने का यही कारण है। क्षर और अक्षर इन दोनों के अतीत और दोनों के स्वभावात्मक एक परम वस्तु का पता लगाये बिना हम लोगों को सत्यान्वेषण में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

यह जो क्षर-अक्षर के अतीत पर क्षराक्षरमय पूर्ण वस्तु है यही स्वयं आत्मा है। माँ ने अनेक प्रसंगों में इसी स्वयं स्व या आत्मस्वरूप का वर्णन किया है। इस प्रसंग में भी 'निज' शब्द द्वारा उस स्वयं प्रकाश आत्मा की ओर ही उन्होंने इंगित किया है। इसका अगर नाम द्वारा निर्देश करना हो तो जिस किसी नाम से निर्देश किया जा सकता है, उससे कुछ होने जाने का नहीं। क्योंकि यह अन्य-निरपेक्ष स्वतन्त्र है। ब्रह्म, आत्मा, सर्वेश्वर, भगवान् जिस किसी नाम का क्यों न व्यवहार किया जाए मूल में सभी नाम इस स्वयंप्रकाश परम वस्तु को ही लक्ष्य करते हैं। इस वस्तु का जन्म नहीं है, इसलिए इसकी मृत्यु भी नहीं है। इस वस्तु की अनवच्छिन्न प्रकाशमानता कभी खण्डित नहीं होती। इसीलिए स्वरूप में वस्तु की भूल कभी नहीं होती। अतएव जहाँ भूल नहीं होती वहाँ भूल निवृत्त करने का अवसर कहाँ। और जिसे भूल कहा जाता है उसकी भी सत्ता न हो सो बात नहीं है। एवं वह सत्ता यदि स्वीकार्य हो तो भूल-निवृत्ति-सत्ता भी अस्वीकार्य नहीं हो सकती। फिर यह भूल होना और इस भूल की निवृत्ति दोनों परस्पर विरुद्ध होने पर भी खण्डप्रकाश में नित्य प्रकाशमान हैं। खण्डभाव में जिस किसी दृष्टिकोण से चाहे जिस किसी भाव की दर्शनप्राप्ति हो एवं ये सब दर्शन परस्पर जितने ही विरुद्ध हों मूल में तो सब उस महाप्रकाश से भिन्न कुछ नहीं है। व्यावहारिक भूमि में यह समझाना अत्यन्त कठिन है। समझना भी कठिन है, क्योंकि दोनों ही बुद्धि के व्यापार हैं। किन्तु परमार्थ सत्य बुद्धि के अतीत है। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि बुद्धि तथा बुद्धिस्थित प्रतिबिम्ब उस परमार्थ प्रकाश से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

२—झाँकी दर्शन

ऐसा एक स्थान है जिसमें प्रकाश और अप्रकाश के बीच कोई विरोध नहीं है, यहाँ तक कि विरोध का प्रश्न भी नहीं हो सकता। वस्तुतः जागतिक दृष्टि से यदि कहा जाय तो वही वास्तविक प्रकाश है। क्योंकि प्रकाश के प्रतियोगी के रूप में यदि अप्रकाश रहता है तो ऐसी स्थिति में उस प्रकाश को अखण्ड प्रकाश कहना नहीं बनता। इसलिए वास्तविक प्रकाश जब फूट उठता है तब फिर उसका अप्रकाश होने की सम्भावना नहीं रहती, एवं उस सम्भावना के न रहने के कारण वह प्रकाश अखण्ड प्रकाश रूपी है। उसे तब फिर परम प्रकाशरूप में पहिचाना नहीं जा सकता। जिसे झाँकी-दर्शन कहा जाता है, वह क्रम के बिना एक मुहूर्त में प्रकाश के रूप में फूट उठता है। किन्तु बिजली की कौंध के समान

दूसरे ही क्षण में वह विलीन हो जाता है। जब प्रकाश खुलता है तब वह पूर्ण प्रकाश ही प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में वह पूर्ण नहीं है। उस प्रकाश की सत्ता में प्रकाश के समय भी गुप्त रूप से अप्रकाश घुसा रहता है। यदि न रहता तो दूसरे क्षण में वह प्रकाश अप्रकाश के रूप में कैसे परिणत होता? वह चिरस्थायी क्यों नहीं होता। अप्रकाश के बीज प्रकाश में रहते हैं, इसीलिए प्रकाश के अन्त में अप्रकाश का आविर्भाव होता है। इसी का माँ ने स्फुलिंग कह कर अस्थायी झाँकी-दर्शन के नाम से वर्णन किया है। किन्तु इसके सिवा जो वास्तविक प्रकाश है वही पूर्ण है। इस खण्ड प्रकाश में अखण्ड प्रकाश की महिमा पाई नहीं जा सकती। पर इसका भी एक स्थान है। दाहिका शक्ति पूर्ण होने पर भी उसके प्रभाव से सब अप्रकाश सदा के लिए जल जाते हैं। वे बीज रूप से प्रकाश में रहकर भविष्य के लिए प्रतीक्षा नहीं करते। इसीलिए माँ ने कहा है, 'स्थान तो अनन्त हैं न। दाहिका शक्ति भी पूर्ण है, किन्तु झाँकी रूप विशेष प्रकार के स्फुलिंग में पूर्णता कहाँ? जहाँ है भी वहाँ वही है।'

३—प्राकृत और अप्राकृत

विचार की एक अवस्था में प्राकृत से अप्राकृत को पृथक् करके दिखाने की चेष्टा की जाती है। इस दृष्टि में प्राकृत अलग है एवं अप्राकृत अलग है। किन्तु प्राकृत से अप्राकृत में प्रविष्ट होने पर प्राकृत न रह कर भी रहता है, प्राकृत केवल दब जाता है। किन्तु प्राकृत का रूपान्तर अथवा लोप नहीं होता। किन्तु ऐसी भी स्थिति है जहाँ प्राकृत और तथाकथित अप्राकृत दोनों को एक ही दृष्टि से एक ही प्रकार देखा जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्राकृत-अप्राकृत-विभाग पूर्ण सत्य की दृष्टि के अनुसार नहीं है।

४—कर्त्तव्य-निर्देश

मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार किसी एक स्थिति को अपना रूप मान बैठता है। किन्तु उसका यह रूप पूर्णरूप नहीं है। क्योंकि पूर्ण रूप में रूप-अरूप का परस्पर विरोध मिट जाता है। रूप और अरूप एक ही वस्तु हैं यह अनुभव में न आने पर सम्पूर्ण रूप अनुभव का विषय नहीं हो सकता। पहले खण्डरूप से सम्पूर्णरूप की उपलब्धि आवश्यक है। इस उपलब्धि में रूप-अरूप का चिर समन्वय हो जाता है। इसके अनन्तर केवल सम्पूर्णरूप के बोध में स्थिति ग्रहण करना चलेगा नहीं। क्योंकि यह भी परम स्थिति नहीं है। बोध और अबोध के अतीत

जो स्थिति है वही प्राप्त होनी चाहिए। अतएव पूर्ण बोध प्राप्त करके ही बोध में विश्राम लेने का अवसर कहाँ ? क्योंकि बोध के रहने पर ही उसको आवृत कर अबोध रहेगा। क्योंकि बोध और अबोध परस्पर-सापेक्ष सत्ता है। इसलिए बोध-प्राप्ति के अनन्तर ऐसी एक स्थिति प्राप्त होना आवश्यक है जहाँ बोध और अबोध का द्वन्द्व सदा के लिए मिट जाता है। यहीं यथार्थ प्रकाश की महिमा है—केवल बोध का प्रकाश ही मुख्य प्रकाश नहीं है।

५—दर्शन का कौशल

माँ कहती हैं, एकमात्र स्वयं ही सदा सर्वत्र विराजमान है। दूसरा न कोई है, न था और न रहेगा ही एवं यह एकमात्र वस्तु 'तुम' है अथवा यही 'मैं' है क्योंकि यहाँ पर तुम और मैं एक ही वस्तु हैं। इसलिए यथार्थ दृष्टि वही है जो सर्वदा इस एक का निरीक्षण करती है। यहाँ तक कि जब परिधि या सीमा का दर्शन होता है तब यह सीमाबद्ध दर्शन भी असीम के दर्शन के रूप में गृहीत होता है, क्योंकि जो कुछ भी जहाँ प्रकाशमान है सभी तो उस अनन्त का ही प्रकाश है। इसलिएं सीमा के रूप में, खण्ड के रूप में जो प्रकाश है वह भी उस अखण्ड प्रकाश का ही अंग है। यही दृष्टि समीचीन दृष्टि है,—वास्तव में खण्ड कुछ भी नहीं है।



बाईस

१–सब अवस्थाओं में प्रकाश

यहाँ प्रकाश कहने से पूर्णसत्ता का प्रकाश समझना चाहिए। पूर्णसत्ता स्वतन्त्र, स्वयंप्रकाश और निरपेक्ष है। यह अपने को प्रकाशित करने के लिए किसी साधन अथवा किसी उपाय की अपेक्षा नहीं करती। इसलिए यदि कोई यह सोचे कि वह साधना द्वारा उच्च स्तर पर नहीं पहुँच सकता, उसको पूर्ण आत्मा का प्रकाश होना सम्भव नहीं है, तो यह उसकी भूल होगी। साधना की आवश्यकता है, क्योंकि कर्तृत्वाभिमान हटाने के लिए साधना की जरूरत है। कर्म करके साक्षात् रूप से कुछ न मिलने पर भी अपना अभिमान चूर हो जाता है, यही कर्म का मुख्य फल है। परम वस्तु अपनी साधना या चेष्टा के अधीन नहीं है, यह जता देना ही कर्म का फल है। इसलिए वास्तविक सत्य उपदेश यह है कि प्रत्येक मनुष्य को सदा उस महाप्रकाश की प्रतीक्षा में रहना चाहिए। अपनी योग्यता या दुर्बलता सोच कर अपने को प्रकाश का पात्र न मानना बुद्धिमानी नहीं है। खण्ड प्रकाश में तो क्रम और योग्यता का निर्दिष्ट स्थान है। किन्तु अखण्ड प्रकाश बाहरी किसी साधन पर निर्भर नहीं रहता, जब वह अपने को प्रकाश में लाने को उद्यत होता है तब कोई भी बाधा उसे रोक नहीं सकती। योग्यता न रहने पर भी योग्यता का आधान महाकरुणा से होने में कितनी देर लगती है। इसलिए साधारण नियम यह है कि प्रत्येक मनुष्य को उस महासत्य के अभिनन्दन के लिए तैयार रहना चाहिए।

विद्वान्, अविद्वान्, धनी, निर्धन, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, उद्यमी, निरुद्यमी किसी प्रकार का भेद मानने की जरूरत यहाँ नहीं है। इसलिए माँ ने कहा है, "भाव यह रखना चाहिए कि चाहे किसी अवस्था में क्यों न रहूँ, वहीं प्रकाश होगा। कभी भी यह न सोचना चाहिए कि अरे मैं इन सब दुष्कर्मों में लिप्त रहा हूँ—मेरा कुछ भी नहीं होगा। सदा भगवान् के पथ पर चलने के लिए तैयार रहा चाहिए।" तात्पर्य यह है कि महाप्रकाश का कब आविर्भाव होगा यह कोई

नहीं जानता । जिस किसी क्षेत्र में उसका आविर्भाव हो सकता है । इस लिए प्रत्येक को उसके आवाहन के लिए तैयार रहना आवश्यक है ताकि जब वह महाप्रकाश बाढ़ की भाँति आ जायेगा तब कोई सोया न रह जाये । शिवरात्रि की रात्रि में जैसे जागरण किया जाता है वैसे ही सबको इस महाप्रतीक्षा में जगा रहना चाहिए । भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के राज्य में असम्भव कुछ भी नहीं है ।

२–दीक्षा

दीक्षा के सम्बन्ध में शास्त्रों में कहा गया है कि आध्यात्मिक जीवन के पथ पर यदि उन्नति प्राप्ति करनी हो तो दीक्षा लेना साधारण रूप से अत्यन्त आवश्यक है । जीव वास्तव में शिव से अभिन्न है । क्योंकि भगवान् स्वयं ही लीलावश जीव का स्वांग बनाकर साधक-जगत् में प्रकट हुए हैं । और जिस मत में जीवस्वरूप नित्य और भगवत्स्वरूप का अंशरूप है उस मत में भी अनादिकाल से ही इस मायिक जगत् में जीव चक्कर लगा रहा है । इसीलिए आचार्यों ने जीव को अनादि बहिर्मुख कहा है । दोनों ही मतों में जीव के नित्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान गुरु से ही मिलता है । जिस रीति से गुरु शिष्य को यह अपरोक्ष ज्ञान प्रदान करते हैं उसी का नाम दीक्षा है । कुलार्णव तन्त्र में कहा है—

दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना ।
तस्मात् दीक्षेति सा प्रोक्ता ज्ञानिभिस्तन्त्रवेदिभिः ।।

अर्थात् विमल ज्ञान की प्राप्ति और कर्मवासना का क्षय–इन दोनों की प्राप्ति के बिना दीक्षा की वास्तविक सार्थकता सिद्ध नहीं होती । किसी-किसी तन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि पापक्षय और शिवतत्वप्राप्ति ये दोनों व्यापार दीक्षा के लक्षण हैं । अर्थात् जिस ज्ञान के सम्बन्ध से पापक्षय होता है और शिवत्व प्राप्त होता है वही वास्तविक दिव्य ज्ञान है । कैवल्य-मुक्ति दीक्षा का फल नहीं है । क्योंकि दीक्षा के बिना भी आत्मा और अनात्मा का विवेक-ज्ञान होने पर आत्मा को कैवल्य मुक्ति प्राप्ति हो सकती है । किन्तु उसमें परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता । इसलिए शिवस्वरूप जीवात्मा को इस प्रकार का कैवल्य परम पुरुषार्थ रूप हो सकता है, ऐसा विवेचित नहीं हो सकता । शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि जीव दीक्षा के सिवा अन्य किसी उपाय से पौरुष अज्ञान से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता एवं यह भी सत्य है कि पौरुष अज्ञान के हटे बिना शिवरूपी जीव की शिवत्वप्राप्ति असम्भव है । पौरुष अज्ञान के हट जाने पर भी जब तक बौद्ध

अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती तब तक जीव को दीक्षा से प्राप्त हुए अपने शिवत्व की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिए साधना के द्वारा बौद्ध ज्ञान को उत्पन्न कर बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति की जाती है। तब गुरुकृपा से प्राप्त अपना शिवस्वरूप अपने सामने व्यक्त होता है। तब जीव अपने को शिवस्वरूप जानता है एवं जीवन्मुक्ति का रसास्वादन करता है। प्रारब्ध भोग के अन्त में देहत्याग के समय पौरुष ज्ञान का उदय होता है। तब वास्तविक शिवस्वरूप में स्थिति होती है। यह दीक्षा का व्यापार आत्मा के अपने दिव्य ज्ञान के उन्मेष का द्वार रूप है। षट्चक्र भेद का जो फल है सद्गुरु से प्राप्त दीक्षा का भी वही फल है। अर्थात् ज्ञानचक्षु का खुलना। षट्चक्रभेद—प्रक्रिया में स्वयं परिश्रम कर कुण्डलिनी को जाग्रत् कर चक्र के बाद चक्र का भेद करना पड़ता है। किन्तु सद्गुरु द्वारा दी गयी दीक्षा में गुरुकृपा से ही जीव के आवरण की निवृत्ति हो जाती है। परन्तु जब तक चित्त निर्मल नहीं होता तब तक जीव इस निरावरण सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता। इसके लिए योगादि साधनों की आवश्यकता होती है।

३—गुरु और सद्गुरु

गुरु और सद्गुरु दोनों एक ही हैं। क्योंकि असद्गुरु कोई वस्तु नहीं है। परन्तु समझाने की सुविधा के लिए गुरु से सद्गुरु की विलक्षणता दिखलाई जाती है। जिनकी कृपा से पूर्ण सत्य का रूप प्रत्यक्ष होता है, जिस प्रयक्ष के बाद फिर कोई आवरण नहीं रहता वे ही सद्गुरु हैं। जो आवरण की आंशिक निवृत्ति में सहायक होते हैं वे गुरु कहे जाते हैं। जो आवरण की अंशतः भी निवृत्ति करने में सहायता नहीं कर सकते उन्हें गुरु नहीं कहा जा सकता। तान्त्रिक रीति से जो दीक्षा देते हैं वे ही गुरु हैं। वास्तव में गुरु एकमात्र भगवान् ही हैं, दूसरा कोई भी गुरु नहीं है। किन्तु जीव साक्षात् उन्हें पहचान नहीं सकता, इसलिए वे योग्य आचार्य में शिष्य के उद्धार के लिए प्रकट होते हैं। आचार्य भी इस कारण गुरु कहे जाते हैं। दुर्गाजी की प्रतिमा में जैसे महाशक्ति जगदम्बा का अधिष्ठान होने से प्रतिमा भी दुर्गा कही जाती है, वैसे ही जिस शरीर का अवलम्बन कर नित्य गुरुशक्ति कार्य करती है उस शरीर को भी गुरु कहा जाता है। यही आचार्यदेह है। आचार्य के साथ परमेश्वर का साक्षात् अथवा परम्परा से सम्बन्ध स्थापित हुए बिना आचार्य भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने में समर्थ नहीं होते। आचार्य जीवों के उद्धार के काम में केवल निमित्त-मात्र हैं। वास्तव में गुरुरूपी

भगवान् ही यथार्थ कर्ता-धर्ता हैं। यह प्रश्न हो सकता है कि इस तरह निमित्त का आसरा लिये बिना क्या भगवान् अनुग्रह नहीं कर सकते? इसका उत्तर यह है कि अवश्य कर सकते हैं। परन्तु साधारणतः वे वैसा नहीं करते। उनका अनुग्रह-प्रदान दो तरह का जानना चाहिए। एक को साधिष्ठान अनुग्रह कहते हैं और दूसरे को कहते हैं निरधिष्ठान अनुग्रह। भगवान् स्वरूप से वास्तविक माया या महामाया के अतीत हैं। इसलिए उनके स्वरूप से अनुग्रह लाभ सबके भाग्य में बदा नहीं रहता। जो जीव प्राकृतिक या मायिक देह में बँधे हैं वे भगवत्स्वरूप से निकली हुई अनुग्रहशक्ति को धारण नहीं कर सकते। जो जीव विवेकज्ञान के प्रभाव से प्रकृति अथवा माया से पृथक् हो चुके हैं और जिनका जीवत्व या पशुत्व दिव्य ज्ञान प्राप्त न होने के कारण अब भी निवृत्त नहीं हुआ, उन सब विदेह-कैवल्य आत्माओं में जिनका मन परिपक्व हो चुका उनके ऊपर मलपाक के तारतम्य के अनुसार नवीन सृष्टि के पहले भगवान् स्वयं अनुग्रह करते हैं अर्थात् दीक्षा प्रदान करते हैं। यह निरधिष्ठान दीक्षा देने का दृष्टान्त है। इसमें आचार्य की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि यह सृष्टि के पूर्व की अवस्था की बात है। सृष्टि के अन्तर्गत जीव साधारणतः आचार्य से ही दिव्य ज्ञान प्राप्त करते हैं। अवश्य स्वातन्त्र्यमय परमेश्वर के लिए सदा सब कुछ सम्भव है। हम साधारणतः जिस आचार्य गुरु की चर्चा करते हैं उनका शरीर मनुष्यस्तर के अन्तर्गत है। किन्तु ध्यान रखना होगा कि सिद्ध और दिव्यस्तर में भी गुरुशरीर रह सकता है एवं वर्तमान युग में भी अनेक लोग उस तरह के गुरुओं से दीक्षा प्राप्त करते हैं।

गुरु के खण्ड होने पर भी यदि परम तत्त्व का साक्षात्कार न हुआ हो तो उन्हें सद्गुरु नहीं कहा जाता। किन्तु खण्डगुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान में पूर्णता के अभाव से एक क्रमिक भाव या तारतम्य विद्यमान रहता है। तदनुसार यह कहा जाता है कि गुरु स्वयं जिस स्तर पर रहते हैं, शिष्य को भी दीक्षा द्वारा वहाँ तक पहुँचा दे सकते हैं। गुरु का ज्ञान यदि खण्ड न हो तो यह शंका नहीं उठ सकती।

४—दीक्षा की प्रणालियाँ

शास्त्रानुसार दीक्षा या शक्तिपात में साधारण रूप से कुछ-कुछ भेद दरसाया जाता है। क्योंकि शक्तिपात होता है साक्षात् परमेश्वर से। उनके सिवा अनुग्रह करने की क्षमता और किसी में भी नहीं है। सापेक्ष अनुग्रह निम्नस्तर में हो सकता है। किन्तु परम अनुग्रह करने की योग्यता एकमात्र भगवन् में ही है।

परम अनुग्रह से नाना प्रकार की उच्च अवस्थाएँ प्राप्त हो सकती हैं। जिस जीव में शक्तिपात हो चुका हो एकमात्र वही जीव दीक्षा-प्राप्ति का उपयुक्त पात्र है। आचार्य गुरु यदि ज्ञानी हों तो वे दृष्टिमात्र से जान सकते हैं कि किसको शक्तिपात हुआ है और किसको नहीं। जिसमें शक्तिपात नहीं हुआ ऐसे जीव को ज्ञानी गुरु कदापि दीक्षा नहीं देते। दीक्षा क्रियाशक्ति का कार्य है। मूल में यह परिपूर्ण ज्ञान और कर्म की अभिन्नतामय चित्शक्ति का काम है। सृष्टि से पहले विदेह आत्मा को भगवान् स्वयं दीक्षा देते हैं। वहाँ ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति में भेद नहीं रहता, यद्यपि आधार के भेद के अनुसार संचारित शक्ति की मात्रा में तारतम्य रहता है। सृष्टि के अन्दर देहविशिष्ट जीव पर यदि अनुग्रह करना हो तो आचार्य को कर्मशक्ति के व्यापार का आसरा लेना पड़ता है, इसलिए शक्तिपात का मूलभूत व्यापार केवल भगवत्सापेक्ष रहता है। शक्तिपात का आशय यह है कि किसी जीव को उत्कर्ष में पहुँचाने के लिए भगवान् ने इच्छा की। अर्थात् किसी भाग्यशील जीव के ऊपर कृपार्द्र दृष्टि से उसकी ओर लक्ष्य करके ही आचार्य दीक्षा देने को अग्रसर होते हैं। दीक्षा से ज्ञान और क्रिया दोनों शक्तियों का संचार होता है। ज्ञानशक्ति की मात्रा आंशिक रहती है। आधार के आपेक्षिक बलाबल के ऊपर निर्भर होकर संचारित शक्ति के तारतम्य का निरूपण करना चाहिए। अर्थात् दीक्षा के साथ ही साथ पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्ति होने पर भी क्रियाशक्ति में कमी रहने पर उस ज्ञान के साथ संसृष्ट ऐश्वर्य में तारतम्य रहता है। जब ज्ञान और कर्म दोनों ही पूर्ण होते हैं, एकमात्र तभी शिवत्व अवस्था की अभिव्यक्ति होती है उससे पहले नहीं।

दीक्षा व्यापार मूल में एक ही है, किन्तु प्रणाली अथवा प्रक्रिया के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार है। माँ ने प्रस्तुत प्रसंग में मन्त्रदीक्षा, स्पर्शदीक्षा, दृष्टिदीक्षा और उपदेशदीक्षा की बात कही है—ये सब दीक्षा के प्रकार-भेद हैं। शास्त्र में कहा है दीक्षा दो प्रकार की है—बाह्य दीक्षा और आन्तर दीक्षा। बाह्य दीक्षा का नाम क्रियादीक्षा है और आन्तर दीक्षा का नाम वेधदीक्षा। दीक्षा के प्रसंग में पंचभूतों की आवश्यकता होती है। पहले जो बाह्य दीक्षा की बात कही गयी है वह पृथ्वी और जल के उपकरण-स्थान में जाननी चाहिए। किन्तु भीतरी दीक्षा में इन उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। उनके बजाए तेज, वायु, आकाश और मन की आवश्यकता होती है। तेज के संचार से जो दीक्षा सम्पन्न होती है उसका नाम चाक्षुषी दीक्षा है। उसी का दूसरा नाम दृष्टिदीक्षा है। क्योंकि गुरु

की करुणापूर्ण दृष्टि से निकले हुए एक विशेष तेज से वह दीक्षा सम्पन्न होती है। वैसे ही वायु के द्वारा जो दीक्षा-कार्य सम्पन्न होता है उसका नाम स्पर्शदीक्षा है। स्पर्श वायु का ही धर्म है। आकाश का धर्म शब्द है। इसलिए आकाशधर्म शब्द द्वारा जो दीक्षा निष्पन्न होती है वह शाब्दिक दीक्षा है। मन्त्रदीक्षा इसी के अन्तर्गत है। मन के द्वारा दीक्षा कार्य होने पर उसे ध्यानदीक्षा कहते हैं। चाक्षुषी दीक्षा से स्पर्शदीक्षा सूक्ष्म है। स्पर्शदीक्षा से शब्ददीक्षा सूक्ष्म है। शब्ददीक्षा से मानसिक दीक्षा सूक्ष्म है। ये सब तेज या शक्ति आदि जड़ शक्ति में परिगणित हैं। चित्शक्ति ही मुख्य शक्ति है। दीक्षा वास्तव में उसी की क्रिया है।

क्रियादीक्षा में होम आदि बाह्यक्रिया की जरूरत पड़ती है। किन्तु सूक्ष्म दीक्षा में उसकी जरूरत नहीं होती। चाक्षुषी क्रिया गुरु के शिष्य की ओर दृष्टि डालने से होती है। मछली जैसे अपने अण्डे की ओर दृष्टि डाल कर अण्डे को फोड़ डालती है एवं उसके बाद भी प्रकट हुए सन्तान का दृष्टि से ही पोषण करती है गुरु भी ठीक वैसा ही करते हैं। कुलार्णव तन्त्र में कहा है, 'स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत्। दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परमेश्वरि।' स्पर्श दीक्षा स्थल में गुरु अपने हस्त आदि द्वारा शिष्य के शरीर के किसी अंग का स्पर्श कर उसका संसार से उद्धार करते हैं। इस दीक्षा का दृष्टान्त पक्षी है। चिड़िया अपने पंखों के स्पर्श से अण्डे के भीतर से बच्चे को बाहर निकलती है एवं ऐसे स्पर्श से ही उसका पोषण करती है। जिसे मानसी दीक्षा कहा गया है, वही वेधदीक्षा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें गुरु केवल ध्यानस्थ होकर दीक्षा प्रदान करते हैं। कूर्म या कछवा जैसे स्वयं जल में रहकर भी तीर की मिट्टी के भीतर छिपाये हुए अपने अण्डों को केवल मानसिक चिन्तन से फोड़ डालता है यह कुछ अंशों में वैसा ही है। योगवासिष्ठ रामयण में कहा है—

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद् यः समावेशं शाम्भवं स हि दैशिकः॥

अर्थात् जो दृष्टि द्वारा, स्पर्श द्वारा, अथवा शब्द द्वारा कृपापूर्वक शिष्यदेह में शिवावेश का उत्पादन करने में समर्थ हों वे ही वास्तविक गुरु हैं। यहाँ मूल है कृपा। उसके बाद दर्शन, स्पर्श और शब्द ये तीन कृपा प्रयोग के भेदमात्र हैं। शिवपुराण में लिखा है—

गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शाद् सम्भाषणादपि।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोः पाशोपक्षयकारिणी ॥'

यहाँ पर भी पूर्वोक्त ही तीन प्रकार कहे गये हैं । माँ ने भी इस प्रसंग में इन्हीं सब भेदों की बात कही है ।

५—दीक्षादान का समय

बहुत से लोग यह सोचते हैं कि जो आध्यात्मिक मार्ग में साधना कर रहे हों वे दूसरों को दीक्षा देकर उसकी सहायता कर सकते हैं । परन्तु यद सोचना भूल है । दीक्षा पाने पर ही दीक्षा नहीं दी जा सकती । स्वयं दीक्षा न पाने पर तो बात ही क्या है ? दीक्षा पाने के बाद जब तक सिद्धि प्राप्त न हो जाये तब तक अर्थात् लक्ष्य स्थान तक न पहुँचने तक दूसरों को दीक्षा देने की योग्यता पैदा नहीं होती । साथ ही साथ यह भी सत्य है कि सिद्धि प्राप्त करने पर भी दीक्षा देने का अधिकार निश्चित रूप से प्राप्त हो जाता है, यह कहना भी नहीं बनता । शक्ति-संचार करने का एक विशेष अधिकार होता है । शक्तिलाभ हुए बिना तो वह होता ही नहीं, किन्तु शक्तिलाभ करने पर भी जब तक शक्ति को नियन्त्रित न किया जाये तब तक उसका संचार नहीं किया जा सकता । जिन्होंने भगवान् को प्राप्त करने का मार्ग अपनाया है उसके लिए भगवत्प्राप्ति के पूर्व शक्ति का अपव्यय करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उससे दूसरों की भगवत्प्राप्ति में उपकार तो होता नहीं, किन्तु अपनी भगवत्प्राप्ति की सिद्धि में भी बाधा पड़ती है । भगवत्प्राप्ति के पहले दीक्षा देने पर अपनी उन्नति के मार्ग में प्रचुर विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं । भगवत्प्राप्ति हो जाने पर उनके निर्देशानुसार या उनसे समाविष्ट होकर दीक्षा देना अलग बात है । उससे अपनी कोई हानि नहीं होती और दूसरे का कल्याण होता है ।

६—गुरु और जगद्गुरु

जो गुरु के पद पर आसीन हों वे यदि जगद्गुरु के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करें तो उस गुरुदेह के द्वारा ही जगत्गुरु की क्रिया करते हैं । किन्तु जगद्गुरु के साथ तादाम्य-बोध न रहने पर वास्तविक गुरु ही नहीं हुआ जाता। तथापि यदि कोई गुरु का काम करें एवं उनके ऊपर यदि शिष्य पूर्णरूप से निर्भर रहे तो शिष्य की उन्नति का मार्ग एक प्रकार से रुक जाता है । क्योंकि गुरु के अग्रसर हुए बिना उसके आश्रित शिष्य के लिए अग्रसर होना सम्भव नहीं है । किसी विशेष कारण से गुरु यदि कुछ दिनों तक गतिहीन शुद्ध अवस्था में रहें तो

शिष्य को भी वैसी अवस्था में रहना पड़ेगा। शिष्य गुरु को लाँघ कर आगे नहीं बढ़ सकता। किन्तु शिष्य यदि गुरु का जगद्गुरु के रूप में विश्वास करे तो उसके लिए उन्नति का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। अनेकों जगह गुरु के सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व शिष्य को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसीलिए शास्त्र में सर्वत्र गुरु पर भगवान् के रूप में विश्वास करने की व्यवस्था है। गुरु अपने साधन के बल से यदि भगवत्ता प्राप्त न भी करे तो भी शिष्य अपने विश्वास के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।



तेईस

१–पथ और लक्ष्य का भेद

साधारणतः सर्वत्र यह प्रसिद्ध है कि विभिन्न मत या पथ परस्पर भिन्न होने पर ही सत्य हो सकते हैं। किसी एक के सत्य होने पर भी दूसरा उससे भिन्न होने के कारण असत्य हो जायेगा ऐसी कोई बात नहीं है। यह यदि जानना हो तो दोनों ओर से ही विचार करना होगा। एक ओर लक्ष्य का भेद और दूसरी ओर लक्ष्य का ऐक्य। जहाँ लक्ष्य भिन्न है वहाँ पथ यदि भिन्न हो तो विरोध का कोई प्रश्न ही न उठे। क्योंकि जिसका जो लक्ष्य है वह उस लक्ष्य की प्राप्ति के उपाय का मार्ग ही ग्रहण करता है। लक्ष्य के भेद से पथ का भेद स्वाभाविक है। इस सरल सत्य को समझने में किसी को असुविधा नहीं होगी। किन्तु यह भी सत्य है कि लक्ष्य एक होने पर भी पथ भिन्न हो सकते हैं। यदि एक विश्वनाथ मन्दिर में जाना हो तो नाना मार्गों से जाया जा सकता है। यह मिथ्या बात नहीं है। किन्तु इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यात्री कहाँ है और कैसी उसकी रुचि है। साधक की व्यक्तिगत रुचि, संस्कार, सामर्थ्य आदि के अनुसार मार्ग निर्धारित होता है। महिम्नस्तोत्र में लिखा है—पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए नाना प्रस्थान हैं। पथिकों की आवश्यकता और योग्यता के अनुसार अधिकार-भेदवश उनमें कोई किसी का हितावह और उपकारी होता है। कोई सीधे मार्ग से जाता है तो कोई टेढ़े मार्ग से घूम कर जाता है। इसमें भी रुचि की विचित्रता काम करती है। किन्तु उससे एक लक्ष्य में पहुँचने में बाधा नहीं होती। पर समय अधिक लगता है, यह सत्य है। सब नदियाँ जैसे घूम-फिर कर समुद्र में जा गिरती हैं, वैसे ही सभी पथ सीधे न होने पर भी घूम फिर कर गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाते हैं। 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।' इस प्रसंग में प्रश्न उठता है कि लक्ष्य पृथक् रहने पर भी परम लक्ष्य एक कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि स्थूल दृष्टि से लक्ष्य का भेद रहने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। सालोक्य, सामीप्य, लीला प्रवेश, निर्वाण जो भी क्यों न कहा जाये सब कुछ परम लक्ष्य के अन्तर्गत है। अन्त में परम लक्ष्य की प्राप्ति न होने तक एक

तरह से मार्ग में रहना हुआ, कहना पड़ेगा। इसीलिए माँ ने कहा है, 'जहाँ मत और वादविवाद नहीं है वहाँ मूल में वही है। वही इन नाना आकारों में है।' उन्होंने आगे और कहा—'अन्त रहने पर काल है और काल रहने पर अकाल है। यह अन्त और काल का जहाँ प्रश्न नहीं रहता वहाँ मिलोगे'।

२—सांसारिक सुख और ईश्वरीय सुख

सांसारिक सुख यथार्थ सुख नहीं है। क्योंकि इस सुख से भी दुःख है, साथ में भी वह है एवं पहले और पीछे भी है। ईश्वरीय सुख ही वास्तविक सुख है। वही परम सुख परमानन्द है, वह निरवच्छिन्न आनन्द है। उसमें अभाव का लेशमात्र भी नहीं रहता। यद्यपि सांसारिक सुख भी स्वरूपतः ब्रह्मानन्द से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, तथापि वह भगवत्सुख के कण का कणमात्र है। ईश्वरीय सुख का स्वरूप यह है कि इस सुख की प्राप्ति के साथ ही साथ अपनी प्राप्ति हो जाती है। अपनी प्राप्ति होने पर कुछ भी पाना अवशिष्ट नहीं रहता। इसीलिए फिर अभाव नहीं जागता, दुःख पास में नहीं आता। वस्तुतः यही पूर्णत्व लाभ है। इसीलिए माँ ने उपदेश देते हुए कहा है, "थोड़ा लेकर सुखी मत होओ। पूर्ण होओ, पूर्णांगीण हो कर मुझे पाओ।" इसके द्वारा उन्होंने यही सूचित किया कि पूर्ण हुए बिना माँ को पाया नहीं जाता अर्थात् अपने को पाया नहीं जाता। क्योंकि माँ भी निज स्वरूप से अभिन्न हैं।



चौबीस

१–ब्रह्मज्ञानी

माँ ने कहा, 'है और नहीं है कहने पर यदि विरोध प्रतीत हो तो खण्ड ज्ञान का ब्रह्मज्ञानी है।' अर्थात् यथार्थ ब्रह्मज्ञान में जब स्थिति होती है तब खण्ड भाव नहीं रहता एवं उसमें किसी प्रकार का विरोध भी प्रतीत नहीं होता। जागतिक दृष्टि से जहाँ साफ़ साफ विरोध की प्रतीति होती है, ब्रह्मदृष्टि में वहाँ उसका आभासमात्र भी नहीं दीखता। ब्रह्म एक और अद्वितीय है, इस अद्वितीय अखण्ड एक सत्ता का यदि भान हो जाये तो फिर द्वितीय का भान होने की संभावना नहीं रहती। और द्वितीय का भान न होने पर विरोध की सम्भावना कैसे हो सकती है? भगवान् शंकराचार्य के परमगुरु आचार्य गौडपाद ने इसीलिए ब्रह्मज्ञान की अवस्था में किसी प्रकार का विरोध नहीं रह सकता, ऐसा उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥

अर्थात् जो लोग द्वैतवादी या भेदवादी हैं उनका अपने-अपने सिद्धान्त की व्यवस्था में दृढ़ आग्रह है। इसीलिए एक द्वैतवादी के साथ दूसरे द्वैतवादी का स्वभावतः ही विरोध होता है। किन्तु जो अद्वैतवादी ब्रह्मज्ञानी हैं उनका विरोध किसी के साथ नहीं हो सकता। क्योंकि वे सबको अपने साथ एक और अभिन्न समझते हैं। भेददर्शन के अभाव में विरुद्ध भाव का उदय नहीं होता। भगवान् शंकराचार्य ने भी कहा है–"सर्वानन्यत्वाद् आत्मैकत्वदर्शनं वस्तुषु न विरुद्धयते।" अर्थात् सबके साथ अनन्य अर्थात् अभिन्न होने के कारण आत्मा का एकत्वदर्शन किसी का भी विरोधी नहीं है। एक ही वस्तु अनन्त विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित हो रही है। किन्तु इस अनन्त वैचित्र्य में भी वस्तु का स्वप्रकाश एकत्व रत्तीमात्र भी क्षुण्ण नहीं होता। वास्तव में वैचित्र्य अथवा नानात्व भी कल्पित या आरोपित दृष्टि से कहा गया है। उस परम स्थिति में एक ही परम सत्य का भान होता है।

लोकदृष्टि में अर्थात् व्यवहार-क्षेत्र में नानात्व का भान होता है, किन्तु वहाँ अर्थात् ब्रह्मदृष्टि में नानात्व का तिरोधान भी नहीं होता, स्फुरण भी नहीं होता। सब कुछ महान् अखण्ड एक सत्ता में प्रकाशरूप से स्फुरित होता है। माँ जो कहती हैं, उसका तात्पर्य यह है कि पूर्ण ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में स्वप्रकाश एकत्व में किसी प्रकार का भी विरोध विघ्न-बाधा नहीं पहुँचा सकता। इस अवस्था में बाहर-भीतर एक हो जाता है—अधः ऊर्ध्व एक हो जाता है, अतीत और अनागत एक हो जाता है, परम अणु और परम महान् एक हो जाता है। साकार निराकार, सगुण निर्गुण, सक्रिय और निष्क्रिय सब द्वन्द्व एक ही महान् प्रकाश के अन्तर्गत दिखाई देते हैं। यह ब्रह्मज्ञान ही पूर्ण ब्रह्मज्ञान है। यह अखण्ड है। देशगत, कालगत तथा आकार-गत, भावगत कोई भी परिच्छेद इसमें नहीं रहता। द्वितीय हो कर या द्वितीय रह कर महाज्ञान प्राप्त नहीं किया जाता। स्वयं ब्रह्म न हो सकने पर अर्थात् स्वयं नित्यसिद्ध ब्रह्मभाव में स्थितिलाभ न कर सकने पर इस तरह के अखण्ड ब्रह्म-ज्ञान का लाभ अथवा धारण नहीं बन सकता।

जिसे जागतिक दृष्टि में द्वैत अथवा नानात्व कहा जाता है, जो लौकिक दृष्टि में परस्पर विरुद्ध रूप से प्रतीत होता है, वह इस महाज्ञान में इस परम स्थिति में एक अखण्ड महासत्त्व के रूप में अपने को प्रकट करता है। इस अवस्था का उदय होने पर अर्थात् इस अवस्था में स्थिति होने पर च्युति या पुनरावर्तन की आशंका सदा के लिए निवृत्त हो जाती है।

प्रश्नकर्त्ता ने प्रसंगवश चार भूमियों का वर्णन किया है। उनमें पहली भूमि अज्ञानी और संसारी जीव की भूमि है। दूसरी भूमि में एकत्व का भान होता है ऐसा उन्होंने उल्लेख किया है, किन्तु वह स्थायी नहीं है। उन्होंने उसे निर्विकल्पक समाधिसिद्ध योगी की भूमि कहा है। यह कहना व्यर्थ है कि यह जो एकत्व का ज्ञान है, यह विशुद्ध नहीं है। क्योंकि यदि यह विशुद्ध होता है तो खण्डित न होता। क्षणभर के लिए भी यदि स्थिति भंग हो जाये तो वह स्थिति पूर्ण स्थिति नहीं है, यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि पूर्ण स्थिति या परम भूमि का लक्षण यही है—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते।" अर्थात् उसे प्राप्त कर उससे फिर लौटना नहीं पड़ता। कारण, आचार्यों ने उसका "सकृत् विभात" के नाम से वर्णन किया है अर्थात् उसका एक ही बार प्रकाश होता है एवं वही प्रकाश चिरस्थायी है। उसका बार-बार प्रकाश नहीं होता। प्रकाश के बाद अप्रकाश आने पर बार

बार प्रकाश की सम्भावना रहती है। प्राचीन वैष्णव दार्शनिकों ने इस प्रकार की स्थिति का शान्तोदित स्थिति के नाम से उल्लेख किया है। अर्थात् इसके उदय और अस्त हैं या आविर्भाव और तिरोभाव हैं। जो वास्तविक परम स्वरूप है वह शान्तोदित नहीं है, वह नित्योदित है। अर्थात् उस अवस्था के उदय के बाद फिर उसका अस्त नहीं होता। प्रश्नकर्त्ता की द्वितीय भूमि परम भूमि नहीं है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। उन्होंने जिसे तीसरी भूमि कहा है उसी अवस्था में एकत्व की गोद में बहुत्व भासता है अर्थात् ब्रह्म का आश्रय लेकर अनन्त विचित्रताओं से भरा जगत् भासता है। अवश्य प्रश्नकर्त्ता ने यहाँ जगत् को मिथ्या प्रतिभासित ही कहा है। सत्य का आश्रयण कर मिथ्या भासमान होता है, यही इस अवस्था की विशेषता है। यह ठीक भेदाभेद अवस्था है या नहीं, यह नहीं, कहा जा सकता। क्योंकि भेदाभेद अवस्था में भेद और अभेद दोनों ही सत्यरूप में गृहीत होते हैं। दोनों में विरोध नहीं दिखाई देता, वह समन्वय की दृष्टि है। किन्तु इस तृतीय भूमि में अभेद सत्य है, क्योंकि वह ब्रह्म का स्वरूप है एवं भेदात्मक जगत् भासमान होने पर भी सत्य नहीं है। वह बाधितानुवृत्त है। एक बात है। सत्य का पारमार्थिक रूप के सिवा जैसा एक व्यावहारिक रूप है वैसा ही एक प्रातिभासिक रूप भी है। तृतीय भूमि में ब्रह्म की गोद में भासमान जगत् यदि प्रातिभासिक सत्य के रूप में गृहीत हो तो ऐसी स्थिति में वह भूमि भेदाभेद रूप में वर्णित हो सकती है या नहीं यह विचारणीय है। अवश्य जगत् को सत्य मान कर भी ब्रह्म के आश्रय से उसकी प्रकाशमानता नहीं मानी जा सकती, ऐसी बात नहीं है। अंगी का आश्रय कर अंग की सत्ता को बहुत से दार्शनिकों ने स्वीकार किया है एवं उस स्थल में अंग का मिथ्या होने से वे प्रत्याख्यान नहीं करते हैं। इस विषय में बहुत प्रकार की दृष्टियाँ हैं, यहाँ उनकी आलोचना करना अप्रासंगिक होगा। प्रश्नकर्ता के मत से जो चतुर्थ भूमि है वही विशुद्ध अद्वैत भूमि है। उस भूमि में द्वैत का भान बिलकुल नहीं रहता। यह भूमि और माँ द्वारा उक्त पूर्ण ब्रह्मज्ञानी की स्थिति-भूमि सर्वथा एक ही है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। माँ के विवरण का ध्यानपूर्वक मनन करने पर दोनों भूमियों में भेद प्रतीत होता है, यह अनेक लोगों को स्पष्ट हो सकता है। अर्थात् लौकिक दृष्टि से जिसे द्वैत कहा जाता है उसे हटा कर या उसका अतिक्रमण कर अद्वैत स्थिति एवं उसका ग्रहण या आत्मसात् कर अद्वैत स्थिति—दोनों में भेद है। अवश्य स्थिति के स्वरूपगत एकत्व के सम्बन्ध में प्रकाशांश की दृष्टि से किसी प्रकार के पार्थक्य का विश्लेषण करना सम्भव नहीं है।

२–सर्वांगीण रूप से अपने को पाना

माँ कहती हैं, पूर्णब्रह्मभूमि में स्थित हुए बिना अपने को सर्वांगीण रूप से पाना नहीं बनता। जिस दृष्टि में ब्रह्म विश्व के अतीत है उस दृष्टि के अनुसार सर्वतत्त्वमय विश्व का अतिक्रम न कर सकने पर ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता। वस्तुतः यह विश्वातीत, निर्गुण, निष्कल, परब्रह्म का साक्षात्कार है। दूसरे पक्ष में विश्व के प्रत्येक अणु-परमाणु में उस परब्रह्म का आत्मप्रकाश है—यह अनुभव प्राप्त होने पर स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है कि जिसको लोग विश्व कहते हैं या जगत् कहते हैं वह भी वस्तुतः ब्रह्म ही है। अर्थात् विश्व ब्रह्म है एवं विश्व के बाहर भी ब्रह्म है। इस स्थल में ब्रह्मदर्शन करना हो तो विश्व के बाहर भी लक्ष्य करना होगा ऐसी कोई बात नहीं है। क्योंकि वही ब्रह्मसत्ता—एक ही रूप से, अक्षत स्वरूप से विश्व में भी देदीप्यमान है। यह ब्रह्मसत्ता ही पूर्ण ब्रह्म है। इस स्थल में भीतर और बाहर समान है और साकार तथा निराकार अभिन्न है। क्योंकि जो निराकार है वहीं तो साथ ही साथ सकार भी है एवं जो साकार है वह साकार रह कर भी निराकार है। साकार और निराकार इन दोनों का अभिन्न रूप से दर्शन ही पूर्ण-ब्रह्मसाक्षात्कार है। केवल साकारदर्शन ब्रह्मदर्शन हो सकता है, किन्तु वह पूर्णब्रह्म दर्शन नहीं है। केवल निराकारदर्शन भी ब्रह्मदर्शन हो सकता है, किन्तु वह पूर्ण-ब्रह्मदर्शन नहीं है। पूर्णब्रह्म कहने से साकार और निराकार का कोई प्रश्न ही नहीं रहता, ऐसा समझना चाहिए। साकार और निराकार का जो विरोध है, वह जागतिक दृष्टि का विरोध है। स्वरूप एक ही है। इस एक ही स्वरूप का दर्शन पूर्ण ब्रह्मदर्शन है। यही आत्मदर्शन है। माँ ने इसी को सर्वांगीण रूप से अपने को पाना कहा है। यह न होने पर भी अपने को पाया जा सकता है, पर आंशिक रूप से, सर्वांगीण रूप से नहीं। सर्वांगीण आत्मदर्शन होने पर जगत् में सब कुछ एक ही है, ऐसा ज्ञात होता है। उस समय किसी की भी दृष्टि को मिथ्या मान कर उसकी उपेक्षा करने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए माँ ने बहुत बार बहुत जगह स्पष्ट किया है कि जहाँ से जो जो कुछ कहता है वहाँ से वही ठीक है। एक स्थान के साथ दूसरे स्थान का विरोध दिखाई देने पर दर्शन-दर्शन में विरोध प्रतीत होता है। किन्तु सभी स्थान या अंग एक ही अंगी के आत्मरूप हैं, समझ सकने पर किसी भी दर्शन को मिथ्या मान कर उसका त्याग करना नहीं बनता। कोई दर्शन मिथ्या नहीं है, पर खण्ड है। अखण्ड में सबका महा समन्वय विद्यमान है।

३–एक में अनन्त का प्रकाश

जो लोग जागतिक विरोधदृष्टि से पूर्ण सत्य में भी विरोध के सम्भव की आशंका करते हैं वे सोचते हैं कि विशेष अवस्था में जागतिक विरोध स्वीकार न करना सम्भव नहीं है । प्रश्नकर्ता ने दृष्टान्तरूप से इस शंका का उत्थापन करने के लिए जिज्ञासुभाव से जिज्ञासा की है—विश्वनाथ दर्शन की इच्छा से दुर्गामन्दिर में जा कर दुर्गा को यदि कोई विश्वनाथ माने तो क्या वह ठीक होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व यह जान लेना होगा कि विश्वनाथ के दर्शन चाहनेवाला यात्री कैसा अधिकारी है । यदि उसको भक्त जन के रूप में, योगी के रूप में अथवा विश्वनाथजी के दर्शनों की तीव्र लालसा से सम्पन्न व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया जाये तो लोकदृष्ट दुर्गाप्रतिमा के दर्शन करके भी वह यदि कहे कि यह विश्वनाथ हैं तो उसका वाक्य मिथ्या नहीं होगा। वह सचमुच वहाँ दुर्गाप्रतिमा के बदले विश्वनाथजी का दर्शन प्राप्त करेगा । अवश्य यह उसकी एकान्त भक्ति और तीव्र इच्छा का फल है । किन्तु वास्तव में इसका मूल रहस्य यह है कि लोगों की दृष्टि में दुर्गा और विश्वनाथ में व्यवधान रहने पर भी वास्तव में कोई व्यवधान नहीं है । क्योंकि एक ही के तो अनन्त रूप हैं । भक्त या योगी यदि तीव्र इच्छा का विकास कर सके तो जिस किसी स्थान से जिस किसी वस्तु का आकर्षण कर सकता है । यह सदा से होता आया है और होगा । इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है । क्योंकि "सर्वं सर्वात्मकम्"—सब जगह सर्वसत्ता ही विद्यमान है । क्योंकि मूल में सभी एक सत्ता ही है–विभिन्न रूपों में भी । कारण-सामग्री के द्वारा अभिव्यक्त कर सकने पर जिस किसी स्थान में जिस किसी रूप की अभिव्यक्ति हो सकती है । क्योंकि किसी भी स्थान में किसी का अभाव नहीं है । यह समझ में आ सकने पर लौकिक विरोध वस्तुतः विरोध नहीं यह समझना सहज होगा । देशगत विरोध, कालगत विरोध, भावगत विरोध, आदर्शगत, गुणगत, प्रकृतिगत सभी विरोध हट जाते हैं । खण्ड दृष्टि में विरोध है, था और रहेगा । अखण्ड दृष्टि में योग-दृष्टि में विरोध का कुछ भी अस्तित्व नहीं है । क्योंकि विरोध का धर्म है परस्पर एक दूसरे के साथ न रहना । एक ही अधिकरण में अनन्त विरुद्ध धर्म विद्यमान रहते हैं, यह स्वीकार करने पर वास्तव में विरोध का अस्तित्व रहेगा कहाँ ? इससे लौकिक दृष्टि के विरोध ज्ञान का अपलाप नहीं किया जाता । अतएव पूर्ण ब्रह्म का उदय होने पर कोई भी विरोध वहाँ बाधक नहीं हो सकता । ब्रह्मज्ञानी के पक्ष में भी विशेष अवस्था में प्रयोजनवश विरुद्धवत् कार्य का अनुष्ठान सम्भव हो सकता है ।

उससे ज्ञान के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह करना उचित नहीं है। माँ ने कहा है—जहाँ से जो कुछ करने का प्रयोजन रहता है उसमें कुछ भी नहीं छूटता। स्थिति एक में निश्चल होने पर अनन्त चलन भी स्थिति के विरोध नहीं होते, यह कहना निरर्थक है।

४—एक सत्ता में स्थिति

माँ कहती हैं एक सत्ता में स्थिति दो प्रकार की है—अपरिपक्व और परिपक्व। अर्थात् उस स्थिति का लाभ होने के बाद भी यदि उससे च्युति हो जाये तो ऐसी स्थिति को वास्तविक स्थिति नहीं कहा जा सकता। उसी को माँ ने अपरिपक्व स्थिति कहा है। यदि उस स्थिति-लाभ के बाद उससे च्युति या पुनरावृत्ति न हो तो उसे परिपक्व अवस्था समझना चाहिए। इस प्रसंग में एक विषय विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। यह जो अपरिपक्व स्थिति की बात कही गयी है उसे कोई प्राकृत या मायिक स्थिति न समझें। क्योंकि वह भी अज्ञानातीत अवस्था है। भावसाधना से भावसमाधि प्राप्त होने पर इस स्थिति की प्राप्ति होती है। भक्त लोग भावराज्य में संचरण करते-करते पारापारी से विरह और मिलन की अवस्था का अनुभव करते हैं। विरह वियोग की अवस्था है और मिलन है योग की अवस्था। किन्तु नित्य लीला में वियोग भी नित्य नहीं है और योग भी नित्य नहीं है; किन्तु लीला नित्य है। इसलिए लीला की नित्यता के अनुरोध से विरह या वियोग का अन्त होता है। मिलन के आनन्द से विरह का तिरोधान हो जाता है। मिलन की परावस्था सुशीतल शान्तिपूर्ण अवस्था है। किन्तु यह मिलन स्थायी नहीं रहता। कुछ क्षण संभोग के बाद उसका भंग हो जाता है फिर विरह जाग उठता है। अष्ट कालीन लीला में प्रतिदिन कुंजभंगलीला इसीलिए होती है। किन्तु यह सत्य है कि यद्यपि उस मिलन का आनन्द मिलन के बाद नहीं रहता। फिर भी प्रबल ताप विरहाग्नि में भी एक प्रकार के आनन्द का अनुभव अनुस्यूत रहता है क्योंकि इसमें विरह में त्रिताप की क्रीडा नहीं है, काल की कलना नहीं है, प्रकृति का परिणाम नहीं है तथा अहमिका की टक्कर (आस्फालन) नहीं है। किन्तु तथापि विरह विरह ही है। उसका ताप क्रमशः असह्य हो उठता है। इसके बाद फिर जब मिलन संघटित होता है तब पूर्ववर्ती मिलन की अपेक्षा अधिक आनन्द या रस का आस्वादन प्राप्त होता है। इस प्रकार अनन्त लीला के पथ पर रस की साधना में योग और वियोग का चक्र चलता रहता है।

इस भूमि को माँ ने अति संक्षिप्त भाषा में खींचातानी की भूमि कहा है। अर्थात् एक बार साधक भगवत्सत्ता के आकर्षण से उसमें प्रविष्ट होता है फिर वहाँ से च्युत होकर बाहर निकल पड़ता है। आकर्षण उसका अनुग्रह है और धक्का दे कर बाहर निकाल देना ही उसका निग्रह है। यह खींचातानी की अवस्था भावसाधना के मध्य निरन्तर रसास्वादन में सूक्ष्मरूप से अनुस्यूत रहती है। किन्तु ऐसी एक स्थिति है जिसमें अपक्व अवस्था में प्रवेश नहीं होता। यह कहना निरर्थक है कि पूर्वोक्त भाव की अवस्था भी अपक्व अवस्था के सिवा और कुछ नहीं है, क्योंकि उसमें आगम-निर्गम रहते हैं। किन्तु यह एक चमत्कारावस्था है इसका भी माँ ने विशेष रूप से उल्लेख किया है। उक्त रसिक लोग ही उसका रसास्वादन कर पाते हैं दूसरों के लिए यह दुर्लभ है। किन्तु जिस परिपक्व अवस्था की चर्चा ऊपर की गयी है, अत्यन्त गहरे में प्रवेश किये बिना वह प्राप्त नहीं हो सकती। उस अवस्था की स्पर्शप्राप्ति का माँ ने जड पत्थर के स्पर्श के रूप में उल्लेख किया है—अर्थात् वह अवस्था जड की नाईं पत्थर की नाईं निश्चल स्थिरता की अवस्था है। वही पूर्ण सत्य की गूढतम स्थिति है। उसका स्पर्श प्राप्त हुए बिना वास्तविक अद्वैत भाव का उदय नहीं हो सकता। उस स्पर्श को प्राप्त कर नाना में भी अपने को अखण्ड एक ही सत्ता में अभिन्न रूप से प्रतिष्ठित देखा जाता है। यही परिपक्व अवस्था है। इस अवस्था में द्वन्द्व और विरोध सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं। जगत् के विरोध वैचित्र्य, नानात्व सभी वह देखते हैं एवं जगत् की दृष्टि से यह ब्रह्मविद् भी पूर्वोक्त विरोधमय व्यवहार के अन्तर्गत प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तव में स्वरूप-दृष्टि से उस अवस्था में फिर किसी प्रकार के विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। जगत् के साथ जगत् के अनुरूप भाव से व्यवहार रहने पर भी वह अपनी अद्वैत-भूमि में ही सदा विराजमान रहते हैं। उनका नीचे उतरना और ऊपर चढ़ना, भीतर जाना और बाहर आना ये सब वस्तुतः नहीं रहते। लोकदृष्टि से हैं, ऐसा प्रतीत होने पर भी वास्तव में रहते नहीं। पहले अपरिपक्वावस्था में एक में स्थिति अस्थायी है एवं वह अखण्ड भी नहीं है। इसीलिए वह टूट जाती है एवं कालान्तर में च्युति होती है। किन्तु परिपक्वावस्था में स्थिति नित्य है। इस अवस्था में द्वितीय कुछ भी भासता नहीं। अपने निकट सदा सर्वदा अपना आप ही भासमान रहता है—एक रूप में, नाना रूपों में और एक नाना के विरोधहीन अद्वयरूप में। यही पूर्ण ब्रह्मभाव में स्थिति का थोड़ा-सा विवरण है। ●

पच्चीस

१–लीला की जड़ में एक है अथवा दो हैं ?

जिन्होंने भारतीय साधना और साधकों के इतिहास का क्रमिक रूप से अनुशीलन किया है वे जानते हैं कि साधना के लक्ष्य के सम्बन्ध में भाँति-भाँति के मतों के प्रचलित रहते भी स्थूल रूप से दो ही मत प्रधान माने जाते हैं। पहले मत में अध्यात्म-साधना का लक्ष्य मुक्ति अथवा मोक्ष है—यही परम पुरुषार्थ है। यद्यपि धर्म, अर्थ और काम की भी पुरुषार्थ के रूप में गणना की जाती है तथापि वे परम पुरुषार्थ नहीं हैं, क्योंकि इन तीनों में कोई भी नित्य सिद्ध नहीं है। एकमात्र मुक्ति अथवा मोक्ष ही परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करने योग्य है। क्योंकि यह आत्मा की स्वरूप-स्थिति होने के कारण नित्यसिद्ध है। साधना से ज्ञान का उदय होने पर स्वरूप का आवरण हट जाता है तब जा कर स्वरूप का आत्मा को प्रत्यक्ष होता है—आत्मा स्वयंप्रकाश है यह तब समझ में आ सकता है। इस प्रकार आत्मा के साक्षात्कार से जीव के अनादिकाल से संचित कर्म-संस्कार सदा के लिए कट जाते हैं एवं दुःख की निवृत्ति हो कर नित्य शान्ति का उदय होता है—यह अवस्था आत्मा की स्वरूपभूत आनन्द में स्थिति की अवस्था है।

दूसरे मत में मुक्ति अथवा मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं माना जाता है। इस मत के अनुसार पराभक्ति अथवा भगवत्प्रेम ही परमपुरुषार्थ है, मुक्ति नहीं। वैष्णव सम्प्रदाय, किसी-किसी शैव सम्प्रदाय एवं अन्यान्य सम्प्रदायों के भी कोई-कोई लोग पराभक्ति-प्राप्ति को मनुष्यजीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। कोई-कोई इसे पंचम पुरुषार्थ भी कहते हैं। यह पराभक्ति अथवा प्रेमलक्षणा भक्ति इनके मत में मुक्ति के उच्चतर आदर्श हैं। मुक्ति वस्तुतः इस पराभक्ति की पूर्ववर्ती अवस्थामात्र है। आत्मा यद्यपि स्वरूपतः एक और अभिन्न है तथापि जीवात्मा और परमात्मा के रूप में उसका विलास है यह ध्यान में रखना चाहिए। आत्मा के स्वरूप में एक दृष्टिकोण से अंशांशिभाव है। यह अनादिकाल से ही था और अनन्त काल तक रहेगा। बद्ध अवस्था में तथा मुक्त अवस्था में यह समान रूप से रहता है। आत्मा

अंश और परमात्मा अंशी स्वरूप है। दोनों ही एक अर्थात् नित्य चैतन्य स्वरूप हैं। अंशचैतन्य अणुरूपी है, किन्तु अंशी चैतन्य महान् है। जीव अनादि अविद्या के प्रभावसे अपना स्वरूप और भगवान् के साथ अपना नित्य सम्बन्ध भूल गया है। विद्या के उदय से अविद्या की निवृत्ति होने पर उसे अपने स्वरूप का दर्शन होता है एवं भगवान् के साथ अपना नित्य सम्बन्ध भी ज्ञात होता है। इसके बाद इस सम्बन्ध के अनुरूप नित्य रसास्वाद होता है। यहीं से पराभक्ति अथवा पंचम पुरुषार्थ का सूत्रपात होता है। पक्षान्तर में जीवात्मा परमात्मा के समान विभु (व्यापक) है। द्वैतदृष्टि में दोनों में भेद रहने पर भी दोनों ही विभु माने गये हैं। अद्वैतमत में जीव और ईश्वर एक ही वस्तु हैं—जब तक स्वरूप का प्रकाश नहीं होता एवं उपाधि विद्यमान रहती है तब तक दोनों में भेद स्वीकार किया जाता है, किन्तु सब आवरणों के निवृत्त होने पर अर्थात् मुक्त अवस्था में एक ही अखण्ड आत्मा अपने प्रकाश से ही अपने निकट अपने को व्यक्त करता है। तब जीवभाव और ईश्वरभाव यथार्थ स्वभाव नहीं, उपाधि से हैं, यह समझ में आ सकता है।

यहाँ तक जो कहा गया है, उससे साधक लोगों के ध्यानराज्य में इन्हीं दो धाराओं का पता लगता है।

साधारणतः भक्तिवादी साधकों ने किसी न किसी आकार में द्वैतवाद का अवलम्बन कर जीवन के चरम लक्ष्य का निश्चय किया है। इसलिए उन्होंने चतुर्थ पुरुषार्थ मुक्ति की उपेक्षा कर पराभक्ति को ही चरम सम्पत्ति माना है। जीव और ईश्वर अथवा भक्त और भगवान् में यदि परस्पर भेद न माना जाये तो भक्ति का अनुशीलन (भजन) नहीं हो सकता, भक्ति की सत्ता भी नहीं रह सकती, क्योंकि सेव्यसेवकभाव पर ही भक्ति का आस्वादन निर्भर है। अद्वैतसत्ता में भावगत द्वैत न रहने के कारण सेव्यसेवक भाव नहीं बन सकता। इसीलिए वे लोग अद्वैतस्थिति की अपेक्षा अर्थात् मोक्ष की अपेक्षा पराभक्ति को ही श्रेष्ठ आदर्श मानते हैं। निम्नस्तर भी भक्ति ज्ञान का पूर्ववर्ती एक साधन है किन्तु पराभक्ति वस्तुतः मुक्त पुरुष की भी परम काम्य है एवं यह ज्ञान के बाद होती है, यहाँ तक कि मुक्ति प्राप्ति के बाद होती है, किसी-किसी भाग्यवान् आत्मा को जीवन में भगवत्कृपा से प्रकाशित होती है। दार्शनिक दृष्टि से यह पराभक्ति प्राप्ति ही परामुक्ति कही जाने योग्य है। प्रचलित कैवल्य मुक्ति इस मत में अपरामुक्ति के नाम

से गिनी जाती है। जो अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार से आत्मा की अभेद स्थिति मानते हैं उनके मत में पराभक्ति नाम की कोई वस्तु स्वीकार योग्य नहीं है एवं उसको मनुष्य-जीवन का चरम आदर्श मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

पहले मुक्ति के प्रतिद्वन्दी रूप में लीला प्रवेश की जो चर्चा की गयी है वह वास्तव में इस पराभक्ति के आदर्श को लक्ष्य में रखकर ही की गयी है। साधारणतः शुष्क ज्ञानी यद्यपि भक्ति को ज्ञान का उपाय मानते हैं पर उनके मत में वह एक मायिक वृत्तिमात्र है। "भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते।" यह भक्ति ज्ञान के आविर्भाव के साथ-साथ द्वैतनिवृत्तिवश तिरोहित हो जाती है। क्योंकि उस समय एकत्व में स्थिति होती है, इसलिए द्वैतमूलक किसी भक्ति के लिए स्थान नहीं रह जाता। दूसरे पक्ष में लौकिक भक्तों के मायाश्रित होने तथा माया की निवृत्ति से द्वैतनिवृत्ति के साथ-साथ भक्ति के उच्छेद की आशंका कर वे मायानाशक ज्ञान से सदा भयभीत रहते हैं। इसीलिए वे ज्ञान को नीम का फल (कड़ुवा) कहते हैं। इस दृष्टिकोण से दृष्टिपात करने पर स्पष्ट रूप से ही समझ में आ जाता है कि साधकसमाज में, साधारणतः ज्ञानमार्ग में, भक्ति का माहात्म्य उतना नहीं माना जाता एवं प्रचलित भक्तसमाज में भी वैसे ही ज्ञान का महत्त्व स्वीकार नहीं किया जाता। यह अत्यन्त दुःख का विषय है। किन्तु जब तक दृष्टिकोण परिवर्तित न हो तब तक इस तरह की विरुद्ध मनोवृत्ति होना स्वाभाविक है, भक्ति साधना का वास्तविक लक्ष्य भगवान् की नित्य लीला में प्रविष्ट होकर नित्य सिद्ध के रूप में उनकी सेवा करना है। माया जगत् में रहते समय इस प्रकार की सेवा नहीं हो सकती। क्योंकि मायिक भक्त के निकट भगवान् का शुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं होता एवं उनका धाम, परिकर, लीला, गुण, क्रिया किसी का भी प्रकाश नहीं होता। ये सब अप्राकृत सम्पदाएँ प्राकृत मायिक दृष्टि का अन्त हुए बिना प्रकाशित नहीं हो सकतीं। इसलिए पराभक्ति के साधक के लिए भगवान् की नित्य लीला में प्रवेश करने के पूर्व अपनी सत्ता को शोधित कर चिदानन्द के रूप में स्थित होना आवश्यक है। भाव, प्रेम और रस इन तीन स्तरों से भक्त की स्वरूप सिद्धि हो जाती है। सिद्ध रसमय शरीर विशुद्ध तत्त्व से बना है। वह निर्मल चैतन्य द्वारा नित्य उद्भासित रहता है। इस तरह के शरीर में प्रतिष्ठित न हो सकने तक भगवद्धाम में प्रवेशपूर्वक उनकी लीला का सहचर बनना कदापि सुसाध्य नहीं है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भक्ति-साधना यदि पराभक्ति अथवा प्रेम-लक्षणा

भक्ति की साधना हो तो वही नित्य लीला में प्रवेश की साधना के रूप में परिगणित होती है। यह जो लीला का पथ है यही भाव का पथ है। किन्तु भाव का पथ होने पर भी यह माया के अतीत तथा त्रिगुण के परे स्थित है। लीला में आपातदृष्टि से अनन्त वैचित्र्य रहने के कारण प्रश्नकर्ता ने शंका की है कि इसके मूल में द्वैतभाव रहना अवश्यम्भावी है। एक हिसाब से यह सोलहों आने सत्य है। किन्तु माँ ने जो उत्तर दिया है उससे ज्ञात हो सकेगा कि वह चरम सत्य नहीं है। क्योंकि पूर्ण सत्य सब भावों के अतीत एवं परम साम्यमय है। उसके स्वायत्त होने पर स्वातन्त्र्य का विकास होता है एवं सब संकुचित भाव तिरोहित हो जाते हैं। अतएव इस परम स्थिति की प्राप्ति होने के बाद जिस किसी प्रकार के भाव को ले कर खेल किया जा सकता है और अपना अखण्ड स्वरूप च्युत नहीं होता। इसलिए पूर्ण अद्वैत अवस्था की प्राप्ति के बाद भी लीला के आस्वाद का ग्रहण असम्भव नहीं है वस्तुतः उस अवस्था में लीलातीत परम साक्षिस्वरूप से स्थित हो कर भी साथ-साथ लीलामय रूप से स्फुटित होना कुछ अनहोनी घटना नहीं है। कोई-कोई उस प्रकार की स्थिति को अधिकतर काम्य मानते हैं। एवं वस्तुतः यही श्रेष्ठ स्थिति है यह भी माँ ने संकेत से निर्देश किया है। उन्होंने कहा है—दो मान कर कहते हैं, दो भी एक ही है—कोई-कोई ऐसा लेते हैं। अर्थात् नित्य लीला में दो न मान कर उसकी सिद्धि न हो सके ऐसी कोई बात नहीं है।

२–लीला का वैचित्र्य

लीला को स्वीकार करने पर उसके अंगभूत आकार या देह, धाम, काल के भेद, अनन्त प्रकार के भाव और उनके अनुरूप क्रियाएँ तथा गुणों का तारतम्य इन सबको स्वीकार करना पड़ता है। जिनकी साधारणतः अद्वैतवादी के रूप में प्रसिद्धि है वे इसीलिए लीला को मायिक मानते हैं। काया के अतीत चित्स्वरूप में क्रियादि नहीं रह सकते, वहाँ भेद का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है। इसलिए यद्यपि चित्त को भगवान् की ओर खींचने के लिए भागवती लीला का महत्त्व सर्वथा स्वीकरणीय है तथापि अद्वैतवादियों की दृष्टि में परमसत्ता में अर्थात् अद्वैत स्वरूप में स्थिति होने पर लीला का अतिक्रमण हो जाता है। क्योंकि माया के अतिक्रमण के साथ ही साथ निष्क्रिय सत्ता में स्थिति होती है। लीला की उपयोगिता रहने पर भी लीला की पारमार्थिकता वे नहीं मान सकते। किन्तु वास्तव में यह एकदेशी मत है। माया त्रिगुणात्मिका है, उसमें सत्त्वगुण के साथ रजोगुण और तमोगुण का मिश्रण रहता है। सत्त्वगुण प्रबल होने पर भी एकदम रजो-

गुण और तमोगुण से मुक्त नहीं रहता। क्योंकि प्रकृति में तीनों गुण परस्पर अनुस्यूत हैं। किन्तु भगवत्लीला अप्राकृत अर्थात् त्रिगुणातीत है। वह गुण का ही खेल है, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु वह गुण विशुद्ध सत्त्वगुण है उसमें रजोगुण और तमोगुण का लेशमात्र भी संमिश्रण नहीं है। यह विशुद्ध सत्त्वगुण शास्त्रानुसार भगवान् की उपाधि है। केवल भगवान् की ही नहीं, जिन लोगों ने उनकी कृपा से शुद्धाभक्ति प्राप्त कर भगवद्धाम में प्रवेश का अधिकार प्राप्त किया है उनकी भी वही उपाधि है। श्रीभगवान् का तथा उनके भक्तों का शरीर इसी विशुद्ध सत्त्वगुण से गठित है। श्रीभगवान् का श्रीविग्रह अनादि विशुद्धसत्त्वमय है। किन्तु उनके मुक्त भक्तों का विग्रह विशुद्ध सत्त्वगुण से गठित होने पर भी सादि किन्तु अनन्त है। त्रिपादविभूतिस्वरूप अनन्त भगवद्धाम सत्त्वमय होने के कारण ही सदा चिदानन्द रस से परिपूर्ण रहता है। काल का परिणाम, अविद्या का प्रकोप, माया की दृष्टि एवं बहिर्मुख वृत्ति का उल्लास इस चिन्मय धाम में नहीं रहते। यह अवस्था द्वैतदृष्टि में भक्तों के लिए जैसे सम्भव है अद्वैतदृष्टि में भी भक्तों के लिए वैसे ही सम्भव है। द्वैतदृष्टि का यह लीलारससंभोग प्रेमलक्षणा भक्ति का आभासमात्र है। क्योंकि यह भक्ति नित्य नहीं है। • यह महाज्ञान में पर्यवसित होती है एवं तब निष्क्रिय, निर्गुण, निष्कल और निराकार ब्रह्मसत्ता में स्थिति होती है। किन्तु इसकी और एक दिशा है, उस दिशा को हृदयंगम कर जो पूर्ण सत्ता में भगवान् के परम अनुग्रह से प्रतिष्ठित होते हैं वे एक अद्वैत सत्ता में रह कर भी लीला के व्याज से अनन्त रूपों में अपने को प्रकट कर सकते हैं, एवं उन अनन्त प्रकार के वैचित्र्यमय प्रकाश का रसास्वादन भी करने में समर्थ होते हैं। इस अवस्था में लीलारस के भोग के उपलक्ष्य में जो भक्तिरस का आस्वादन होता है वही वास्तविक प्रेमलक्षणा भक्ति है, उसका आभासमात्र नहीं। इस अवस्था में इन अनन्त वैचित्र्य, अनन्त प्रकार के संभोग और अनन्त आस्वादनों के रहने पर भी स्वप्रकाश, अनन्त स्वरूप अद्वैतस्थिति का व्यतिक्रम नहीं होता। क्योंकि वह नित्य प्राप्त है। पूर्व अवस्था में स्वरूप स्थिति का अभाव रहता है एवं उसके प्राप्त होने पर लीला राज्य का अतिक्रमण कर वह स्थिति ग्रहण की जाती है। पूर्व और बाद की अवस्थाओं में भक्ति और ज्ञान के परस्पर सम्बन्ध का भिन्न-भिन्न रूप में अनुभव होता है। अज्ञानी का रसास्वादन जिस भक्ति का परिणाम है वह कदापि स्थायी नहीं हो सकती—उसकी पूर्ण परिपक्वता में ज्ञान का उदय होता है। दूसरी अवस्था में ज्ञान का उदय पहले होता है एवं उसके अनन्तर लीला के बहाने भक्ति-

रस का आस्वादन होता है । ये भक्ति और ज्ञान परस्पर अविरोधी हैं । अस्तु इतना सत्य है कि अद्वैत अवस्था में पहुँच कर भी ख्याल होने पर अनन्त प्रकार के द्वैतभावों का अवलम्बन कर खेल चल सकता है—वस्तुतः उस अवस्था में द्वैत-भाव बिल्कुल ही नहीं रहता । लौकिक दृष्टि में जो भेद जैसा प्रतिभासमान होता है वह भेद नहीं है, भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का विचित्र विलासमात्र है । वैष्णव आचार्यो ने इसे 'भेद' न कह कर 'विशेष' नाम दिय है । उनके मत में विशेष का लक्षण यह है—'भेदाभावेऽपि भेदकार्यनिर्वाहको विशेषः ।' अर्थात् जहाँ भेद नहीं है, पार्थक्य नहीं है, एक अखण्ड सत्ता अद्वितीय रूप में प्रकाशमान है वहाँ भी इस महासत्ता की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से भिन्न-भिन्न अनन्त प्रकार के वैचित्र्यों का उद्भव होता है । यह आपातदृष्टि से भेद मालूम पड़ता है किन्तु वस्तुतः भेद नहीं है । इसी का उन्होंने 'विशेष' के नाम से उल्लेख किया है । अद्वैत परब्रह्म इस दृष्टि के अनुसार सविशेष है । इसीलिए वह एक होकर भी तथा एक रहकर भी यथार्थ रूप से नाना रूपों में अपने को प्रकट कर सकते हैं । उससे उनके एकत्व में कोई क्षति नहीं होती । अतएव बाहरी दृष्टि से दो या बहुत मालूम पड़ने पर भी वास्तव में वहाँ एक के सिवा दूसरे का प्रकाश नहीं होता । प्रकाश अनन्त प्रकार के हैं सही, परन्तु वास्तव में वह एक और अभिन्न है । यह अति गम्भीर रहस्य है, साधारण ज्ञानी की दृष्टि में यह आने योग्य प्रतीत नहीं होता । किन्तु यह सत्य है कि ज्ञान की पूर्णता होने पर उसमें जैसे नित्य सत्यरूप से कूटस्थ निष्क्रियरूप से, एक परमतत्त्व या तत्त्वातीत भासता है वैसे ही उसमें इसके साथ-साथ एक ही समय में अनन्त भी भासमान होते हैं, एवं उस परम दृष्टि में, उस एकत्व और अनन्तत्व में वस्तुतः कोई भेद नहीं रहता । पर उक्त अखण्ड दृष्टि प्राप्त हुए बिना अवश्य यह जाना नहीं जा सकता । इसीलिए माँ ने कहा है, 'इस लीला में भी अद्वैत छूटता नहीं । लीला का आस्वाद रस और वेदान्त में दो का कोई प्रश्न ही नहीं है । भक्तिवादियोंकी सष्टि का 'दो' दिखाई देने पर भी वह एक ही है । यह चश्मा बिना पहने वह दिखाई नहीं देता । वहाँ से वैसा ही दिखाई देता है ।'

३–मुक्ति और पराभक्ति

ज्ञानी का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु भक्त का लक्ष्य पराभक्ति है । मुक्ति और पराभक्ति आपाततः विरुद्ध प्रतीत होने पर भी वास्तव में विरुद्ध नहीं हैं । भक्त की दृष्टि में अंशांशिभाव रहता है । किन्तु ज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्मवस्तु निरंश है,

इसलिए उसमें अंशांशिभाव नहीं रहता। पर वास्तव में इसके रहने और न रहने में यथार्थतः कोई विरोध आता नहीं है, क्योंकि दोनों का स्वरूप एक और अभिन्न है। ब्रह्म चित्स्वरूप, महान् और अखण्ड सद्वस्तु हैं। भक्त की दृष्टि में जीव चिद्वस्तु होने पर भी अणुपरिमाण और ब्रह्माश्रित नित्य वस्तु हैं। दोनों पक्षों में ही स्वरूप एक है, इसलिए एक ओर जैसे अद्वैतभाव कहा गया है दूसरी ओर वैसे ही आश्रय और आश्रित भाव रहने से इस अद्वैत भाव में भी अनिवर्चनीय 'मैं' 'तुम' भाव जाग्रत् रहता है—'सोऽहम्' भाव अथवा 'दासोऽहम्' भाव दोनों ही सत्य हैं। ज्ञानी की दृष्टि में 'सोऽहं' भाव की महिमा जाग्रत् रहती है, किन्तु भक्त की दृष्टि में सेव्यसेवकभाव सदा प्रतिष्ठित रहता है। पूर्ण वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट होने पर ज्ञात होगा कि मार्ग की पथिकता बीत चुकी है। उस समय अपने अपने आधार के अधिकारानुसार उस परम स्थिति का परम आस्वादन भाषा द्वारा प्रकट किया जाता है। जो अपने को उस परमसत्ता से अभिन्नरूप में पहिचान चुका है वह 'सोऽहम्' ज्ञान का पात्र है। किन्तु जो उस परम वस्तु को आश्रय रूप से प्राप्त हो एवं अपने को उसका नित्य आश्रित समझ दोनों के सम्बन्ध का अनुभव करता है वह स्वभावतः ही अपने को उनके सेवक के रूप में स्वीकार करता है। यह सेवा वृद्धावस्था में नहीं हो सकती। मुक्त हुए बिना अर्थात् माया का बन्धन उच्छिन्न किये बिना इस सेवा में प्रवेश का मार्ग नहीं मिलता। यह सेवा भावरूपी है, इसमें सन्देह नहीं एवं यह भाव भी महाभाव के सिवा और कुछ नहीं है। यही पराभक्ति का प्रकाश है। माया का उल्लंघन हुए बिना अर्थात् स्वयं सब तरह के बन्धनों से उन्मुक्त हुए बिना इस प्रकार का सेवक नहीं बना जा सकता। भक्त सदा भगवान् की सेवा करना ही पसन्द करता है। सेव्यसेवकभाव रहित कैवल्य-मुक्ति यहाँ तक कि सायुज्य मुक्ति भी उसे पसन्द नहीं आती। साधारण भक्ति साधनाभक्ति के रूप में गिनी जाती है। साधन भक्ति के बाद बन्धन कट जाने पर पराभक्ति का उदय होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में 'ब्रह्मभूत' और 'प्रसन्नात्मा' होने के बाद पराभक्ति प्राप्त होने का 'मद्भक्तिं लभते पराम्' इस वाक्यांश से उल्लेख किया गया है। यह हुई एक ओर की बात। दूसरी ओर 'सोऽहं' भाव के उदय के साथ भावातीत परमस्थिति का आविर्भाव होता है। वह स्थिति वस्तुतः आत्मा की स्वरूप स्थिति है। उसमें भाव का, यहाँ तक की महाभाव का भी, स्पर्श नहीं रहता। वह उस परमवस्तु के साथ अपना जो एकत्वरूप ज्ञान है उसमें स्थिति है। पहली अवस्था आनन्द के आस्वादन की अवस्था है। किन्तु यह आस्वा-

दनक्रियात्मक व्यापार नहीं है, विशुद्ध भावमय है । दूसरी अवस्था विशुद्ध चित्स्वरूप में स्थिति का निदर्शन है । वस्तुतः आनन्द और चित् का अभेद होने से दोनों में कोई भिन्नता नहीं है । और एक बात है वह यह कि जो यथार्थ महास्थिति है उसमें प्रविष्ट होने पर चित् और आनन्द की कल्पित विशेषता लुप्त हो जाती है । माँ ने इस विषय में जो दो बातें कहीं हैं उनसे इस गम्भीर रहस्य के ऊपर स्वच्छ प्रकाश पड़ता है । उन्होंने कहा है, एक आत्मस्वरूप जहाँ है वहाँ 'वे प्रभु हैं और मैं दास हूँ' इस भाव को ले कर भी यदि कोई रहे तो आपत्ति क्या है ? पहले था रास्ते में अर्थात् पाने के मार्ग में । प्रकाश के बाद वही सेवा कर रहे हैं—यह जो प्राप्त होने के बाद सेवा करना है वही सेवा है । इसे चाहे मुक्ति कहो, चाहे परा भक्ति कहो, चाहे जो कहो । अर्थात् प्राप्ति के बाद जो सेवा है वही पराभक्ति रूप सेवा है । वस्तुतः यह मुक्ति से अतिरिक्त कुछ नहीं है । यह जो सेवा है इसके मूल में किसी प्रकार के अभाव का ज्ञान नहीं है, इसीलिए यह स्वभाव की सेवा है ।

४—ठीक-ठीक प्राप्ति किसको कहते हैं ?

ठीक-ठीक प्राप्ति होने पर निर्बीज अवस्था प्राप्त होती है । उस समय बीज नहीं रहता, अर्थात् उससे अंकुरण निकलने की सम्भावना नहीं रहती । इस अवस्था के बाद पूर्ण स्वतन्त्रता का विकास होता है । इसलिए यदि कोई इच्छापूर्वक सेवा करने को प्रवृत्त होता है तो उसमें कोई आपत्ति नहीं होती । और यदि कोई सेवा करने को प्रवृत्त न हो तो उसमें भी कोई दोष नहीं है । वस्तुतः उस अवस्था में सेवा करने और न करने में कोई भेद नहीं है । उस समय की सेवा लीला का एक प्रकारभेदमात्र है । उस अवस्था में सिद्ध पुरुष लीला के बहाने चाहे जो कुछ भी क्यों न करें उससे वह बद्ध नहीं होते । जो हैं सदा वही रहते हैं । स्वरूप के और प्रकाश के ऊपर आवरण फिर कभी भी नहीं पड़ता । माँ ने कहा है, 'सिद्ध होने के बाद तुम चाहे जो कुछ भी बनाओ किन्तु सृष्टि का बीज फिर नहीं रहता ।' प्रश्न उठ सकता है कि प्राप्ति जब एक और अभिन्न है तब यह लीलारूप वैचित्र्य कहाँ से आता है ? इस रहस्य के समाधान के लिए माँ ने जो कहा है वह अति उपयोगी है । उन्होंने कहा है, 'जो जिस मार्ग में चलेगा उसका तो विशिष्ट प्रकाश होगा ही । किन्तु पाता है एक ही वस्तु जिसे पाने पर फिर किसी प्रकार की शंका का अवसर नहीं रहेगा ।'

५–अभाव की सेवा और स्वभाव की सेवा

'सेवा' से यहाँ पूजा, अर्चना, आराधना—सभी समझना चाहिए। जब तक अभाव रहता है तभी तक सेवा की जरूरत रहती है यह सभी जान सकते हैं। किन्तु अभाव की निवृत्ति हो जाने पर अर्थात् ज्ञान का उदय होने पर एवं अद्वैत भाव में स्थिति होने पर फिर सेवा आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती एवं बहुत लोग उसे असम्भव भी मानते हैं। अर्थात् मुक्त होने के बाद भजन, पूजन, सेवा आदि का कोई प्रयोजन नहीं रहता, यही अधिकांश लोगों की धारणा है। एक प्रकार से यदि देखा जाये तो इस बात की सत्यता में कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि अभाव रहने पर अभाव को हटाने के लिए साधना की जरूरत रहती है। किन्तु अभाव मिट जाने के बाद स्वरूप में स्थित होने पर फिर साधना अथवा भजन की आवश्यकता नहीं रह सकती। यह हुई एक ओर की बात। इसी ओर से ही कहा जाता है—भक्ति के बाद ज्ञान होता है और ज्ञान से ही मुक्ति होती है। यही स्वाभाविक क्रम है। किन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। यदि वह न रहता तो शुकदेव जी मुक्त होकर भी भागवत सुनाने क्यों जाते? अवश्य मुक्ति के बाद भजन, पूजन कहीं-कहीं जो दिखाई देता है उसे भजन–पूजन न कहने पर भी कोई विशेष क्षति नहीं होती। क्योंकि वह बिना प्रयोजन की एक तरह की केवल लीला, स्वतः सिद्ध आनन्द का स्वाभाविक उल्लास मात्र है। इस दृष्टि से मुक्ति के बाद भी भक्ति का सम्भव है यह समझ में आ सकता है। केवल सम्भव ही नहीं, मुक्त पुरुष का भजन ही वास्तविक भजन है। अभावग्रस्त बद्ध जीव के भजन से वह बिलकुल भिन्न है। प्राचीन आचार्यों ने भी श्री भगवान् का मुक्तोपसृप्य कहकर निर्देश किया है अर्थात् मुक्तों के द्वारा ही वे उपसर्पणीय हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मुक्त हुए बिना वासना, संस्कार आदि से छुटकारा न मिल सकने पर भगवान् का उपसर्पण ही नहीं किया जा सकता अर्थात् उनके निकट अग्रसर नहीं हुआ जाता, भगवदुन्मुखी दृष्टि ही नहीं खुलती। श्रीमद्भागवत में इस विषय में एक वचन है, वह यह है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥

अर्थात् मुनिगण ग्रन्थिहीन होकर भी, मुक्ति प्राप्त करके भी, एवं विषयतृष्णाहीन आत्माराम अवस्था में प्रतिष्ठित होकर भी, अनन्तगुणों से परिपूर्ण तथा अचिन्त्य-

लीलाशील भगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं। भगवान् की ऐसी महिमा है कि आनन्दस्वरूप मोक्ष प्राप्त करके भी एवं सम्पूर्ण प्रयोजनों से रहित होकर भी स्वभाववश भक्तजन उनकी ओर आकृष्ट होते हैं एवं उनके अनन्त मंगलमय गुणों से मुग्ध होकर स्वभावतः उनका भजन करते हैं। यह एक प्रकार से केवल लीला है इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु यह भजनरूपा लीला मुक्ति की परावस्था है, इसमें प्रयोजन का लेश भी नहीं रहता। यह भजन और बद्ध जीव का मुक्ति की कामना से भजन एक नहीं हैं, यह कहना व्यर्थ है। माँ ने स्पष्ट ही कहा है कि अभाव की अवस्था में खण्डपूजा होती है, किन्तु अभाव मिट जाने पर स्वभाव से भी पूजा हो सकती है। वह वास्तव में अखण्ड पूजा है, उसे पूजा कहा जा सकता है, और पूजा न कहने में भी कोई क्षति नहीं है। माँ ने इस विषय में जो कुछ समझाया है उसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि का बीज जब तक है तभी तक उसके अंकुरित होने की आशंका रहती है। किन्तु वास्तविक सिद्धिप्राप्त होने पर फिर सृष्टि की सम्भावना नहीं रहती। तब स्वभाव में स्थिति होती है। अर्थात् साधक वह पूर्ण सत्ता ही हो जाता है। यह भक्ति के द्वारा हो, चाहे वेदान्तविचार के द्वारा हो इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रकार की सिद्ध अवस्था के बाद सब कुछ हो सकता है। तब चाहे जिस किसी प्रकार की स्थिति वहाँ से गृहीत की जा सकती है। किन्तु वह परम स्थिति को क्षुण्ण नहीं करती, इसलिए उसको परमस्थिति का विलासमात्र कहा जाता है। यह अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। इसको जो लोग पत्थर हो जाना अर्थात् पत्थर के तुल्य जडवत् अवस्था की प्राप्ति मानते हैं उनका विचार निर्दोष नहीं माना जा सकता। निराकार सत्ता में सभी आकार इच्छा से अभिव्यक्त हो सकते हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी निराकार निराकार ही रहता है। आकार का प्रतिभास और आकारहीन निराभास अवस्था दोनों ही पूर्ण दृष्टि में एक और अभिन्न हैं।

६—'पर्दा जो कहा जाता है, वह गति है'

पूर्ण सत्य निरावरण प्रकाशस्वरूप है। वस्तुतः उस सत्ता या प्रकाश में किसी तरह का आवरण नहीं रह सकता। पर आवरण है ऐसी जो प्रतीति होती है वह भी मिथ्या नहीं है इसका कारण यह है कि लौकिक दृष्टि से देखने पर उस पूर्ण सत्ता में दो परस्पर विरुद्ध पहलू दृष्टिगोचर होते हैं—एक अक्षर अथवा कूटस्थ अपरिणामी स्थिर सत्ता और दूसरी क्षर अर्थात् परिणामी चल सत्ता। एक ही साथ क्षर और अक्षर सत्ता परमस्वरूप में विराजमान रहती है। अक्षर गतिहीन,

द्रष्टा, निराकार निर्विकार और स्वयंप्रकाश है, यही निस्पन्द परमभाव है। क्षर गतिरूप, चलनात्मक और स्पन्दस्वरूप है। अक्षर और क्षर परस्पर विरुद्ध हैं। जब अक्षर में क्षर निद्रित रूप से विलीन रहता है तब प्रकाश अनावृत रूप से अपने को अपने में प्रकाशित करता है। यही शक्ति की अन्तर्लीन अवस्था है। किन्तु जब स्पन्दशक्ति का उदय होता है तब इस स्पन्दमयी दृष्टि की दिशा से निःस्पन्दस्वरुप स्वप्रकाश होने पर भी ढँक जाता है। यही प्रकाश का आवरण है। वास्तव में प्रकाश अनावृत ही है, क्योंकि आवरण भी तो प्रकाश की महिमा से ही प्रकाशित होता है। किन्तु यह समझ में न आ सकने पर आवरण को प्रकाश से कुछ पृथक्‌रूप में ग्रहण करना आवश्यक है। यहाँ पर वह (आवरण) स्वरूप का आच्छादक हुए बिना नहीं रह सकता। वस्तुतः यह आच्छादन गति का ही खेल मात्र है। गतिहीन अवस्था में आवरण नहीं रहता, गति का उदय होने से आवरण प्रकट होता है। इसीलिए माँ ने कहा है, "जो नित्य है उसी को कहा जाता है 'है'। आवरण या पर्दा जिसे कहा जाता है वह गति है। गति का परिवर्तन हो जाता है, वह बदल जाती है।" जहाँ गति है वहीं दो का ज्ञान होता है। क्योंकि स्वरूप के आवरण से ही द्वितीय का आभास जागता है। जहाँ गति नहीं वहाँ एक ही एक है—द्वितीय है कहाँ ? वहाँ जो भोक्ता है वही भोग्य है, जो कर्ता है कार्य भी वही है, ज्ञाता जो है ज्ञेय भी वही है, विषय जो है आश्रय भी वही है एवं आपाततः प्रतीयमान सम्बन्ध भी वही है। त्रिपुटी तब नहीं रहती है अर्थात् रह कर भी न रहने के समान भासती है। तब वह स्वप्रकाश सत्ता अभिन्न और अखण्ड रहकर भी परस्पर विरुद्ध अनन्तरूपों में प्रकट होती है।

७—छोड़ने पर भी छूटता नहीं है

पूर्णस्थिति में त्याग और ग्रहण के मध्य में कोई भेद नहीं रहता, इसलिए वहाँ देने और लेने में प्रतीत होने वाला विरोध अस्त हो जाता है। क्योंकि वहाँ न करके भी सब कुछ किया जा सकता है एवं सब कुछ करके भी कुछ नहीं किया जाता, ऐसी स्थिति में रहा जाता है। वहाँ त्याग और ग्रहण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः छोड़ देना अथवा छोड़े बिना ग्रहण करना, यह अर्थहीन वाक्य है। उस अवस्था में पूजा न करके भी पूजा होती है एवं पूजा करके भी पूजाहीन स्थिति कहना बनता है। इसीलिए माँ ने कहा है, 'इसके बाद यदि कहे कि मैं मुक्ति का त्याग कर देता हूँ अथवा इष्टदेव की पूजा छोड़ देता हूँ तो छोड़ने पर भी कुछ छूटता नहीं है। छोड़ने न छोड़ने का वहाँ स्थान नहीं है।'

८–आदि प्रवृत्ति की भिन्नता का कारण

मूल में जब सब एक हैं तब सभी एक धारा—लाइन में क्यों नहीं चलते ? ऐसा प्रश्न किन्हीं लोगों के मन में उठता है। कर्मों की विचित्रता, भावों की विचित्रता, इच्छा की विचित्रता ये सब सृष्टि की भीतर की बातें हैं। किन्तु जहाँ मूल की चर्चा की जा रही है वहाँ एक के सिवा दूसरा तो हो ही नहीं सकता। यदि वही है तो वह एक का प्रकाश एक ही तरह से न होकर अनन्तरूपों में क्यों हुआ है ? ऐसा प्रश्न स्वभावतः ही उठ सकता है। इसका एकमात्र उत्तर जो हो सकता है वही माँ ने स्वल्प अक्षरों में कहा है, 'वे अनन्त रूपों से प्रकट हैं, वही तो है।' इसका तात्पर्य यह है कि यह अनन्त वैचित्र्य अहैतुक है। इसका किसी कार्यकारणभाव से सम्बन्ध नहीं है। यह स्वरूप का अनुबन्धी है, क्योंकि वे एक होकर भी अनन्त हैं और अनन्त होकर भी एक हैं, वह एक ही एक है। यह अनन्तत्व उनके स्वरूप के अन्तर्गत है। भावगत, क्रियागत, गुणगत, रूपगत और शक्तिगत अनन्त वैचित्र्य उसी का अपना प्रकाश है। अपचय नहीं है, इसलिए जो अनन्त हैं वे अनन्त रूप में प्रकट होंगे। इसमें फिर प्रश्न के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि अनन्तरूपों में प्रकाश होने पर भी वस्तु एक ही है। मूल में एक ही अनन्त हुआ है और अनन्त ही एक हैं, दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। मनुष्यों की बुद्धिवृत्ति के समीप विरोध प्रतीत होता है। किन्तु बुद्धि के अतीत स्वरूप सत्ता जहाँ है वहाँ कोई भी विरोध नहीं है।



छब्बीस

१–पूर्व स्मृति का अभाव

साधारणरूप से मनुष्यों को पूर्वजन्म का स्मरण नहीं रहता। हाँ, किन्हीं-किन्हीं जातिस्मर पुरुषों का पता न लगा हो यह बात भी नहीं है। एवं कहीं-कहीं पूर्व जन्म की स्मृति आंशिक रूप में विद्यमान रहने पर भी अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ एवं सांसारिक परिवेश के प्रभाव से वह दीर्घ काल तक स्थायी नहीं रहती। जिन लोगों में बचपन में स्पष्टरूप से या अस्पष्टरूप से पूर्वजन्म की स्मृति अक्षुण्ण रहती है वे भी अधिकांश स्थलों में सांसारिक सम्पर्क से उस स्मृति से वंचित हो जाते हैं। साधारणतः अधिकांश लोगों में विस्मृति व्यापक रूप से एवं अनेकों में स्थायी रूप से विद्यमान रहती है, ऐसा देखा जाता है। इसका कारण क्या है? यही प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर में माँ ने संक्षिप्त रूप से समझाने की चेष्टा की है कि विस्मृति का मूल हेतु अज्ञान है। जगत् परिवर्तनशील है तथा साथ ही साथ हम लोगों की देह और मन भी परिवर्तनशील हैं। इस परिवर्तनशील सत्ता में परिवर्तनहीन सत्ता एकमात्र आत्मा है। इस स्थिर आत्मस्वरूप का जब तक साक्षात्कार नहीं होता तब तक परिवर्तनमय जगत् का प्रभाव आत्मा के ऊपर पड़े बिना रह नहीं सकता। इसके फलस्वरूप देहादि अनात्म वस्तु में आत्मज्ञान का उदय होता है एवं विद्यमान रहता है। जब तक आत्मज्ञान का उदय नहीं होता तब तक इस परिवर्तनशील प्रवाह से छुटकारा पाने की आशा दुराशा ही है। आत्म-ज्ञान का उदय होने पर उस स्थायी आलोक में सम्पूर्ण विश्व स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बित हो जाता है। तब अतीत फिर अतीत के रूप में अव्यक्त नहीं रहता। क्योंकि वह ज्ञानालोक से अभिव्यक्त हो कर वर्तमान के रूप में प्रकाशित होता है। दूर स्थित वस्तु भी तब फिर दूरस्थ नहीं रहती, वह व्यवधान से रहित हो कर संनिकट स्थित के रूप में प्रतीत होती है। इसलिए साफ स्पष्ट चिदालोक से प्रत्येक ज्ञान साक्षात्काररूप अथवा अनुभवरूप हो जाता है। अपनी व्यक्तिगत धारा की दिशा से देखने पर दृष्टिशक्ति की तीव्रता के अनुसार एवं ज्ञानालोक की स्वच्छता के अनुपात से बहुत दूर तक साफ दिखलाई देता है। तब संस्कार का साक्षात्कार न

होने पर भी पूर्वजन्मों की परम्परा अखण्ड वर्तमान के अन्दर वर्तमान की नाईं प्रतीत होती है। ज्ञान के आलोक में भ्रम हट जाता है, विस्मृति नहीं रहती एवं दृष्टि के सामने से सब तरह के आवरण हट जाते हैं। अतएव इस अवस्था में पूर्व-जन्म-स्मृति अपने आप ही भासित हो उठती है। किन्तु आत्मिक विकास इतना अधिक न होने पर प्रयत्न अथवा संयम का अवलम्बन कर अतीत के गाढ अन्धकार का अंशतः उच्छेद किया जा सकता है। तदनुसार कोई योगी एक जन्म का, कोई दो जन्मों का अथवा कोई उससे भी अधिक जन्मों का स्मरण करने में समर्थ होते हैं। किन्तु फिर भी इसकी एक सीमा है। क्योंकि उक्त योगियों की विकसित ज्ञानशक्ति भी सीमित ही रहती है। लेकिन आत्मज्ञान का उदय होने पर यह ज्ञानशक्ति असीम हो उठती है। तब पूर्वावस्था में अपनी व्यक्तिगत धारा के पूर्व-वर्ती सबके सब जन्म स्मृतिरूप में अभिव्यक्त हो उठते हैं। अनादि काल की स्मृति जाग्रत् हो ऐसी कोई बात नहीं है। शक्ति का विकास जिसका जितना होता है उसका ज्ञान उतना ही प्रसारित होता है। किन्तु विशुद्ध आत्मज्ञान प्राप्त होने पर यह प्रसारण-शक्ति अनन्त हो जाती है। तब केवल अपनी व्यक्तिगत धारा का ही स्मरण होता हो ऐसी बात नहीं है, जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों की पूर्वजन्म-स्मृति योगी के हृत्पटल पर स्पष्टरूप से जाग उठती है। क्योंकि लौकिक दृष्टि से अन्यान्य सब किसी की आत्मिक सत्तायोगी से पृथक् प्रतीत होने पर भी योगज ज्ञानोत्कर्ष-वश सर्वत्र अभिन्न आत्मा का स्वरूप ही अशेष विशेषों के साथ अभिव्यक्त हो उठता है। इस दृष्टिकोण से सभी की धारा मूल में एक धारा के रूप में गिनी जाती है। क्योंकि आत्मा अभिन्न दृष्टि से जाग कर सर्वत्र अपना अभिन्न रूप ही देख पाता है। तब अपनी पूर्वस्मृति और दूसरे की पूर्वस्मृति इस तरह का कोई भेद-ज्ञान नहीं रहता। सभी समग्ररूप से तथा अक्षुण्णरूप में योगी के हृदयपटल पर भासित हो उठती है। किन्तु जब तक माया से छुटकारा नहीं मिलता तथा जब तक आत्मा के स्वरूपज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हुआ जाता तब तक पूर्वस्मृति नहीं जागती—यदि जागती भी है तो आंशिक रूप में। वह धारा के दृष्टिकोण से व्यक्तिगत है एवं प्रकाश की दृष्टि से भी सीमाबद्ध है। बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में लिखा है कि दिव्यज्ञान तथा ऋद्धि के उदय के समय पूर्वस्मृति का जाग उठना स्वाभाविक है। किन्तु वास्तव में उसे पूर्वस्मृति न कह कर केवल स्मृतिशक्ति का जागरण कहना अधिकतर युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इसलिए गीता में तथा किसी-किसी आगम ग्रन्थ में विशेष दृष्टिकोण से परमात्मा की ज्ञान, स्मृति और अपोहन

ये तीन शक्ति क्रियाएँ कही गयी हैं । स्मृति के रूप में जिस प्रकाश का उदय होता है उसे ज्ञान से भिन्न स्वीकार करने की सार्थकता है या नहीं इस सम्बन्ध में किसी-किसी के मन में प्रश्न उठ सकता है । उसका उत्तर यह है—ऐसी एक विचित्र स्थिति है जहाँ ज्ञानमात्र ही अनुभव है एवं अनुभवमात्र ही एक ओर से स्मृतिरूप में और दूसरी ओर से प्रत्यभिज्ञा के रूप में प्रतीत होता है। इस दृष्टिकोण से आत्मरूप ज्ञान का उदय होने पर ही उससे अनुबिद्ध अनन्त स्मृतियों का भी उदय होता है । भूल के राज्य में यह होना सम्भव नहीं है । किन्तु भूल के निवृत्त होने पर यह एक अत्यन्त साधारण सत्य के रूप में सभी के अनुभव गोचर होता है । ऐसी अवस्था शुद्ध मन की स्थिति के समय होती है, यह कहना अनावश्यक है । मनोराज्य का अतिक्रमण करने पर अर्थात् उन्मनी अवस्था में यह स्थिति भिन्न हो जाती है ।

२–संस्कार और मन

संस्कार कहने से भाव अथवा पदार्थ की एक सूक्ष्म छाप मालूम पड़ती है। यह छाप अन्तःकरण अथवा मन में रहती है । अनुभव या क्रिया दोनों ही विशेष अवस्था में चित्त में संस्कार पैदा करते हैं । इन संस्कारों में कितने ही उद्‌बुद्ध हो कर स्मृति पैदा करते हैं एवं दूसरे उठ कर हृदय में सुखदुःख-ज्ञान को उत्पन्न करते हैं । इसलिए योगी लोगों ने वासना और कर्माशय के भेद से इन सब संस्कारों को विभक्त किया है । किन्तु संस्कार चाहे जैसे भी क्यों न हों उनका उत्पत्तिस्थान और विकासस्थान अन्तःकरण ही है । क्योंकि आत्मा में किसी प्रकार के संस्कार नहीं रहते हैं एवं रह भी नहीं सकते । मन की अतीतावस्था में संस्कारों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । ये सब संस्कार अतीन्द्रिय हैं यानी इन्द्रियों के गोचर नहीं हैं, किन्तु योगी योगज संनिकर्ष के बल से जिस अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करते हैं उसके, ये सब संस्कार अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी, विषय होते हैं ।

३–एक में अनन्त और अनन्त में एक

प्रश्न होता है कि अनन्त में एक अथवा एक में अनन्त इन दो में से कौन पहले प्रकट होता है । इसके उत्तर में यही कहना बनता है कि अनन्तरूपों में अनन्त का आत्मप्रकाश होने पर एक का प्रकाश अवश्यम्भावी है, अर्थात् पृथक्-पृथक् रूप में अनन्त की दिशा समग्ररूप से ज्ञान की विषय होने पर स्वभावतः ही एक की दिशा

भी फिर प्रच्छन्न नहीं रह सकती। यह बात स्पष्ट रूप से व्यक्त हो उठती है। केवल नाना अथवा भेद का दर्शन करने पर ही अभेद का साक्षात्कार नहीं होता। किन्तु यह भेद दर्शन करते-करते यदि अनन्त में मन अवरुद्ध होता है अर्थात् सीमा प्राप्ति के अभाव से यदि भूमा हृदय में प्रकट होता है तब स्वभाव रूप से अनन्त ही जाग्रत् होता है एवं साथ ही साथ अनन्त में प्रतिष्ठित एक अखण्ड सत्ता प्रकाशमान होती है। वास्तव में अनन्त से जैसे एक का ज्ञान हो सकता है वैसे ही पक्षान्तर में एक के ज्ञान से भी अनन्त का आभास अभिव्यक्त हो उठना कुछ असम्भव नहीं है। साधक की अन्तःप्रवृत्ति और संस्कारों के तारतम्य से कोई अनन्त से एक को जानता है एवं कोई एक से अनन्त को जानने में समर्थ होता है। सारांश बात माँ ने संक्षेप में कही है 'एक और अनन्त पृथक् कहाँ है? एक में अनन्त है और अनन्त में एक है।'

४—साधक के जीवन में विभूति का स्थान

अध्यात्म जीवन के पथ पर साधक यदि ठीक तरह से चल सके तो उसे विभूति की प्राप्ति अवश्य ही होती है। अग्नि की जैसे दाहिका शक्ति है वैसे ही चित्स्वरूप आत्मा की चैतन्यमयी शक्ति नित्य विद्यमान है। अग्नि के प्राप्त होने पर जैसे ताप अथवा दाहिका शक्ति को पृथक् प्राप्त नहीं करना पड़ता वैसे ही शक्तिमान् के प्राप्त होते ही शक्ति भी आयत्त हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु साधक की स्थिति और लक्ष्य के अनुसार इस शक्ति के साथ सम्बन्ध नियमित होता है। जिस साधक का लक्ष्य अद्वैत है वह परम तत्त्व से पृथक् रूप में शक्ति को ग्रहण नहीं कर सकता, इसीलिए साधना से विभूति का उदय होने पर भी वह उसे ग्रहण नहीं करता। जिसका लक्ष्य एक में बँधा है वह कदापि नाना भाव में अपनी दृष्टि को विक्षिप्त नहीं होने देता। किन्तु जो साधक अद्वैत पथ पर न चल कर साकार और सगुण उपासना के पथ पर चलता है उसके जीवन में भी विभूति का उदय हो सकता है। किन्तु वह साधक विभूति की उपेक्षा नहीं करता। उपेक्षा न करने पर भी लौकिक पुरुष के तुल्य विभूति पा कर मोहित नहीं होता। वह विभूति को ग्रहण करता है सही, किन्तु 'तत्' भाव से ग्रहण करता है अर्थात् उसका कृपा अथवा स्वरूप शक्ति के रूप में आदर करता है, जागतिक ऐश्वर्य के रूप में नहीं। क्योंकि विभूतिमात्र ही इष्ट के आत्मप्रकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कर्म करने पर जैसे उसका फल उत्पन्न होता है वैसे ही ठीक मार्ग से साधना करने पर उसके प्रभाव से किसी न किसी प्रकार की विभूति का उदय अवश्य होता है।

एक का ही अनन्त रूपों में प्रकाश रहता है। इसीलिए माँ कहती हैं—'विभु की ओर लक्ष्य रहने पर विभूति का आविर्भाव स्वतः सिद्ध है।' विभूति का ग्रहण करने से द्वैतभाव में स्थिति होती है। इसीलिए अद्वैत-पथ में विभूति का ग्रहण नहीं बनता। किन्तु सगुण उपासक विभूति को ठीक रीति से ग्रहण करते हैं।

५—एक विचित्र स्थिति

अध्यात्म-जीवन में साधक को भिन्न-भिन्न प्रकार की अवस्थाओं के सम्मुख होना पड़ता है। साधकों की अधिकार-सम्पदाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए उनकी प्राप्ति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। एक अवस्था किसी-किसी साधक के जीवन में घटती है जिसकी घने अन्धकार के साथ तुलना की जा सकती है। उस अवस्था में द्वैत तो रहता ही नहीं, अद्वैत का भी कुछ बोध नहीं रहता—निज-बोध नहीं रहता, पर-बोध भी नहीं रहता। वह स्वयंप्रकाश अवस्था नहीं है, इसलिए वह जड़ता या गम्भीर लय की अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं है। वह चिन्मय अवस्था तो है ही नहीं, यहाँ तक कि आंशिक रूप से भी वह चिदालोक से प्रकाशित नहीं है। सांख्यों का प्रकृतिलय और तन्त्र की प्रलयाकाल अवस्था कुछ-कुछ अंशों में उस विचित्र अवस्था के तुल्य मानी जा सकती है। उस अवस्था में यदि कोई पड़ जाये तो उसे खोज कर बाहर निकालना कठिन है। उस स्थान में काल की कलन क्रिया न रहने से कर्मविपाक नहीं होता। वह घोर सुषुप्ति की समभावापन्न एक आतंकमय अवस्था है। वहाँ कर्म का फलभोग न हो सकने के कारण भोग के अन्त में उस अवस्था से व्युत्थान भी नहीं हो सकता। वहाँ कोई किसी को भी नहीं पहिचानता एवं स्वयं भी अपने को नहीं पहिचानता। काल या महाकाल के आवर्त से हो चाहे, अहैतुकी महाकरुणा के प्रभाव से हो, उस अवस्था से उद्धार होता है।

माँ ने इस प्रसंग में कहा है—'यह जो कहा गया कि सब जल कर एक हो गया उसे मानो खोजकर पाया नहीं जा सकता। एक होकर जो गया यहाँ एक अन्धकार है। स्वयंप्रकाश तो नहीं है चिन्मय राज्य में भी आता नहीं, यहाँ से कब व्युत्थित होगा यह कहा नहीं जा सकता।'

६—चिन्मय राज्य की विशिष्टता

प्राकृत राज्य त्रिगुणमयी प्रकृति का विकार है। यह जड़ और अचेतन है। इस राज्य में क्रम है, जो देश और काल के अन्दर पूर्वापर भाव से अपने को

प्रकट करता है, किन्तु चिन्मय राज्य में पूर्वापर भाव नहीं है। वह अप्राकृत भागवत धाम है। वहाँ केवल एक वस्तु है—एकमात्र वही है, द्वितीय कुछ नहीं है। 'तत्' हिसाब से और 'तत्' रूप से वहाँ विग्रह नित्य विद्यमान है। वह एकमात्र है इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु उस एक में नानात्व है, किन्तु वह लौकिक नानात्व नहीं है। जगत् में दुःख है, वहाँ भी उसके अनुरूप दुःख है, किन्तु यह दुःख रसमय विरह का ही एक रूप है। चिन्मय राज्य में विरह आनन्द का रूप धारण करके ही प्रकट होता है। केवल यही नहीं, यह विरह कभी समाप्त न होनेवाला है, क्योंकि विरह में ही तो प्रतिक्षण नूतन-नूतन प्रकाश होता है। नित्य नूतन लीला इस विरह का ही फल है। इसीलिए इस विरह का अन्त नहीं है, पूर्ण प्राप्ति के वक्षःस्थल में यह नित्य विरह जाग्रत् रहता है। स्थिति की दो दिशाएँ विचारशील मनुष्य के सम्मुख दीख पड़ती हैं, एक स्वयंरूप और दूसरी इस स्वयंरूप की विग्रह-रूप। पहली अव्यक्त है और दूसरी व्यक्त—दोनों ही नित्य हैं। नित्य धाम में यह अव्यक्त और व्यक्त दोनों ही अखण्ड प्रकाश से प्रकाशमय हैं। नित्य धाम इसी का दूसरा नाम है—यही नित्य वृन्दावन हृदय में सीमाहीन होकर प्रकाशित होने पर अप्राकृत नित्य वृन्दावन का रूप धारण करता है। इस अवस्था का उदय होने पर प्राकृत और अप्राकृत का भेद सदा के लिए मिट जाता है। तब समग्र विश्व ही उनके (भगवान् के)-स्वरूप के साथ अभिन्न होकर उनके लीला क्षेत्र नित्य वृन्दावन के रूप में व्यक्त हो उठता है। मनुष्य की आध्यात्मिक स्पृहा का यही चरम लक्ष्य है।



सत्ताईस

१–दीक्षा और उसका फल

दीक्षा और उसके फल के सम्बन्ध में माँ ने कहा है—"दीक्षा से बाहर भीतर तत्क्षण स्फुरण होता है। तुम्हारे भीतर सभी कुछ रहता है। केवल प्रकाश के लिए, बाहर-भीतर एक करने के लिए, स्थूल में कोई आकर कृपा कर गया। दीक्षा पाकर साधना द्वारा कोई सिद्ध हो गया। किसी को कुछ भी नहीं मिला, मर गया।"

माँ ने इन थोड़े से कई एक शब्दों द्वारा साधना का अत्यन्त गम्भीर रहस्य प्रकट किया है। दीक्षा के सम्बन्ध में पण्डितसमाज में विविध प्रकार की धारणाएँ दिखाई पड़ती हैं। इन सब धारणाओं के मूल में कितना सत्यांश है, यह आलोचना करके देखना चाहिए। कोई लोग कहते हैं दीक्षा के बिना जीव का पशुत्व निवृत्त नहीं होता एवं परामुक्ति सिद्ध नहीं होती। क्योंकि शास्त्र में लिखा है—

दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि।

लेकिन किसी-किसी मत में दीक्षा की आवश्यकता बिलकुल भी नहीं मानी गयी है। इन सब स्थलों में दीक्षा शब्द के पारिभाषिक अर्थ के तारतम्य से इस प्रकार का सैद्धान्तिक भेद लक्षित होता है। क्योंकि शास्त्र में किसी स्थल में दीक्षा शब्द का अर्थ शक्तिपात अर्थात् भगवदनुग्रह बतलाया गया है एवं अन्य किसी-किसी स्थान में भगवद्-अमुग्रह के लिए क्रिया विशेष को दीक्षा संज्ञा दी गयी है। वास्तव में दोनों में कुछ भी विरोध नहीं है। क्योंकि मूल में शक्तिपात न होने पर बाहरी क्रिया-विशेष के द्वारा मूल अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती। अद्वैत आगमशास्त्रानुसार अज्ञान पौरुष और बौद्ध भेद से दो प्रकार का है। उसी प्रकार ज्ञान भी पौरुष व बौद्ध भेद से दो प्रकार का है। पौरुष अज्ञान ही मूल अज्ञान है। अर्थात् जब पूर्ण अखण्ड सत्ता लीलावश स्वयं अखण्ड रह कर भी खण्डित-सी होती है अर्थात् अपनी पूर्ण शक्ति को संकुचित कर अपने को जीवरूप में प्रकाशित करती है, तब इस जीव का स्वरूपज्ञान अर्थात् "मैं परमेश्वर से अभिन्न हूँ"

यह ज्ञान तिरोहित हो जाता है। जिस अज्ञान से आत्मविस्मृति होती है वही पौरुष अज्ञान है अर्थात् भगवान् स्वेच्छा से सर्वज्ञ और स्वरूपज्ञ हो कर भी बहुत होने के लिए जिस अज्ञान द्वारा अपने को आवृत करते हैं वही पौरुष अज्ञान कहलाता है। वही भगवान् की निग्रहशक्ति अथवा तिरोधान शक्ति है जिसके द्वारा वे अपने को स्वयं आच्छन्न कर विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। इन अज्ञान की निवृत्ति योग, तपस्या, उपासना, साधना आदि उपायों से नहीं हो सकती। तभी निवृत्ति हो सकती है जब परमेश्वर स्वयं अपना आवरण अपसारित करें। यह अपसारण क्रिया उनकी अनुग्रह शक्ति की क्रिया कहलाती है। जो शिव हो कर भी स्वेच्छा से पशु का स्वांग धारण करते हैं वे फिर स्वेच्छा से ही पशुभाव को हटा कर पुनः अपने शिवमय स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। दोनों ही उनकी स्वतन्त्रता के खेल हैं। प्रश्न हो सकता है कि तब क्या साधना की कोई भी उपयोगिता नहीं है? इसका उत्तर है—उपयोगिता है एवं इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं है। साधना की सार्थकता उक्त आवरण की निवृत्ति में नहीं है, किन्तु बुद्धि में मूल अज्ञान के प्रतिबिम्ब रूप से जो अज्ञान भासमान है उस अज्ञान की निवृत्ति में है। इस अज्ञान को बौद्ध अज्ञान कहते हैं। मूल में यदि पौरुष अज्ञान न रहे तो बौद्ध अज्ञान हो ही नहीं सकता। आकाश में चन्द्रमा का उदय न होने पर सरोवर के स्वच्छ जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब कहाँ से आवेगा? पौरुष अज्ञान जागतिक दृष्टिकोण से अनादिकाल से विद्यमान है। बुद्धि प्रकृति का विकार है। इसीलिए देह-ग्रहण के समय जब बुद्धि अभिव्यक्त होती है तब उसमें वह अनादि काल का अज्ञान भी साथ ही साथ प्रतिबिम्बित होता है। यही ईसाई साधकों की Original Sin आदि कल्पना का मूल रहस्य है। जीव की दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह अज्ञान भी मूलरूप से ही प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में यह मूल अज्ञान नहीं है एवं बौद्ध ज्ञान के द्वारा अनायास ही उन्मूलित होने के योग्य है। योग, तपस्या, उपासना, व्रतचर्या तीर्थसेवन आदि सभी जीव की आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हैं, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु पौरुषअज्ञानकी निवृत्ति इन सब उपायों के ऊपर निर्भर नहीं है। मनुष्य मात्रही स्वरूपतः परमात्मा से अभिन्न है किन्तु परमात्मा की स्वतंत्रतावश उनसे कुछ भिन्न रूप में कल्पित है। कुछ लोग इस भिन्नता को लक्ष्य में रखकर परमात्मा और जीवात्मा में अंशांशिभाव की कल्पना करते हैं। जो भी हो, दीक्षा के सिवा किसी भी अन्य उपाय से उस पौरुष अज्ञान की निवृति नहीं हो सकती। यहाँ तक की स्वच्छ बुद्धि में आविर्भूत निर्मल

महाज्ञान के द्वारा भी उस अज्ञान का नाश नहीं होता। बौद्ध अज्ञान बौद्ध ज्ञान के द्वारा निवृत्त होता है। किन्तु उससे पहले भगवत्-अनुग्रह शक्ति के प्रभाव से दीक्षादि द्वारा पौरुष अज्ञान का निवृत्त होना आवश्यक है। पौरुष अज्ञान के निवृत्त होने पर इस बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के साथ ही साथ जीवन्मुक्ति का उदय हो सकता है। किन्तु यदि विशेष कारण से उपयुक्त साधनादि उपायों के अनुष्ठानादि की कमी से किसी में बौद्धज्ञान का आविर्भाव न हो, पर भगवत्कृपा से सद्गुरु-प्रदत्त दीक्षा के प्रभाव से उसके पौरुष अज्ञान की निवृत्ति हो जाये तब इस प्रकार के दीक्षित पुरुष को जीवन्मुक्ति की प्राप्ति न होने पर भी, देह का अन्त होने पर पूर्णत्व अथवा अखण्ड स्वरूप के साथ तादात्म्य लाभ अवश्य ही होता है, क्योंकि दीक्षा के प्रभाव से बुद्धि स्थित विघ्नबाधाओं के दूर होने के साथ पौरुष ज्ञान का उदय अवश्यम्भावी है। वर्तमान देह छूटने के साथ ही बुद्धि की सम्पूर्ण विघ्न-बाधाएँ निवृत्त हो जाती हैं। क्योंकि प्रारब्ध कर्म का फलभोग देह में अवस्थान काल तक ही होता है, उसके बाद नहीं होता।

पूर्वोक्त विवरण से समझ में आ जायेगा कि वास्तविक दीक्षा का महत्त्व है एवं साथ ही साथ यह भी समझ में आ जायेगा कि साधनादि की भी उपयोगिता है। दीक्षा का महत्त्व यह है कि यदि यथाविधि सद्गुरु द्वारा अनुष्ठित हो तो उससे पूर्णत्वप्राप्ति अवश्यम्भावी है। क्योंकि जो मल मायाशक्ति के प्रभाव से अपने पूर्ण स्वरूप का आच्छादन कर सकते हैं, दीक्षा के द्वारा वे सब मल हट जाते हैं। एकमात्र प्रारब्ध अवशिष्ट रहता है, जिसका शोधन भगवद्-इच्छा के विरुद्ध होने से जीव को भोग करना ही पड़ता है। बौद्ध ज्ञान के प्रभाव से, यहाँ तक कि 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप बौद्ध ज्ञान का उदय होने पर भी पूर्व प्रकार के पूर्णत्वलाभ रूप फल की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु साधना की उपयोगिता यही है कि उसके द्वारा बुद्धिगत विघ्नबाधाओं के अपसारित होने पर देह में स्थितिकाल में ही पूर्णता की अनुभूति हो सकती है। अर्थात् दीक्षा के प्रभाव से पूर्णत्व का उदय हो जाता है, किन्तु देहगत और बुद्धिगत मलिनता के कारण उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। साधना के प्रभाव से बौद्ध ज्ञान का उदय होने से बौद्ध अज्ञान के निवृत्त होने पर दीक्षा से प्राप्त पूर्णत्व अनुभव में आता है। इसलिए साधना का महत्त्व नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।

माँ ने जो कहा है कि दीक्षा के अनन्तर बाहर-भीतर उसी समय स्फुरण

होता है, यह सोलह आना सत्य है। क्योंकि पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर स्फुरण न हो यह कदापि सम्भव नहीं है। पौरुष अज्ञान से ही मनुष्य अपने को परमात्मा रूप में न देखकर अनन्त प्रकार के विभिन्न रूपों में देखता है। जब यह अज्ञान हट जाता है तब भीतर ही भीतर यह नानात्व मिट जाता है एवं अपने स्वकीय भाव या स्वभाव का स्फुरण हो जाता है। किन्तु स्फुरण होने पर भी सब लोग उसका अनुभव नहीं कर पाते। अनुभव न कर सकने के कारण बुद्धि में जड़ता और मलिनता रहती है। साधना, उपासना आदि के द्वारा चित्त शुद्ध होने पर उक्त अनुभव का स्फुरण अपने आप ही हो जाता है। माँ ने जो यह कहा है 'दीक्षा प्राप्त कर साधना द्वारा सम्भवतः कोई सिद्ध हुआ—किसी को सम्भवतः कुछ नहीं मिला और मर गया।' इसका तात्पर्य यह है कि दीक्षा के अनन्तर साधना द्वारा बौद्ध ज्ञान का उदय होने पर सिद्धि प्राप्त होती है। किन्तु जो साधना में निरत नहीं रहता अथवा जिसकी साधना भली-भाँति अनुष्ठित नहीं होती, उसका बौद्ध ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इसलिए उसे देह में स्थित रहते-रहते किसी प्रकार का अनुभव नहीं होता। इसीलिए उसने कुछ पाया नहीं यह बात कही गयी है। किन्तु साधना का अभाव अथवा उत्कर्ष का अभाव दीक्षा की सार्थकता में अन्तराय नहीं होता। क्योंकि मृत्यु के साथ ही साथ दीक्षा से प्राप्त अनावरण भाव की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु प्रश्न यह है कि दीक्षा को यथार्थ में पूर्ण अखण्ड के शक्तिपात से उत्पन्न व्यापार होना आवश्यक है। क्योंकि मूल में यदि अखण्ड की अनुग्रह शक्ति न रहे तो दीक्षा केवल एक बाहरी अनुष्ठानमात्र में परिणत होती है। उससे यथार्थ फल की प्राप्ति नहीं होती।

२—साधन-क्षेत्र में आत्म-तृप्ति का मुख्य विश्लेषण

मनुष्य को कभी-कभी अचिन्त्य कारणों से अपने में एक आकस्मिक तृप्ति-लाभ होता है। वह चाहे स्थूल में हो चाहे सूक्ष्म में। इस तृप्ति की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ जो आवश्यकताएँ उसे पहले विभिन्न कार्यों में प्रेरित करती थीं वे मिट जाती हैं। कोई-कोई इस तृप्ति को ही दीक्षादि अनुग्रह व्यापार का फल मानते हैं। किन्तु यह पूर्णतया सत्य नहीं है। क्योंकि यह तृप्ति यदि केवल तृप्ति के रूप में ही अपने को प्रकट करे एवं इसके साथ एक अचिन्त्य परमतत्त्व का स्पर्श प्रतीत न हो तो इसका महत्त्व बहुत अधिक नहीं है। आध्यात्मिक शास्त्र इस प्रकार की तृप्ति को 'तुष्टि' की संज्ञा देते हैं। वह साधन पथ में विघ्न स्वरूप है। लेकिन यह तृप्ति केवल तृप्ति न होकर वास्तविक सत्य का निदर्शन

हो तो ऐसी स्थिति में वह एक बहुमूल्य सम्पत्ति के रूप में परिगणित होने योग्य है। इसीलिए बहुधा किसी को तृप्तिलाभ होने पर भी उसे पूर्ण सत्य का स्पर्श प्राप्त हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सम्भव है, वह प्राप्त करने पर भी ठीक तरह से उसे पकड़ न सका हो अथवा स्पर्श प्राप्त न करने पर भी मैंने स्पर्श पा लिया ऐसा सोचता हो। मगर पहली अवस्था में इस प्रकार के संशय की सम्भावना रहने पर भी जब वह अवस्था धीरे-धीरे परिपक्वता को प्राप्त होती है तब सब संशय मिट जाते हैं एवं वह अपने को स्वयं पहिचान सकता है। इसीलिए माँ ने कहा है—'जो ग्रहीता हैं वे यदि एक बार विशुद्ध सोना हो जायें तो वे हो समय पर समझ लेंगे।' इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि एक बार शुद्ध सोना हुए बिना संशय रहना स्वाभाविक है। यह अपने सम्बन्ध में जैसे सत्य है, दूसरे के सम्बन्ध में भी वैसा ही सत्य है।

३–शक्ति-संचार और क्रिया-दीक्षा

पहले ही कहा जा चुका है कि गुरुशक्ति का संचार ही अर्थात् अखण्ड पूर्ण सत्ता की अनुग्रहशक्ति का संचार ही जीव की पूर्णत्वप्राप्ति का एकमात्र उपाय है। इस शक्तिसंचार के साथ-साथ बाह्य क्रिया-दीक्षा आवश्यक हो सकती है। लेकिन किसी-किसी स्थल में बाहरी क्रिया-दीक्षा की आवश्यकता नहीं भी हो सकती। खण्ड गुरु चाहे कितने ही बड़े क्यों न हों, वास्तविक गुरु नहीं हैं। क्योंकि अखण्ड गुरु की शक्ति उनमें संचारित न होने पर वे अखण्ड गुरु के साथ तादात्म्य प्राप्त नहीं कर सकते एवं जीव में शक्तिसंचार भी नहीं कर सकते। क्योंकि 'स्वयम् असिद्धः कथमन्यान् साधयेत्।' अर्थात् स्वयं सिद्ध हुए बिना दूसरे को सिद्धि का पथ दिखलाया नहीं जा सकता। दीक्षा दो प्रकार की है। तदनुसार अनुग्रहशक्ति का संचार भी दो प्रकार का है—एक निरधिकरण और दूसरा साधिकरण। अर्थात् जब श्रीभगवान् साक्षात् रूप से किसी के ऊपर कृपा करते हैं तथा अन्य किसी भी मनुष्य अथवा सिद्ध पुरुष या देवता आदि की मध्यस्थता की अपेक्षा नहीं रखते, तब उनके उस अनुग्रह को निरधिकरण अनुग्रह कहते हैं अर्थात् Immediate and direct grace. किन्तु जब किसी न किसी उच्चस्तर की देह को माध्यम बना कर अर्थात् उस देह का आश्रय कर कृपाशक्ति को संचारित करते हैं तब इस अनुग्रह प्रणाली को साधिकरण अनुग्रह कहते हैं। अनुग्रह की मात्रा अत्यन्त तीव्र होने पर मध्यस्थ पुरुष की आवश्यकता नहीं रहती। तीव्रता की पराकाष्ठा जब होती है तब साक्षात् रूप से वह शक्ति पतित होती है और जीव को एक ही

महाक्षण में शिवरूप में परिणत कर देती है। किन्तु अनुग्रह की मात्रा पहले की अपेक्षा कम होने पर वह शक्ति जीव के हृदय में अन्तर्यामी रूप से अपने को व्यक्त करती है। तब साधक के हृदय में प्रातिभ ज्ञान का उदय होता है। यह ज्ञान गुरु से अथवा शास्त्रों से प्राप्त नहीं होता। यह अपने हृदय में अपने आप अभिव्यक्त होता हैं। यह अनौपदेशिक ज्ञान है। योगी लोग इसे तारक ज्ञान कहते हैं। इससे भी एक ही मुहूर्त में अतीत, अनागत, वर्तमान, आन्तर और बाह्य सब पदार्थों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इसे higher intuintion कहा जा सकता है। इस स्थल में भी बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु अनुग्रह की मात्रा और भी न्यून होने पर तदनुसार विभिन्न स्तर के बाह्य गुरुओं की आवश्यकता होती है। इस संक्षिप्त विवरण से समझ में आ जायेगा कि बाह्य दीक्षा सर्वत्र ही आवश्यक हो ऐसी कोई बात नहीं है। हाँ, आधार अत्यन्त मलिन होने पर बाह्य दीक्षा की आवश्यकता होती है, यह सत्य है। सारांश बात माँ ने कही है—"भीतर में विशुद्ध प्रकाश होने पर फिर बाहर का अभाव नहीं रहता" अवश्य इस विशुद्ध प्रकाश के नाना प्रकार के लक्षण हैं।

४–जप-समर्पण

जप-समर्पण के सम्बन्ध में हमारे देश में शास्त्रानुगत प्रचलित जो प्रथा है, उसके हृदयंगम होने पर इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई संशय ही नहीं रह जाता। साधारणतः जिस वाक्य का उच्चारण कर अथवा स्मरण कर किये गये जप का समर्पण करना पड़ता है, उसका विश्लेषण करने से ज्ञात हो सकता है कि जापक के वृत्तिगत सिद्धिलाभ के लिए यह समर्पण-प्रणाली अत्यन्त अनुकूल है। विधिपूर्वक जपक्रिया का अनुष्ठान होने पर अनुष्ठाता के अन्तःकरण में एक शुद्ध तेज की अभिव्यक्ति होती है। उसे ब्रह्मवर्चस् कहा जा सकता है। वस्तुतः यह यथार्थ ब्रह्म-वर्चस् न होने पर भी उसका आभासमात्र है। यह सात्त्विक तेज देह और अन्तः-करण में व्याप्त रहता है। यही जप-क्रिया का फल है। इसे अपने में संचित न रख कर किसी विशिष्ट स्थान में सुरक्षित रखने के लिए अर्पण करना ही जप-समर्पण का उद्देश्य है। यह सुरक्षित स्थान इष्टदेव अथवा गुरुदेव के सिवा दूसरा कोई नहीं हो सकता। देहावच्छिन्न सत्ता के ऊपर निर्मल चिदाकाश में गुरु अथवा इष्ट के चरणों में कर्मफल का अर्पण करना उचित है। इसीलिए शास्त्रों में अर्पण की व्यवस्था है। अपने में संचित रखने से क्रियमाण कर्मों के द्वारा उसके नष्ट होने अथवा विकृत होने की आशंका रहती है, किन्तु शुद्ध स्थान में उसका अर्पण

होने से उस पर अपने कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ता। यह सात्त्विक तेज क्रमिक अर्पण से धीरे-धीरे बढ़ता है। वृद्धि की मात्रा के सोलह कला पूर्ण होने पर वह फिर गुप्त नहीं रह सकती। अपने को स्वयं प्रकाशित करती है। इसका आचार्यों ने मन्त्रसिद्धि की अवस्था के नाम से उल्लेख किया है। इसीलिए जप-समर्पण का वाक्य है, "सिद्धिर्भवतु मे देवि (वा देव)" इत्यादि। अवयवों की पूर्णांगीण वृद्धि हुए बिना सिद्धि नहीं होती एवं कर्मफल के क्रमशः सञ्चित होकर वृद्धि को प्राप्त हुए बिना पूर्णांगीण वृद्धि की सम्भावना नहीं रहती—अपने अपराध तथा असावधानता से अनर्पित तेज नष्ट हो जाता है और बहुत दिनों का परिश्रम व्यर्थ चला जाता है। इसीलिए दीर्घकाल तक तपस्या करके भी बहुधा सफलता प्राप्त नहीं होती। कितने दिनों तक यह समर्पण कार्य करना होगा, यह भी एक प्रकार से निश्चित ही है। अर्थात् जितने दिनों तक संचित तेज सोलहों कलाओं से पूर्ण नहीं होता तब तक संचय और संरक्षण दोनों आवश्यक हैं। मात्रा पूर्ण होने पर किसी को भी जिज्ञासा नहीं करनी पड़ती। भीतर की वस्तु अपने आप ही अभिव्यक्त हो कर बाहर आ जाती है। दस मास गर्भ में धारण कर माँ जैसे सन्तान को जन्म देती है, साधक की देह भी वैसे ही निर्दिष्ट समय तक साधन तेज को भीतर धारण कर रखती है। तदुपरान्त जब वह पूर्ण हो कर बाहर प्रकट होता है तब उसका साक्षात्कार होता है एवं वह सिद्धि के नाम से पुकारा जाता है। इसीलिए मन्त्रसमर्पण एक व्यर्थ का निर्मूल अनुष्ठान नहीं है। पर यह स्मरण रखना होगा कि यह समर्पण-क्रिया भावात्मक है, केवल बाह्य क्रिया-मात्र नहीं है। यदि कोई जप-समर्पण न भी करे, पर सद्गुरु नित्य जाग्रत् रूप से शिष्य से नियत शुभाकांक्षी रूप धारण कर पीछे लगे रहें तो वे वह संरक्षण करने का भार ग्रहण करते हैं। शिष्य बाहर से कुछ जान नहीं सकता। तब बाहर से जप का समर्पण न होने पर भी गुरु ही जप को सुरक्षित रखने का भार ग्रहण करते हैं।






श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ माँ
मातृ शरणं